''महाभारत के पंचरत्नों का समीक्षात्मक अध्ययन''

"PANCH-RATNAS OF MAHABHARAT A CRITICAL STUDY"

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की
पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध—प्रबन्ध

(कला संकाय)

शोध निर्देशिका
डॉ. अलका बागला
व्याख्याता, संस्कृत विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
झालावाड़ (राजस्थान)

शोधकर्त्री
श्रीमती इन्दुबाला शर्मा

संस्कृत विभाग
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा
2016

कोटा विश्वविद्यालय
कोटा

UNIVERSITY OF KOTA
KOTA

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती इन्दुबाला शर्मा ने प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध ''**महाभारत के पंचरत्नों का समीक्षात्मक अध्ययन**'' मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। इनका शोध–कार्य मौलिक, अप्रकाशित एवं स्तरीय है। मैं इस शोध–प्रबन्ध को कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की पीएच.डी. (संस्कृत) उपाधि–हेतु प्रस्तुत करने की सहर्ष अनुमति प्रदान करती हूँ।

दिनाङ्क :

स्थान :

शोध निर्देशिका

डॉ. अलका बागला
व्याख्याता, संस्कृत विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
झालावाड़ (राजस्थान)

घोषणा–पत्र

मैं घोषणा करती हूँ कि पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध कार्य ''**महाभारत के पंचरत्नों का समीक्षात्मक अध्ययन**'' मेरे मौलिक प्रयासों का प्रतिफल है तथा यह किसी पूर्व सम्पन्न शोध का अंश नहीं है।

दिनाङ्क :

शोधकर्त्री

श्रीमती इन्दुबाला शर्मा

प्राक्कथन

'जगद्गुरु' के नाम से विश्व में जिस प्रकार भारत विख्यात है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृत भाषा भी विश्व की समस्त भाषाओं को जन्म देने वाली माता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस संस्कृत भाषा ने ही भारतीय नागरिकों को अपनी संस्कृति से संस्कारित करके अधिक से अधिक ज्ञानी-विज्ञानी, शूर-वीर, महात्मा, सन्त-महन्त इत्यादि के रूप में तेजस्वी यशस्वी और ओजस्वी पुरुषार्थी बनाया है। इन दिव्य ज्ञानी आत्माओं ने ही अविस्मरणीय अकल्पनीय अनुपम संस्कृत-साहित्य की सर्जना करके भारत को विश्व साहित्य में सम्माननीय एवं पूजनीय स्थान प्रदान करवाया है।

इसी भारत-वसुन्धरा पर देवता उपयुक्त अवसर देखकर दुष्टों के दलनार्थ और सज्जनों के सुरक्षणार्थ अवतीर्ण होने के लिये सदा ही लालायित रहते हैं, जैसा कि कहा गया यह वचन विश्व-विदित है -

''गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग-भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥''

ज्ञान-विज्ञान से युक्त वेद, उपनिषद्, रामायण, पुराण, महाभारत, गीता, एवं स्मृति आदि शास्त्र सभी दिव्य देववाणी संस्कृत में विरचित हैं। इन शास्त्रों में सुरक्षित ज्ञान विज्ञान संस्कृत भाषा के पर्याप्त ज्ञान के अभाव में कभी भी किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता।

मनुस्मृतिकार ने संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता भारतीय अग्रजन्मा को अपने आचरण के द्वारा चारित्रिक शिक्षा देने में पूर्ण समर्थ मानकर ही तो मानवमात्र को अपने-अपने चरित्र की शिक्षा इससे ग्रहण करने के लिये परामर्श दिया है कि -

''एतद्-देश-प्रसूतस्य, सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्व-मानवाः॥''[२]

अर्थात् पृथ्वी पर उत्पन्न समस्त मानवों को अपने अपने चरित्र की शिक्षा इस भारत वर्ष देश में उत्पन्न अग्रजन्मा ब्राह्मण से लेनी चाहिये। समय-समय पर अद्वितीय विद्वान्, महान् कवि और साहित्यकारों ने भी इस भारत भूमि में जन्म लिया है-जिनका साहित्य ही उनके ज्ञान-वैभव का प्रत्यक्ष प्रबल प्रमाण है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, अश्वघोष, दण्डी, बाण, सुबन्धु, भारवि, माघ, भवभूति आदि संस्कृत के महान गौरव को बढ़ाने वाली विभूतियों से कौन परिचित नहीं है?

संस्कृत भाषा अजर है, अमर है। इसमें लिखा साहित्य भी वैसा ही हो जाता है। इसके उपासकों में भी यशः-शरीर से वैसी ही अजरता, अमरता उत्पन्न हो जाती है। इसके सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति कभी मानसिक दृष्टि से प्रदूषित नहीं होता है। वह इतना स्वार्थी नहीं बनता है कि अपने स्वार्थ के लिये दूसरे को किसी प्रकार से हानि पहुँचाये। सदाचारिता का धनी वह कभी ऐसा कुकर्म नहीं करता जो उसको कलङ्कित करे। परायी वस्तु उसकी दृष्टि में मिट्टी के ढेले

के समान तुच्छ, परायी स्त्री माता के सदृश पूजनीय और सभी प्राणी आत्मवत् होते हैं। ऐसे आचरण वालों को ही महापुरुषों ने 'पण्डित' बताया है, जैसा कि प्रसिद्ध है–

मातृवत् पर-दारेषु, पर-द्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति सः पण्डितः॥

संस्कृत-साहित्य महान् है। काव्य भी उसकी एक विधा में माना गया है। यह गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और चम्पूकाव्य इन तीनों में विभक्त है। छन्दोबद्ध रचना पद्यकाव्य में, छन्दोरहित रचना गद्यकाव्य में और गद्य-पद्य-मिश्रित रचना चम्पू-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती है। यह काव्य पुनः दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य के रूप में विभक्त है। नाटक दृश्य-काव्य में ही माने जाते हैं। इनका प्रभाव जितना दर्शक पर द्रुत गति से होता है उतना श्रव्य-काव्यों से नहीं। कारण स्पष्ट है। मञ्च पर अभिनेता के आङ्गिक और वाचिक अभिनय को दर्शक के नेत्र और श्रोत्र जहाँ ग्रहण करते हैं, वहाँ उसकी बुद्धि उसके विषय को आत्मसात् कर लेती है। दर्शक कभी-कभी तो इतना दत्तचित्त हो जाता है कि वह अपने आपको ही अभिनेता मान लेता है और ऐसे समय जो उसे रस की (आनन्द की) अनुभूति होती है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। साहित्याचार्यों ने इस आनन्द को '**ब्रह्मानन्द-सहोदर**' की संज्ञा दी है।

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा सनातन धर्म का एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नों का भण्डार है। यह भारतीय लौकिक साहित्य में वाल्मीकीय रामायण की परवर्ती द्वितीय रचना है। रामायण तथा महाभारत न केवल विशालकाय आर्षकाव्य है अपितु वे हमारे प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महाभारत में भारतीय जीवन शैली की समग्र और यथार्थ प्रस्तुति मिलती है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों, विचारधाराओं परम्पराओं तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की प्रचुर सामग्री संग्रहीत है। महाभारत केवल अपने रचनाकाल के जीवन मूल्यों और घटनाओं का ही निदर्शन नहीं कराता अपितु यह आधुनिक युग के जीवन मूल्यों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना पहले था और भविष्य में भी उतना होगा। यह न केवल प्राचीन संस्कृत महाकवियों को अपितु आज के अनेक भाषाओं के रचनाकारों को काव्य सृष्टि हेतु निरन्तर आकृष्ट कर रहा है। इसकी उपजीव्यता व्यक्त करते हुए स्वयं महर्षि व्यास का कथन है –

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।

महर्षि व्यास ने इसके महत्त्व और आकार-गौरव के कारण ही इसे 'महाभारत' कहा है, यथा – **महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।** विद्वानों ने महाभारत को एशिया भूखण्ड की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड स्वीकार किया है, जो संस्कारवान् मनुष्य सभी अङ्गों सहित चारों वेदों और उपनिषदों को अच्छी तरह जानता हो किन्तु महाभारत को नहीं जानता, उसे विद्वान् (विचक्षण) नहीं कहा जा सकता । महाभारत इतिहास तथा काव्य होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी है। इसी कारण इसे मानव जीवन अथ च प्राणिमात्र अथवा चराचर

जीव-जगत् का समग्र शास्त्र माना गया है। महर्षि वेद व्यास का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि जो इस महाभारत में है, वह अन्यत्र भी है किन्तु जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है -

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।

महर्षि वेद व्यास द्वारा विरचित 'पंचम वेद' की मान्यता वाला यह विशाल ग्रन्थ 'कार्ष्णवेद' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।

शोध विषय का उद्देश्य

वैष्णवधर्म के परवर्ती विकास में भी महाभारत एवं शान्तिपर्व की अद्वितीय भूमिका थी क्योंकि राम और कृष्ण के रूप में विष्णु की निश्चित और साकार अवधारणा और 'सर्वशक्तिमान ईश्वर' के रूप में उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा शान्तिपर्व की विषय वस्तु में ही अधिक व्यवस्थित रूप में देखने को मिलती है। यद्यपि महाभारत में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक-नैतिक पक्षो का आंशिक अध्ययन अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है किन्तु महाभारत के प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की सम्यक विवेचना अभी बाकी है। वर्तमान शोध का लक्ष्य वैदिक एवं अवैदिक पृष्ठभूमि में 'महाभारत' की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन है। महाभारत में जहाँ एक ओर जनजातीय वर्ण विभाजित एवं राज्य पर आधारित समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्म एवं दर्शन की विविध धारायें भी विद्यमान है। वर्तमान शोध का लक्ष्य महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की विवेचना है जिसमें वैदिक-अवैदिक एवं आस्तिक-नास्तिक दोनों धारायें सम्मिलित है। इनमें गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णु सहस्त्रनाम एवं गजेन्द्रमोक्ष जैसे दर्शन सम्मिलित हैं। भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग की अवधारणा पर तो विचार हुआ है परन्तु इस शोध-प्रबन्ध के अध्यायों में समाजशास्त्र के जिन विषयों को लिया गया है, उन पर अपेक्षाकृत कम ही कार्य हुआ है। इस प्रकार नए विषयों को उद्घाटित करते हुए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निम्नलिखित उद्देश्य होंगे-

- शोध-प्रबन्ध में पंचरत्नों के यथासंभव सुनियोजित एवं तार्किक और अनुसंधात्मक स्वरूप को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।
- पंचरत्नों में भारतीय धर्म, दर्शन एवं भक्ति का व्यापक आधार पर आख्यान प्रस्तुत किया गया है।
- श्रीमद्भगवद्गीता के परिप्रेक्ष्य में अनुगीता के विषयों का विश्लेषण किया गया है।
- विष्णुसहस्त्रनामों का यथासंभव विश्लेषण किया गया है।
- श्रीमद्भागवद्गीता के साथ ही भीष्मस्तवराज तथा गजेन्द्र मोक्ष की भक्ति सम्प्रदाय में उपजीव्यता को प्रमाणित किया गया है।
- प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में पंचरत्नों की जनोपयोगिता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य के क्रमिक विकास में महाभारत का विशेष महत्त्व एवं योगदान का भी उल्लेख किया गया है।

शोध कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उपसंहार-सहित आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रथम अध्याय **'महाभारत के पंचरत्नों का परिचय'** है। यद्यपि महाभारत के सभी विषयों का विद्वानों द्वारा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, भगवद्गीता के अध्ययन पर विश्व साहित्य में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है परन्तु महाभारत के पंचरत्नों का समन्वित अध्ययन आज तक नहीं हुआ है इनका अध्ययन भक्ति के विकास की दृष्टि से निष्काम कर्मयोग एवं ज्ञान योग की दृष्टि से सामाजिक अवधारणाओं की दृष्टि से तथा दार्शनिक दृष्टि से अपने आप में एक महत्वपूर्ण अवदान है। गजेन्द्र मोक्ष की कथा ने भारतीय लोक जीवन में जिस प्रकार प्रवेश किया है वह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। भारतीय नारियों ने इस गजेन्द्र मोक्ष को अपने भजनों एवं गीतों में समावेशित किया है। आर्त भक्त की दृष्टि से इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवद्गीता ने तो भक्तों के केवल चार विभाग ही प्रस्तुत किए हैं परन्तु इन पंचरत्नों में गजेन्द्र (गजराज), आर्तभक्तों के प्रतिनिधि हैं इसी प्रकार से भीष्मस्वतराज में भीष्म को हम ज्ञानी भक्त का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इन दोनों प्रकार के भक्तों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

शोध-प्रबन्ध में द्वितीय अध्याय **'पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन'** है। यद्यपि पंचरत्नों में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक-नैतिक पक्षो का आंशिक अध्ययन अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है किन्तु महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की सम्यक विवेचना नहीं की गयी है। वर्तमान शोध का लक्ष्य वैदिक एवं अवैदिक पृष्ठभूमि में 'महाभारत' की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन है। महाभारत में जहाँ एक ओर जनजातीय वर्ण विभाजित एवं राज्य पर आधारित समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्म एवं दर्शन की विविध धारायें भी विद्यमान है। वर्तमान शोध का लक्ष्य महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की विवेचना है जिसमें वैदिक-अवैदिक एवं आस्तिक-नास्तिक दोनों धारायें सम्मिलित है। इनमें गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णु सहस्त्रनाम एवं गजेन्द्रमोक्ष का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया हैं।

शोध-प्रबन्ध में तृतीय अध्याय **'पंचरत्नों का भक्तिशास्त्रीय विश्लेषण'** है। भगवान पर अनन्य प्रेम का नाम ही है भक्ति। प्रेम की पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्ति का पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जाय और भक्त की सारी द्वैतभावना लुप्त हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते- सारी क्रिया करते हुए सभी अवस्थाओं में भक्त जब भगवान् के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अन्तर्गत मानव जीवन का परम लक्ष्य संसार के दुःखों से मुक्ति पाना माना गया है, इसी का नाम मोक्ष है। इस लक्ष्य को पाने के लिए भारतीय मनीषियों व चिन्तकों ने समय-समय पर विभिन्न मार्गों का प्रतिपादन किया है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कभी इसी भाव को पञ्चदशी में माधवाचार्य विधारण्य ने भी अभिव्यक्त किया है। ज्ञान का स्वर भारतीय जीवन के लक्ष्याकाश में बहुविध प्रतिध्वनित हुआ है तो कभी भक्ति मार्ग को प्रशस्त कहकर भारतीय मनीषा को अपार सुख की अनुभूति हुई है।

शोध-प्रबन्ध में चतुर्थ अध्याय '**स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से पंचरत्नों का मूल्यांकन**' है। महाभारत भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्व साहित्य का एक अद्भुत ग्रन्थ है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता, लोकप्रियता आदि की दृष्टि से यह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। एक लाख श्लोकों की संख्या के कारण यह शतसाहस्री संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। आकार की विशालता और विषयों के महत्त्व दोनों ने इसे 'महाभारत' का नाम दिया। लगभग दो हजार वर्ष से भारतीय जनता इसे वेद के समान पवित्र और धर्मशास्त्रों के समान प्रामाणिक मानती रही है। आकार की विशालता भी उसके गौरव का एक कारण है। विषयों की महत्ता इस विशालता को अधिक गौरवपूर्ण बना देती है।

शोध-प्रबन्ध में पञ्चम अध्याय '**समाजशास्त्रीय दृष्टि से पंचरत्नों का विश्लेषण**' है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अत: मानव जीवन में सामाजिक विज्ञान का विशेष महत्व है। इसके द्वारा पारिवारिक, धार्मिक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन को उत्तम बनाया जा सकता है तथा यह विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में भी सहायक है। सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है फिर भी इसके प्रमुख क्षेत्रों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -(1) समाज व्यवस्था - इसमें समाज की वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा पद्धति, सामाजिक परिस्थितियों आदि का अध्ययन किया जाता है। (2) धर्म व्यवस्था - इसमें दान, पूजा, देवता, श्राद्ध आदि का अध्ययन किया जाता है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मनुष्य' है अत: यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज में मनुष्य के महत्त्व को निर्धारित करते हुए सामाजिक विज्ञान की नींव डाली है। महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था के रूप में दान, संस्कार, देवपूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है।

शोध-प्रबन्ध में षष्ठ अध्याय '**पंचरत्नों की सामयिक उपयोगिता**' है। भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन तथा विशाल है। इसे धार्मिक आचार-विचारों, परम्पराओं तथा संस्कृति का आधार माना गया है। विश्व साहित्य में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ 'महाभारत' को भारतीय मनीषा की अद्भुत अभिव्यक्ति माना जाता है। इस महाकाव्य के रचनाकार 'महर्षि वेदव्यास' सर्वातिशायी तथा अद्भुत प्रतिभा के धनी प्रतीत होते हैं। कौरव-पाण्डवों के जीवन वृतान्त तथा महाभारत युद्ध की गाथा ही इस महाकाव्य का मूल कथानक है, परन्तु महर्षि व्यास ने इसमें अनेक आख्यानों, उपाख्यानों, ऋषि कथाओं, राजधर्म के कर्तव्यों, मोक्ष सम्बन्धी तत्वज्ञान तथा मानव जीवन से सम्बन्धित रहस्यों का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अनेक शास्त्रों से सम्पृक्त ऐसा महाकाव्य है जो समस्त सांसारिक घटनाओं को अपने में समेटे हुए है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों जैसे

– महाभारत, मनुस्मृति, वेद आदि को सिद्ध उपदेश देने वाला माना जाता है। अत: इन सभी का खण्डन तर्क की कसौटी पर करना अनुचित है। इस सन्दर्भ में स्वयं महर्षि व्यास का कथन है। महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विषयों का आश्चर्यजनक और विस्तृत वर्णन किया है। इसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर समाज में वैज्ञानिक, आर्थिक तथा वैचारिक जागृति के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन प्रारम्भ हुए वहीं दूसरी ओर कुछ स्वार्थी, लोभी तथा अनाचारी व्यक्तियों के दुराचार के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास आदि अवैध कार्य भी किये जाने लगे। अत: तत्कालीन समाज का दर्पण महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सप्तम अध्याय **'पंचरत्नों का साहित्यिक मूल्यांकन'** है। साहित्य की विविध विधाओं में काव्य नामक विधा की रचना कवि के आन्तरिक भावों तथा संवेगों के प्रस्फुटित होने और बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप होती है। काव्य की रचना के लिए हृदयगत भावों का प्रस्फुटित होना, विषयगत सामग्रियों की उपस्थिति, भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ परिष्कृत भाषा, विषय को प्रतिपादित करने के लिए कवि की प्रवृत्ति आदि इन सभी तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। भारतीय साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। प्राचीन काल से काव्य–स्वरूप की चिन्तन धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रही है। अत: प्राचीन विद्वानों के सतत् प्रयास के फलस्वरूप 'काव्य शास्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ है। इस शास्त्र के द्वारा काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों का अध्ययन किया जाता है।

'शास्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काव्यशास्त्र काव्य का नियमन करने वाला है। काव्य को कैसा होना चाहिए, कैसा नहीं होना चाहिए, कौन–सा–काव्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल है और कौन सफल नहीं है ? इत्यादि अनेक बातों की कसौटी है–'काव्यशास्त्र'। काव्यशास्त्र ही काव्य की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का नियामक तथा अनेक कवियों–महाकवियों के काव्यों में तारतम्य का प्रतिपादक है। इसी से उत्तम–मध्यम आदि वर्गीकरण भी बनते हैं। काव्य है–शब्द एवं अर्थ का सहभाव। भारतीय दर्शन के प्रभाव से अछूते न रह सकने के कारण आत्मा एवं शरीर की कल्पना के प्रभाव से उत्कर्षक तथा अपकर्षक सभी प्रकार के तत्त्वों में गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि तथा अपकर्षक तत्त्व के रूप में दोष आदि की कल्पना की गयी है। आत्मतत्त्व अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि एवं रस आदि माने गये हैं, जिनके कारण भारतीय काव्यशास्त्र अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होता है। इस नियम के अनुसार पूर्व की अपेक्षा पर सिद्धान्त बलवत्तर होते है – यह विकासवादी सिद्धान्तों की परम्परा है। अत: आधुनिक काल में रस ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में अंतिम अध्याय **'उपसंहार'** है। इसमें परम्परागत आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के अतिरिक्त महाभारत में श्रीमद्भगवद गीता, विष्णु सहस्त्रनाम्, अनुगीता, भीष्मस्तवराज दर्शन, गजेन्द्र मोक्ष जैसे दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इनमें गीता उपनिषदों का सार है जिसमें ज्ञान योग, भक्ति योग एवं कर्मयोग का समन्वय किया गया है। विष्णु सहस्त्रनाम्, अनुगीता, भीष्मस्तवराज और गजेन्द्र मोक्ष किसी न किसी रूप में उपनिषद एवं गीता की धाराओं से जुड़े हुये हैं और वैष्णव दर्शन का प्रतिपादन करते हैं।

आभार

पाँच वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् यह मधुर एवं सुखद बेला उपस्थित हुई कि मैं अल्पबुद्धि अपनी सुषुप्त अभिलाषा को गुरुदेव की वर्णनातीत अनुकम्पा के फलस्वरूप साकार कर सकी। आज कृतज्ञता के अपरिमित शब्दों द्वारा मैं उन महानुभावों की वन्दना करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ जिनके आशीर्वाद, सहयोग एवं प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरी पूज्यागुरु '**डॉ. अलका बागला**' व्याख्याता, संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज.) के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। आपकी अहर्निश प्रेरणा, उत्साहवर्धन, महती सहायता तथा ज्ञानज्योति ने मेरे पथ को पदे-पदे आलोकित किया है। आपने समय-समय पर अपने व्यस्त क्षणों के मध्य पर्याप्त समय देकर विद्वत्तापूर्ण सुझाव देते हुए इस शोध-प्रबन्ध में अपेक्षित आवश्यक परिमार्जन कराया है। यदि आपका यह महत्त्वपूर्ण स्नेहपूर्ण अमूल्य सहयोग और मार्गदर्शन प्राप्त न होता तो इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण होने का मेरा स्वप्न कभी साकार नहीं होता। अतः मैं परम श्रद्धेया गुरु के श्री चरणों में सादर नमन करती हूँ तथा कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हूँ- जिन्होंने मुझे सहृदयतापूर्वक सहयोग प्रदान किया।

मैं सेवा निवृत्त संस्कृत विभागाध्यक्ष श्री लक्ष्मी नारायण शर्मा, श्रीमती विमला शर्मा, सेवा निवृत्त संस्कृत विभागाध्यक्ष, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, श्री लखन शर्मा, (अभियंता, राजस्थान राज्य विद्युत प्रसारण निगम) एवं अन्य सभी सम्मानीय गुरुजनों के प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित एवं मार्गदर्शित किया।

पूज्य मातामह स्वर्गीय श्री रामचन्द्रजी एवं मातामही श्रीमती दाखा बाई के पुण्य स्मरण में उनके श्री चरणों में कोटि-कोटि नमन करते हुए इस शोध-प्रबन्ध को उनके श्री चरणों में समर्पित करती हूँ।

पूज्य पिताजी श्री हरिमोहन शर्मा व वात्सल्य की साक्षात प्रतिमूर्ति माताजी श्रीमती मोहिनी शर्मा के चरण कमलों का आशीष मेरी प्रेरणा शक्ति है, उनके आशीर्वाद, सम्बल एवं प्रेरणा से ही मैं इस स्थान तक पहुँच सकी। जहाँ एक तरफ मेरी पूज्या माँ के त्याग, उदारता, उत्तरदायित्व ने मेरे जीवन का निर्माण किया, वहीं दूसरी ओर पिताजी की कर्मठशीलता व संस्कारों ने जीवन का पाठ पढ़ाया। ऐसे मेरे माता-पिता की मैं युगों-युगों तक ऋणी रहूँगी।

मेरे श्वसुर श्री बृजराज गौतम (सेवा निवृत्त प्रधानाध्यापक) एवं मेरी सास श्रीमती शान्ता गौतम के स्नेह एवं शुभ आशीर्वाद से इस शोध कार्य को निर्विघ्न रूप से परिपूर्ण करने में समर्थ हुई अतः मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में मेरे पति श्री अजय गौतम का सहयोग अत्यंत सराहनीय रहा, जिन्होंने मेरी व्यस्तताओं को समझते हुए सतत् प्रोत्साहित कर मेरा उत्सावर्धन किया। मैं उनके स्वास्थ्य एवं सुखद भविष्य की कामना करती हूँ। उनके सहयोग के बिना इस कार्य को पूर्ण करना कल्पना मात्र था।

मैं अपनी स्नेहमयी बहनों श्रीमती गीतांजलि शर्मा, रजनी बाला शर्मा, श्रीमती रेखा शर्मा व अनुज शैलेन्द्र शर्मा व भाभी मंजू शर्मा की भी यथोचित सहयोग के लिए आभारी हूँ।

मैं भ्राता सदृश श्री अंजनी शर्मा, श्री गोविन्द शर्मा एवं डॉ. दीपक पंचोली का यथोचित सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूँ।

मानव को अपने जीवन में अनेक बार अजनबी राहों पर ऐसे सहयोगी मिलते हैं जो राह को सुगम बना देते हैं, ऐसी बहिन तुल्य डॉ. नीता पारेख, डॉ. शिविका सक्सेना, डॉ. अंजलि शर्मा का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस शोध कार्य के लिए मुझे स्नेहपूर्ण आत्मीयता से उत्प्रेरणा दी।

संस्कृत वाङ्मय के प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत के पंचरत्नों पर किया गया यह शोध-प्रबन्ध एक पिपलिका प्रयासवत है। यदि फिर भी मानवीय त्रुटियाँ रह गयी हों तो उन त्रुटियों के लिए मैं यही निवेदन करती हूँ कि -

''गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
संशोधयन्ति तत् सन्तः, समाधानोत्कचेतसः।।''

अन्त में उस परम शक्तिमान्, अगोचर एवं अजन्मा प्रभु को कोटिशः नमन करती हूँ जिसकी अनुकम्पा ने मुझे इस कार्य को पूर्ण करने की शक्ति एवं सामर्थ्य प्रदान किया है। वस्तुतः अनेक सांसारिक साधनों के सुलभ होने पर भी यदि ईश-कृपा का अभाव हो तो किसी भी कार्य का पूर्णरूपेण सफल होना असम्भव ही है। अतः मैं अकिञ्चन उस शक्तिमान् सर्वव्यापक ईश्वर को कोटि-कोटि नमन करती हूँ।

विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत इस शोध-प्रबन्ध के रूप में मेरी यह प्रथम विनम्र प्रयास है। इस शोध कार्य से संस्कृत-वाङ्मय के क्षेत्र में किञ्चित् योगदान भी मिल सका तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूँगी।

श्रीमती इन्दुबाला शर्मा

विषयानुक्रमणिका

		पृ.सं.
प्राक्कथन		i-vi
आभार		vii-viii
प्रथम अध्याय –	**महाभारत के पंचरत्नों का परिचय**	**1–47**
	♦ श्रीमद्भगवद्गीता	
	♦ अनुगीता	
	♦ भीष्मस्तवराज	
	♦ गजेन्द्रमोक्ष	
	♦ विष्णुसहस्त्रनाम्	
द्वितीय अध्याय –	**पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन**	**48–84**
तृतीय अध्याय –	**पंचरत्नों का भक्तिशास्त्रीय विश्लेषण**	**85–114**
	♦ महाभारत में भक्ति का स्वरूप	
	♦ गजेन्द्र मोक्ष में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का स्वरूप	
चतुर्थ अध्याय –	**स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से पंचरत्नों का मूल्यांकन**	**115–147**
पंचम अध्याय –	**समाजशास्त्रीय दृष्टि से पंचरत्नों का विश्लेषण**	**148–186**
षष्ठ अध्याय –	**पंचरत्नों की सामयिक उपयोगिता**	**187–240**
	♦ सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में	
	♦ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में	
	♦ राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में	
	♦ लोक जीवन, धर्म और अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में	
	♦ पर्यावरण एवं मनोविश्लेषण की दृष्टि से	
सप्तम अध्याय –	**पंचरत्नों का साहित्यिक मूल्यांकन**	**241–279**
	♦ काव्य शास्त्र-सामान्य परिचय	
	♦ काव्य-रचना का प्रारम्भिक युग	
	♦ लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना का प्रारम्भ	
	♦ काव्य प्रयोजन	
	♦ काव्य हेतु	
	♦ रस	
	♦ गुण व अलङ्कार	
	♦ ध्वनि	
	♦ रीति	
अष्टम अध्याय –	**उपसंहार**	**280–306**
	सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका	**307–312**

प्रथम अध्याय

महाभारत के पंचरत्नों का परिचय

- श्रीमद्भगवद्गीता
- अनुगीता
- भीष्मस्तवराज
- गजेन्द्रमोक्ष
- विष्णुसहस्त्रनाम्

द्वितीय अध्याय

पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय

पंचरत्नों का भक्तिशास्त्रीय विश्लेषण

- महाभारत में भक्ति का स्वरूप
- गजेन्द्र मोक्ष में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का स्वरूप

चतुर्थ अध्याय

स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से पंचरत्नों का मूल्यांकन

पंचम अध्याय

समाजशास्त्रीय दृष्टि से पंचरत्नों का विश्लेषण

षष्ठ अध्याय

पंचरत्नों की सामयिक उपयोगिता

- सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में
- सामाजिक परिप्रेक्ष्य में
- राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में
- लोक जीवन, धर्म और अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में
- पर्यावरण एवं मनोविश्लेषण की दृष्टि से

सप्तम अध्याय

पंचरत्नों का साहित्यिक मूल्यांकन

- काव्य शास्त्र-सामान्य परिचय
- काव्य-रचना का प्रारम्भिक युग
- लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना का प्रारम्भ
- काव्य प्रयोजन
- काव्य हेतु
- रस
- गुण व अलङ्कार
- ध्वनि

अष्टम अध्याय

उपसंहार

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका

अष्टम अध्याय

उपसंहार

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा सनातन धर्म का एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नों का भण्डार है। यह भारतीय लौकिक साहित्य में वाल्मीकीय रामायण की परवर्ती द्वितीय रचना है। रामायण तथा महाभारत न केवल विशालकाय आर्षकाव्य है अपितु वे हमारे प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महाभारत में भारतीय जीवन शैली की समग्र और यथार्थ प्रस्तुति मिलती है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों, विचारधाराओं परज़्पराओं तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की प्रचुर सामग्री संग्रहीत है। महाभारत केवल अपने रचनाकाल के जीवन मूल्यों और घटनाओं का ही निदर्शन नहीं कराता अपितु यह आधुनिक युग के जीवन मूल्यों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना पहले था और भविष्य में भी उतना होगा। यह न केवल प्राचीन संस्कृत महाकवियों को अपितु आज भी अनेक भाषाओं के रचनाकारों को काव्य सृष्टि हेतु निरन्तर आकृष्ट कर रहा है। इसकी उपजीव्यता व्यक्त करते हुए स्वयं महर्षि व्यास का कथन है -

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। - महाभारत, आदिपर्व, 2.385

सर्वेषां कविमुज़्यानामुपजीव्यो भविष्यति।

पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।। - महाभारत, आदिपर्व, वही, 1.92

महर्षि व्यास ने इसके महत्त्व, आकार और गौरव के कारण ही इसे 'महाभारत' कहा है, यथा - **महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।** विद्वानों ने महाभारत को एशिया भूखण्ड की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड स्वीकार किया है, जो संस्कारवान् मनुष्य सभी अङ्गों सहित चारों वेदों और उपनिषदों को अच्छी तरह जानता हो किन्तु महाभारत को नहीं जानता, उसे विद्वान् (विचक्षण) नहीं कहा जा सकता । महाभारत इतिहास तथा काव्य होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी है। इसी कारण इसे मानव जीवन अर्थ च प्राणिमात्र अथवा चराचर जीव-जगत् का समग्र शास्त्र माना गया है। महर्षि वेद व्यास का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि जो इस महाभारत में है, वह अन्यत्र भी है किन्तु जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है -

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।। -महाभारत, आदिपर्व, , 62.53

महर्षि वेद व्यास द्वारा विरचित 'पंचम वेद' की मान्यता वाला यह विशाल ग्रन्थ 'कार्ष्णवेद' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रथम अध्याय '**महाभारत के पंचरत्नों का परिचय**' है। यद्यपि महाभारत के सभी विषयों का विद्वानों द्वारा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, भगवद्गीता के अध्ययन पर विश्व साहित्य में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है परन्तु महाभारत के पंचरत्नों का समन्वित अध्ययन आज तक नहीं हुआ है इनका अध्ययन भक्ति के विकास की दृष्टि से निष्काम कर्मयोग एवं ज्ञान योग की दृष्टि से सामाजिक अवधारणाओं की दृष्टि से तथा दार्शनिक दृष्टि से अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। गजेन्द्र मोक्ष की कथा ने भारतीय लोक जीवन में जिस प्रकार प्रवेश किया है वह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। भारतीय नारियों ने इस गजेन्द्र मोक्ष को अपने भजनों एवं गीतों में समावेशित किया है। आर्त भक्त की दृष्टि से इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवद्गीता ने तो भक्तों के केवल चार विभाग ही प्रस्तुत किए हैं परन्तु इन पंचरत्नों में गजेन्द्र (गजराज), आर्तभक्तों के प्रतिनिधि हैं इसी प्रकार से भीष्मस्वतराज में भीष्म को हम ज्ञानी भक्त का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इन दोनों प्रकार के भक्तों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

परज़्परागत आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के अतिरिक्त महाभारत में श्रीमद्भगवद गीता, अनुगीता, विष्णु सहस्त्रनाम्, गजेन्द्र मोक्ष, भीष्मस्तवराज जैसे दार्शनिक सज़्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इनमें गीता उपनिषदों का सार है जिसमें ज्ञान योग, भक्ति योग एवं कर्मयोग का समन्वय किया गया है। विष्णुसहस्रनाज़्, अनुगीता, भीष्मस्तवराज भी किसी न किसी रूप में उपनिषद एवं गीता की दार्शनिक धाराओं से जुड़े हुए हैं और वैष्णव दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है कि संकल्पों के त्याग के बिना कोई योगी नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि महाभारत में कृष्ण परम देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं और उन्हें विष्णु, रूद्र, नारायण आदि से समन्वित करते हुये परमेश्वर, परमब्रह्म एवं परमात्मा के रूप में स्थापित किया गया है। अत: महाभारत निश्चित रूप से वैष्णव शास्त्र है और श्रीमदभगवद् गीता उसका दार्शनिक विवेचन जिसमें ज्ञान-योग, भक्ति योग एवं कर्म योग के अद्भुत समन्वय के साथ ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को भी समन्वित किया गया है। भगवद्गीता को यदि एक ओर वेद तथा

उपनिषद का अमृत बताया गया है तो दूसरी ओर इसमें महाभारत का सञ्पूर्ण सार आ जाने से यह सर्वशास्त्रमयी हो गई है।

महाभारत अपने आकार की विशालता के कारण ही संसार का महान ग्रंथ नहीं है और न वह केवल अपने विषयों की व्यापकता के कारण भारतीय जनता का वेद बन गया है, वरन् वह मनुष्य-जीवन के गंभीर तत्वों से परिपूर्ण होने के कारण भारतीय साहित्य की एक गौरवपूर्ण निधि बन गया है। आकार में महाभारत इलियड आदि यूरोपीय महाकाव्यों से बहुत अधिक बड़ा है। सर चार्ल्स इलियट ने इसे इलियड की तुलना में तत्व की दृष्टि से भी महान माना है। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् रमेशचन्द्र दत्त ने, जिन्होंने महाभारत का अंग्रेजी में संक्षिप्त पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है, महाभारत को एशिया की प्रतिभा का सबसे महान ग्रन्थ माना है। महाभारत के महान विद्वान् सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थ है, जिसे भारतीय परंपरा ने अपार श्रम के द्वारा लगभग 2000 वर्षों से सुरक्षित रखा है। पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत के प्रबन्ध और इतिहास के सञ्बन्ध में कुछ आलोचनात्मक खोज की है, जिसमें उन्होंने महाभारत के सञ्बन्ध में अनेक अनर्गल तथ्य प्रस्तुत किये हैं। सुकथनकर ने अपने गंभीर ग्रन्थ में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोजों की कड़ी आलोचना की है तथा उनके विचारों को काल्पनिक बताया है। ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व मानते हुए भी डॉ. सुकथनकर महाभारत के महत्व को सार्वभौम और सार्वकालिक मानते हैं। उनके अनुसार महाभारत एक अकाल और अमर काव्य है। वह साहित्य की उस दिव्य प्रेरणा से प्रसूत एक महान काव्य है, जिसमें कोई भी मानवीय प्रयास उसके साथ स्पर्धा नहीं कर सकता। सुकथनकर के मत में ऐतिहासिक खोज महाभारत के आन्तरिक तत्व एवं महत्व को भूलकर उसके बाहरी पक्षों में भटकती रही है। सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय परंपरा के सर्वोत्तम आदर्शों का रत्नाकर है। उनके मत में ऐतिहासिक खोजों की मरीचिकाओं को छोड़कर स्वयं महाभारत के युगों से सुरक्षित और युगों से प्रसिद्ध रूप के आधार पर महाभारत के तत्व और महत्त्व का अनुसंधान करना अधिक उचित है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सुकथनकर के इसी निर्देश के अनुसार महाभारत के मूल पाठ के आधार पर महाभारत में प्राप्त समाज-दर्शन सञ्बन्धी तत्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

गीता में स्पष्टत: यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना अवैयक्तिक निरपेक्ष तत्व की उपासना श्रेष्ठ है। यद्यपि विश्वातीत एवं शाश्वत सिद्धान्त का ध्यान करने वाले भी

सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लेते है, किन्तु उनका मार्ग महान कठिनाइयों से परिपूर्ण है। देहधारियों के लिए अव्यक्त तक पहुँचना कठिन है। दूसरी ओर वे लोग ईश्वर के प्रिय हैं जो एक परम विश्वास के साथ निरन्तर उसके साथ भक्तिपूर्वक जुड़े हैं। पुनश्च, अर्जुन विश्वरूप (विश्वमूर्ति) के स्थान पर मानुष रूप को अधिक वरीयता देते है। व्यक्तिगत ईश्वर का मानवीय रूप अवतार का परिणाम है और अवतार का सिद्धान्त गीता का प्रमुख सिद्धान्त है। मनुष्य रूप में ईश्वर एक नैतिक संकट के समय अवतार ग्रहण करते हैं। जिससे सत्य और असत्य का संतुलन ठीक किया जा सके।

यद्यपि सारे जीवों के स्वामी अजन्मा एवं अपरिवर्तनशील है किन्तु अपनी प्रकृति की शक्ति का ईश्वरीय रहस्य के रूप में नियन्त्रण करते हुए जन्म ग्रहण करते हैं। इतिहास में उनका अवतार आश्चर्य जनक नहीं है। वे प्रत्येक युग मे सद्गुणी लोगों के सुरक्षा एवं बुराई करने वालों के विनाश और नैतिकी व्यवस्था स्थापित करने के लिए जन्म ग्रहण करते हैं। उनका मानवीय जन्म एवं चरित ईश्वरीय रहस्य है जिसे सभी मनुष्य समझने में असमर्थ हैं।

पांचरात्र संहिताओं में प्रतिमाओं, मन्त्रों, मंदिरों एवं पूजा के विशिष्ट विधियों के विस्तृत विवरण मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ये पांचरात्र संहितायें भगवद्गीता की तुलना में अधिक कर्मकाण्डीय एवं धर्मतन्त्रीय है। महाभारत के अनुसार पांचरात्र दर्शन चारों वेदों के ज्ञान से सज़्पन्न एक महान उपनिषद् है और इसमें सांय और योगका भी समन्वय है। इसका गान साक्षात् नारायण के मुख से हुआ है। नारद जी ने इसको श्वेतद्वीप में सुना था और उन्होंने इसका प्रचार किया।

पांचरात्र धर्म एक महान धर्म है। इसे सनातम धर्म कहा जाता है। इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरूषार्थों का समन्वय है। इसे पहले सात्वत लोगों ने ग्रहण किया था। अतः यह सात्वत धर्म कहा जाता है। सात्वत यदुवंशी थे। श्री कृष्ण भी यदुवंशी थे। अतः नारायण का जो अभेद कृष्ण से किया गया उसका मुज़्य कारण सात्वतों के बीच इस धर्म का प्रचार था तथा कृष्ण का सात्वतों का महापुरूष होना था। यद्यपि पांचरात्र को महाभारत को वेद से पृथक करके प्रतिपादित किया गया है किन्तु महाभारत में ही पांचरात्र को वैदिक धर्म के अनुकूल प्रस्तुत किया गया है और उसका समन्वय वेद मत से किया गया है। यद्यपि बहुतसे वेद पाठी लोगों को प्रारज़्भ में वेद से शान्ति नहीं मिली थी और वे पांचरात्र के द्वारा शान्तिप्राप्त किये थे किन्तु महाभारत में वैदिक एवं अवैदिक धाराओं में समन्वय स्थापित किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता का युद्ध के समय का उपदेश महाभारत के अंतभाग में, आश्वमेघिक पर्व में कृष्ण-अर्जुन संवादरूप पुनःप्रस्थापित हुआ है जो 'अनुगीता' नाम से प्रज़्यात है। अनुगीता ब्रह्म और जीवात्मा एवं इन्द्रियादि के विषयोपभोग की चर्चा विविध संवादों के द्वारा प्रस्तुत करती है। मूलतः व्यासजी को युद्ध घटना का सन्दर्भ छोड़कर, अब परमपद तक ले जानेवाले तत्त्व, अजुर्नरूपी मानव समाज तक पहुँचाने का उद्देश्य है। जिसके परिपाक रूप अनुगीता का प्रादुर्भाव हुआ। मुज़्य बात ये है कि व्यासजी ने हिन्दू धर्म को बंधियार नहीं बनाया। मोक्ष ही जिसका आदर्श है, वह धर्म कभी बंधन परायण नहीं होता। पाणी बहता ही भला। हिन्दू धर्म का प्रवाह भी प्रवाहित रहकर ही शुद्ध रहता है। वही दीक्षा व्यासजी ने हिन्दू धर्म को दी है। वाल्मीकि का शोक जेसे श्लोकत्व से व्यक्त हुआ ऐसे ही अर्जुन की युद्ध के बाद की व्याकुलता के कारण अनुगीता प्राप्त हुई। श्रीकृष्ण और अर्जुन के जीवन में ऐसा प्रसंग महाभारत में ही आश्वमेघिक पर्व के अन्तर्गत निर्मित हुआ।

कौरव-पाण्डव युद्ध पूर्ण होने के बाद कृष्णमुख से आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग जानने से अर्जुन को हुई जिज्ञासा से उसने कृष्ण से प्रश्न किया। 'हे महाबाहो देवकी नंन्दन! जब संग्राम का समय उपस्थित हुआ, तब मुझे आपके माहात्ज़्य का ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ था, किन्तु हे केशव! मैत्री के वश होकर आपने मुझे जो ज्ञानोपदेश दिया था, वह सब इस समय, मेरा मन विचलित होने के कारण नष्ट हो गया था। अर्थात् ये सब मुझे विस्मृत हुआ है। इसके विषय में मुझे पुनः जिज्ञासा होती है। आप तो हे माधव ! कुछ समय के बाद द्वारिका जानेवाले हो, तो ये सब ज्ञान मुझे पुनः सुनाईये। आत्मा-परमात्मा रूप दो पक्षियों का रूपक यहाँ प्रस्तुत करके, वेद-उपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' का पुनरावर्तन करके, व्यास जी कालक्रम में लोकमानस की प्रकृति को इप्सित ज्ञान परोसकर भारतीय संस्कृति को जीवंत रखने में सफल हुए हैं।

शान्तिपर्व के 47वें अध्याय में भीष्म ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनका पूर्ण अभेद वेदों के ब्रह्म से किया है। इस स्त्रोत में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग द्वारा सगुण और निर्गुण श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की सज़्यक व्याज़्या की गई है। इसमें राजा जनमेजय ने वैशज़्पायन से प्रश्न किया है कि बाणों की शुद्ध शय्या पर लेटे हुए पितामह भीष्म ने किस प्रकार से अपने प्राणों का परित्याग किया और उस समय उन्होंने किस योग को धारण किया? वैशज़्पायन ने जनमेजय के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि दक्षिणायन के समाप्त होने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण में आ गये तब माघ महीने के

शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में दोपहर के समय पितामह भीष्म ने ध्यान अवस्था में स्थित होकर अपने चित्त को परमात्मा में लीन कर लिया।

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।

कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.1

भीष्म बाणों की शय्या पर लेटे-लेटे ही हाथ जोड़कर पवित्र भावना से अपने मन वाणी और क्रिया द्वारा भगवान श्री कृष्ण का ध्यान करते-करते स्वस्थ स्वर से उनकी स्तुति करने लगे। भीष्म जो वक्ताओं में श्रेष्ठ बहुत शक्तिशाली और परम धर्मात्मा थे, हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर भगवान वासुदेव की स्तुति में कहा है कि श्री कृष्ण स्वयं शुद्ध है, उनकी प्राप्ति का मार्ग भी शुद्ध है, वे हंस स्वरूप, तत्पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक हैं। उनका न आदि है, न अन्त वे ही परमब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि/सबका भरण-पोषण करने वाले भगवान श्री नारायण हरि ही उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। उन्हीं में सज़्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हीं में उनका लय होता है। जिस प्रकार धागे में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मा में समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुये हैं।

भीष्म कहते हैं कि हरि नाम कठिन रास्ते में संकट के समय प्राणों के लिये राहखर्च के समान है, यह संसार रूपी रोग से मुक्ति दिलाने के लिए औषधि के समान हैं, तथा सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति देने वाला है। श्री कृष्ण के शरणागत होकर भीष्म अभीष्ट प्राप्त करना चाहते हैं और उसके उपाय का भार भी उन्हीं पर छोड़ते हैं। अतः श्री कृष्ण की भक्ति में लीन भीष्म भगवान की स्तुति करने के पश्चात नमः श्री कृष्णाय कहकर उन्हें नमस्कार करते हैं। भगवान श्री कृष्ण अपनी योगमाया के द्वारा भीष्म जी की भक्ति और भक्ति योग को जानकर उनकेपास आये और उन्हें तीनों लोकों का बोध कराने वाला दिव्य ज्ञान देकर वापस चले गये। इस प्रकार प्रस्तुत स्त्रोत में ज्ञान, योग, कर्म योग एवं भक्ति योग द्वारा सगुण एवं निर्गुण श्री कृष्ण के साक्षात्कार की सज़्यक् व्याज़्या की गई है।

महाभारत के पंचरत्न में सज़्मिलित गजेन्द्र मोक्ष में भी जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति एवं त्रिविध दुःखों से मुक्ति बताया गया है। दार्शनिक चिंतन से परिपूर्ण इस स्तवन में गजेन्द्र द्वारा भगवत्स्वरूपों की तथा भगवत्कृपा द्वारा मोक्ष का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्रमोक्ष की कथा है। द्वितीय अध्याय में ग्राह के साथ गजेन्द्र के युद्ध का वर्णन है, तृतीय अध्याय में

गजेन्द्रकृत भगवान् के स्तवन और गजेन्द्र मोक्ष का प्रसङ्ग है और चतुर्थ अध्याय में गज-ग्राह के पूर्व जन्म का इतिहास है। श्रीमद्भागवत में गजेन्द्रमोक्ष-आज़्यान के पाठ का माहात्ज़्य बतलाते हुए इसको स्वर्ग तथा यशदायक, कलियुग के समस्त पापों का नाशक, दुःस्वप्ननाशक और श्रेयः साधक कहा गया है। तृतीय अध्याय का स्तवन बहुत ही उपादेय है। भाव के साथ स्तुति करते-करते मनुष्य तन्मय हो जाता है। गजेन्द्र कृत इस स्तवन का आर्तभाव से पाठ करने पर लौकिक-पारमार्थिक महान् संकटों और विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है और निष्काम भाव होने पर अज्ञान के बन्धन से छूटकर पुरुष भगवान् को प्राप्त हो जाता है। स्वयं भगवान् का वचन है कि 'जो रात्रि के शेष में (ब्राह्ममुहूर्त के प्रारज़्भ में) जागकर इस स्तोत्र के द्वारा मेरा स्तवन करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु के समय निर्मल मति (अपनी स्मृति) प्रदान करता हूँ। और 'अन्ते मतिः सा गतिः' के अनुसार उसे निश्चय ही भगवान् की प्राप्त हो जाती है तथा इस प्रकार वह सदा के लिये जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है।

ईश्वर सत्त्व, रज, तम-इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था को धारण करते हैं। जैसे यज्ञ के काष्ठ अरणि में अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही ईश्वर ने अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढक रखा है। उन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने पर ईश्वर विविध प्रकार की सृष्टि की रचना करता है। और जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करके वेदशास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्मा के रूप में स्वयं ईश्वर प्रकाशित हो उठते हैं। जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सज़्पत्ति और स्वजनों में आसक्त हैं उनके लिए ईश्वर की प्राप्ति अत्यंत कठिन बतलाई गई हैं, क्योंकि ईश्वर स्वयं गुणों की आसक्ति से रहित है। जीव-मुक्ति पुरुष अपने हृदय में निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करते हैं और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करते हैं।

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुण धर्मिणे ।

निर्विशेषाय साज़्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.१२

अनुशासन पर्व के 149 वें अध्याय में श्री विष्णुसहस्त्रनाम स्तोत्र के अन्तर्गत युधिष्ठिर व भीष्म के मध्य वार्ता का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत युधिष्ठिर ने भीष्म से छः प्रश्न किये हैं कि इस सज़्पूर्ण जगत में एक ही देव कौन है व पृथ्वीलोक का परम आश्रय स्थान कौन सा है? किस देवता का पूजन, कीर्तन, भजन तथा स्तुति करने से मनुष्य कल्याण की प्राप्ति कर सकता है?

सभी धर्मों में परम श्रेष्ठ धर्म कौन सा है? और किसका जप करने से मनुष्य इस संसाररूपी बंधन से मुक्त हो जाता है?

ईश्वर के स्वरूप एवं महिमा का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ईश्वर तेजःस्वरूप, तपस्वरूप, ब्रह्मा, सबका परम आश्रय, मङ्गलकारी, देवों के भी देव, अविनाशी, सज़्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करनेवाले हैं। महान आत्मस्वरूप विष्णु ऊँ सच्चिदानन्द स्वरूप, विराट रूप वाले, सब जगह व्याप्त, वषट्कार (जिनके उद्देश्य से यज्ञ में वषट् क्रिया की जाती है ऐसे यज्ञ स्वरूप) भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वामी, सज़्पूर्ण भूतों की रचना करने वाले, सज़्पूर्ण गुणों से युक्त, सज़्पूर्ण भूतों का पालन पोषण करने वाले, भावस्वरूप, सज़्पूर्ण भूतों के आत्मा, भूतों का उत्पादन एवं वृद्धि करने वाले है। वह सर्वरूप, सारी प्रजा का प्रलयकाल में संहार करने वाले, तीनों गुणों से परे कल्याण स्वरूप (शिव), स्थिर, भूतों के आदि कारण, प्रलयकाल में सब प्राणियों के लीन होने के लिए अविनाशी स्थान रूप, अपनी इच्छा से भली प्रकार प्रकट होने वाले, समस्त भोक्ताओं को फल देने वाले, सबका भरण करने वाले दिव्य जन्मवाले, प्रभु (सबके स्वामी) एवं ईश्वर (उपाधिरहित ऐश्वर्य वाले) हैं।

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः।

सज़्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.17

शोध-प्रबन्ध में द्वितीय अध्याय **'पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन'** है। यद्यपि पंचरत्नों में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक-नैतिक पक्षो का आंशिक अध्ययन अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है किन्तु महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की सज़्यक विवेचना नहीं की गई है। वर्तमान शोध का लक्ष्य वैदिक एवं अवैदिक पृष्ठभूमि में 'महाभारत' की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन है। महाभारत में जहाँ एक ओर जनजातीय वर्ण विभाजित एवं राज्य पर आधारित समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्म एवं दर्शन की विविध धारायें भी विद्यमान है। वर्तमान शोध का लक्ष्य महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की विवेचना है जिसमें वैदिक-अवैदिक एवं आस्तिक-नास्तिक दोनों धारायें सज़्मिलित है। इनमें गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णु सहस्त्रनाम एवं गजेन्द्रमोक्ष का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया हैं।

शोध-प्रबन्ध में तृतीय अध्याय **'पंचरत्नों का भक्तिशास्त्रीय विश्लेषण'** है। भगवान पर अनन्य प्रेम का नाम ही भक्ति है। प्रेम की पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्ति का पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जाय और भक्त की सारी द्वैतभावना लुप्त हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते- सारी क्रिया करते हुए सभी अवस्थाओं में भक्त जब भगवान् के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अन्तर्गत मानव जीवन का परम लक्ष्य संसार के दु:खों से मुक्ति पाना माना गया है, इसी का नाम मोक्ष है। इस लक्ष्य को पाने के लिए भारतीय मनीषियों व चिन्तकों ने समय-समय पर विभिन्न मार्गों का प्रतिपादन किया है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कभी इसी भाव को पञ्चदशी में माधवाचार्य विधारण्य ने भी अभिव्यक्त किया है। ज्ञान का स्वर भारतीय जीवन के लक्ष्याकाश में बहुविध प्रतिध्वनित हुआ है तो कभी भक्ति मार्ग को प्रशस्त कहकर भारतीय मनीषा को अपार सुख की अनुभूति हुई है।

गीता में चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख है- वह जो दुख से मुक्ति चाहते हैं (आर्त), वह जो सत्य की खोज-बीन करता है (जिज्ञासु) वह जो किसी मूल्य या हितकी खोज करता है। (अर्थार्थी) और अन्तत: वह जो जानता है। (ज्ञानी) यद्यपि ये सभी उच्चतर स्थिति की ओर गतिशील होते है, ज्ञानी को ईश्वर की आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है। भक्ति कर्म एवं ज्ञान तथा संयोग में विश्वास से आगे बढ़ती हैं। विश्वास अव्यभिचारी एवं अनन्य होना आवश्यक है। सज़्पूर्ण आत्मा ईश्वर की सेवा में लगी रहनी चाहियें। सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा न करके सज़्पूर्ण कार्य ईश्वर के लिये यज्ञ एवं पूजा के रूप में सज़्पादित किये जाने चाहिए। व्यक्तिगत ईश्वर की पूजा के लिये पत्र पुष्प, फल एवं थोड़ा जल पर्याप्त है। आदर्श भक्त से उच्च नैतिक आदर्शों के पालन की अपेक्षा की जाती है। वह किसी से घृणा न करें अपितु सभी का मित्र रहे, दयालु अभिमान रहित, समदृष्टि, सहिष्णु एवं क्षमाशील रहे, वह संतुष्ट रहे, तथा ईश्वर में अपना एवं विचारों का समर्पण करे। वह न तो समाज का त्याग करें और न समाज उसका त्याग करें। वह कुछ न चाहे, पवित्र हो, कार्य में कुशल हो, वासना रहित हो और अशान्त न रहे। मित्र एवं शत्रु दोनों के प्रति समान रहे तथा प्रशंसा एवं निन्दा के प्रति समान उदासीनता रखें। गर्मी एवं सर्दी, दुख और सुख, दोनों उसके लिये समान हो। वह गृह विहीन हो, मन से दृढ़ हो और ईश्वर में अनुरक्त हो। ऐसा व्यक्ति ईश्वर को प्रिय है। शंकराचार्य गीता की भक्ति दो स्तरों में विभक्त करते हैं। एक

की विशेषता कर्म है (कर्मलक्षण) और दूसरे की विशेषता ज्ञान है (ज्ञानलक्षण)। रामानुज के अनुसार भक्ति का सार ईश्वर के निरन्तर स्मरण में है। अन्य लोग ईश्वर के प्रति प्रत्येक वस्तु का समर्पण (प्रपत्ति, शरणागति) गीता की भक्ति का सार समझते है।

महाभारत में शान्तिपर्व का कथन है कि 'जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है। उसी को नारायण नाम से जानना चाहिये। वही सर्वात्मा पुरूष है'। 'जो देह धारियों की उत्कृष्ट आत्मा है, उन यशस्वी निर्गुण-सगुण रूप विश्वात्मा भगवान नारायण को नमस्कार हैं। रूद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं। भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है कि अर्जुन एवं कृष्ण दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वी का भार उतारने के लिए मानव शरीर में प्रवेश किया है। एक मात्र सनातन पुरूष कृष्ण ही सञ्पूर्ण मनुष्यों के सुविज़्यात आश्रय भूत नारायण है। नार (जल) पहले श्री कृष्ण का अयन (निवास स्थान) था। इसलिये ही वे नारायण, कहलाते हैं।

भगवान शिव ने ही प्रजापति दक्ष की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपत नामक व्रत दिया था जो मोक्ष का साधक और अविनाशी है। वर्षों तक पुण्य कर्म करने और यम-नियम दस साधनों को अज़्यास में लाने से उसकी उपलब्धि होती है। यद्यपि मूर्ख मनुष्य उस पाशुपत व्रत की अनिच्छा करते हैं किन्तु वह व्रत समस्त वर्णधर्म और आश्रम धर्म के अनुकूल है।

शोध-प्रबन्ध में चतुर्थ अध्याय **'स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से पंचरत्नों का मूल्यांकन'** है। महाभारत भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्व साहित्य का एक अद्भुत ग्रन्थ है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता, लोकप्रियता आदि की दृष्टि से यह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। एक लाख श्लोकों की संज़्या के कारण यह शतसाहस्री संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। आकार की विशालता और विषयों के महत्त्व दोनों ने इसे 'महाभारत' का नाम दिया। लगभग दो हजार वर्ष से भारतीय जनता इसे वेद के समान पवित्र और धर्मशास्त्रों के समान प्रामाणिक मानती रही है। आकार की विशालता भी उसके गौरव का एक कारण है। विषयों की महत्ता इस विशालता को अधिक गौरवपूर्ण बना देती है।

महाभारत के पात्र भारतीय जनता के लिए जीवन के अमर नायक बन गये हैं। अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि को तो भौतिक दृष्टि से अमर माना जाता है। किन्तु भौतिक दृष्टि से अमर न होते हुए भी भीष्म, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि भारतीय जनमानस में अमर है। वे कुछ

आदर्शों एवं प्रवृत्तियों के प्रतीकों के रूप में भी अमर है, किन्तु इसके अतिरिक्त वे इतिहास के जीवन्त पात्रों के रूप में भी भारतीय समाज के सजीव अंग बन गये हैं। भारतीय समाज में वे सदा चर्चा के सजीव विषय रहते हैं और जनमानस की कल्पना में आज भी मानों महाभारत की घटनायें वर्तमान के समान प्रत्यक्ष और सजीव प्रतीत होती है। घटना और पात्रों की शाश्वत सजीवता के अतिरिक्त उन पात्रों के चरित्र भारतीय आचार के आदर्श बन गये हैं। भीष्म का ब्रह्मचर्य और त्याग, युधिष्ठिर का सत्य, द्रौपदी का पातिव्रत, पाण्डवों का बन्धुभाव आदि भारतीय समाज के आदर्श हैं। कथा और घटनाओं के प्रसंग में महाभारत में धर्म की चर्चा भी बहुत है। युधिष्ठिर धर्मराज है। महाभारत का युद्ध भी धर्मयुद्ध है। वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म आदि के रूप में धर्म की शिक्षा भी महाभारत में विस्तार से मिलती है। अत: गौरवमय इतिहास होने के साथ-साथ महाभारत एक महत्वपूर्ण धर्मशास्त्र भी बन गया है। इसके विशाल आकार में धर्म के लगभग सभी पक्ष समाहित हो गये हैं। इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र के त्रिविध रूप में उसका महत्व और मान तिगुना हो गया है।

शोध-प्रबन्ध में पञ्चम अध्याय **'समाजशास्त्रीय दृष्टि से पंचरत्नों का विश्लेषण'** है। महाभारत में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है तथा यह ग्रंथ मानव जीवन के विभिन्न पक्षों के सञ्बन्ध में एक आधार संहिता भी प्रस्तुत करता है। जीवन के दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पक्षों का इसमें विशद विवेचन है। इन समस्त प्रश्नों पर यह स्वयं का स्पष्ट दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है, किन्तु महाभारत में आचरण की प्राथमिकतायें अथवा व्यक्तियों के आचरण के आदर्श प्रतिमान सीधे ही प्रस्तुत नहीं हुए हैं, अपितु कथानकों में बिखरे हुए विभिन्न पात्रों द्वारा व्यक्त हुए हैं। यह घटनाओं के माध्यम से स्वयं का दर्शन स्पष्ट करता है, जिससे स्पष्ट होता है कि यह अपने समय की परिस्थितियों व सामाजिक पर्यावरण को प्रतिबिञ्बित करता है। महाभारत विभिन्न पात्रों एवं वृत्तान्तों के माध्यम से अपने काल का यथार्थ प्रस्तुत करता है, साथ ही पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही आदर्श सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करता है। महाभारत आदर्श और यथार्थ के मध्य टकराव का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है तथा आदर्श की प्रस्थापना का संकल्प व्यक्त करता है।

वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म आदि के रूप में धर्म की शिक्षा भी महाभारत में विस्तार से मिलती है। अत: गौरवमय इतिहास होने के साथ-साथ महाभारत एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्र भी बन गया है।

इसके विशाल आकार में धर्म के लगभग सभी पक्ष समाहित हो गये हैं। इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र के त्रिविध रूप में उसका महत्त्व और मान तिगुना हो गया है।

सामाजिक व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी और राज्य का यह कर्तव्य था कि वह पूर्ण व्यवस्था की रक्षा करें। हर व्यक्ति का वह कर्तव्य था कि वह इस सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने में सहायता दे। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस व्यवस्था में सभी लोगों को समान रूप से स्वतंत्रता का भागीदार होना कठिन ही लगता है। विशेषत: स्वतंत्रता उन विशेषाधिकारों के कारण संभव नहीं थी जिन पर सामाजिक वर्णव्यवस्था आधारित थी। प्राचीन स्मृतिकारों ने तथा महाभारत में व्यक्ति को सामाजिक जीवन का आधार, भौतिक कल्याण की नींव और व्यवस्थित अस्तित्व माना है, क्योंकि समाज की संपन्नता शासक के क्रिया-कलाप और प्रजा की सहकारिता की नीति पर निर्भर थे और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना उसका कर्तव्य था। इसलिए शासकों के कर्त्तव्य पर सर्वाधिक बल दिया गया।

महाभारत कालीन समाज में यह विश्वास प्रचलित था कि वेद नित्य, चिरंतन और शाश्वत है। शास्त्रज्ञ वेद की सार्वभौमता को एकमत होकर स्वीकार करते हैं, किंतु वर्तमान कालिक गवेषणाओं के विरुद्ध वेदों के रचयिता ऋषिराज गण न होकर पौराणिक ब्रह्मा कहलाते हैं, जबकि वेदांगों की रचना का श्रेय स्पष्ट रूप से बृहस्पति को दिया गया है। गुरु परंपरा से इसका विस्तार हुआ। वेद के विषय में कहा गया है कि वेद ब्रह्म शब्द है और परब्रह्म को वही समझ सकता है जो शब्द ब्रह्म की गूढ़ता में निष्णात् हो। श्रद्धा शक्ति होकर वेदों का मर्म ज्ञान करने को उत्सुक या यत्नशील व्यक्ति ही शांति लाभ करता है। नास्तिक के लिए तो नरक के अतिरिक्त कहीं ठौर न था, किंतु आस्तिक के लिए यह आवश्यक था कि वह वेद (श्रुति) और वेद सम्मत शास्त्रों के अनुकूल ही अपने कर्तव्य-अकर्तव्य की मीमांसा करे।

महाभारत में भी धर्मशास्त्रों के समान चार वर्णों को मानकर उनके कर्तव्य-धर्मों का वर्णन किया गया है। वर्ण व्यवस्था हिन्दू धर्मशास्त्र और हिन्दू समाज की एक ऐसी विशेषता है, जिसका उदाहरण अन्य किसी देश में नहीं मिलता। अन्य देशों में भी कुछ विभाजन समाज में मिलते हैं, किन्तु उन विभाजनों का ऐसा धार्मिक अथवा सांस्कृतिक महत्त्व नहीं है, जैसा हिन्दू समाज की परम्परा में रहा है। भारतवर्ष में कुछ विशेष परिस्थितियों और विशेष कारणों से वर्ण-विभाजन एक अत्यन्त सूक्ष्म जटिल और कठोर व्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। आधुनिक काल में

अधिकांश विचारक वर्ण–व्यवस्था को भारतीय समाज का दोष मानते हैं, किन्तु धर्म और संस्कृति की रक्षा में वर्ण–व्यवस्था ने इतिहास के कठिन युगों में हिन्दू समाज का उपकार भी किया है। प्राय: वर्ण–व्यवस्था को सामाजिक विषमता की दृष्टि से ही देखा जाता है। किसी सीमा तक यह सत्य भी है कि वर्ण–व्यवस्था के कारण हिन्दू–समाज में सामाजिक विषमता उत्पन्न हुई। किन्तु दूसरी ओर भारतवर्ष में वर्ण–व्यवस्था की स्थापना के धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों का विचार करना तथा धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में वर्ण–व्यवस्था के योग का मूल्यांकन भी अपेक्षित है।

सामाजिक समरसता एवं वर्ण व्यवस्था महाभारत के शांतिपर्व में सामाजिक समरसता एवं वर्णव्यवस्था को स्पष्ट किया है:– न विशेषो अस्ति वर्णानां सर्वम् ब्राज्हमिदं जगत ब्रह्मण पूर्व सृष्टं हि कर्मभि वर्णतांगतम। अर्थात् पहले वर्णो में कोई अन्तर नहीं था, ब्रहमा जी से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत ब्राह्मण ही था उसके पश्चात् विभिन्न कर्मो में अंतर के कारण वर्ण भेद हो गया। काम भोग प्रियास्तीक्ष्णा: क्रोधना: प्रियसाहसा: त्यक्तवत्त स्वधर्मा सतांगस्ते द्विजा: क्षत्रांतागता। अर्थात् जो ब्राह्मण भोग में लिप्त हो गये, क्रोध करने लगे तथा साहस का परिचय देने लगे, जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाने लगे।

गोज़्यो वृत्ति समास्याय पीता: कृष्युपजीविन: स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतांगता:। अर्थात् जिन ब्राह्मणों ने गौओं से तथा कृषि कर्म से जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और इसी के कारण जिनकी देह का रंग पीला पड़ गया वे ब्राह्मण का कर्म छोड़ने वाले वैश्य स्वभाव के हो गये। हिन्सावृतप्रिया लुब्धा: सर्व कर्मोपजीविन: कृष्णा: शौचपरिभ्रहास्ते द्विजा: शूद्रतांगत:। अर्थात् जो शौच एवं सदाचार से विमुख हिंसा प्रेमी हो गये जो सिंह के समान आक्रामक होकर आजीविका चलाते चलाते शरीर से काले हो गये वे ब्राह्मण कालान्तर में शूद्र कहलाने लगे।

वर्ण–विभाजन की जो व्यवस्था भारतीय परज़्परा में मिलती है, उसमें समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है। वर्ण चार ही हैं। जातियों की संज़्या बहुत अधिक है। अत: वर्ण का अर्थ जाति लगाना उचित नहीं है। जन्म से वर्ण मानने के कारण वर्ण और जाति एक दूसरे के पर्याय बन गये, किन्तु धर्मशास्त्रों में प्राय: 'वर्ण' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। ये वर्ण चार हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। भारतीय धर्मशास्त्र जीवन की एकरूपता में विश्वास नहीं करता। जीवन के अनेक लक्ष्य, रूप और कर्म हैं। यह अनेकता स्वाभाविक है। साथ ही यह जीवन में सौन्दर्य का विधान करती है। इस अनेकता के अनुरूप धर्मशास्त्रों के जीवन में पुरुषार्थों, आयु के

आश्रमों और समाज के वर्णों का चतुर्विध विभाजन किया गया है। पुरुषार्थों का विभाजन जीवन के लक्ष्यों की दृष्टि से है। जीवन का प्रमुख लक्ष्य चार वर्णों में समाहित है। आश्रमों का विभाजन जीवन की सफलता और पूर्णता की दृष्टि से है। वर्णों का विभाजन सामाजिक कर्मों की अनेकरूपता की दृष्टि से है, किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि यह समाज में विषमता का कारण बना। यह किसी अंश में सत्य है, किन्तु वर्ण-विभाजन का अभिप्राय समाज में श्रम-विभाजन की भाँति कर्म-विभाजन था। प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म ही था। गीता में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है। गीता ने जन्म को आधार न मान कर वर्ण-व्यवस्था को पुनः कर्म का आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है। प्राचीन वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था इतनी कठोर नहीं थी। कोई भी अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार किसी वर्ण को ग्रहण कर सकता था। वर्ण जन्म पर आश्रित नहीं था। वेद में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है जो यह कहता है कि मैं एक कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता अन्न कूटती है। संभवतः धर्मशास्त्रों और स्मृतियों के काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्म बन गया। इसका कारण मुख्यतः कुल-परम्परा है। कुल-परम्परा में व्यवसाय सुगम बन जाते हैं। सामाजिक विषमता इसका एक प्रतिकूल परिणाम था, किन्तु मूलतः इस व्यवस्था का आधार कर्म-विभाजन था। धार्मिक और सांस्कृतिक कर्मों की विपुलता वैदिक समाज की एक विशेषता थी। अतः उस समाज में वर्ण-विभाजन और अधिक आवश्यक हो गया। विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा के चार मुख्य कर्म मानकर चार वर्ण माने गये। ब्राह्मण का प्रधान कार्य विद्या पढ़ना और पढ़ाना था, क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का कार्य व्यापार करना तथा कृषि करना था और शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना था। हर एक के जीवन में ये चारों बातें विद्यमान थीं, परन्तु उस वर्ण के मानव में उस वर्ण के कार्यों का प्राधान्य रहता था तथा अन्य धर्म व कार्य गौण रूप में रहते थे। ब्राह्मण के जीवन में विद्या का, क्षत्रिय के जीवन में रक्षा एवं वीरता का, वैश्य के जीवन में व्यापार व समाज के पालन का तथा शूद्र के जीवन में तीनों वर्णों की सेवा का काम प्रमुख था। सारी वस्तुओं एवं गुणों को जीवन में समानता नहीं मिल सकती। प्रत्येक मनुष्य का कर्म स्वभावज होता है। अपनी प्रकृति के अनुकूल जो भी कार्य हों, वह कार्य करना ही मानव का धर्म होना चाहिए। इसी गुण की प्रधानता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था धर्मशास्त्रों में स्थिर हुई। वर्ण-व्यवस्था के आरम्भिक संकेत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलते हैं।

शोध-प्रबन्ध में षष्ठ अध्याय **'पंचरत्नों की सामयिक उपयोगिता'** है। भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन तथा विशाल है। इसे धार्मिक आचार-विचारों, परज़राओं तथा संस्कृति का आधार माना गया है। विश्व साहित्य में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ 'महाभारत' को भारतीय मनीषा की अद्भुत अभिव्यक्ति माना जाता है। इस महाकाव्य के रचनाकार 'महर्षि वेदव्यास' सर्वातिशायी तथा अद्भुत प्रतिभा के धनी प्रतीत होते हैं। कौरव-पाण्डवों के जीवन वृतान्त तथा महाभारत युद्ध की गाथा ही इस महाकाव्य का मूल कथानक है, परन्तु महर्षि व्यास ने इसमें अनेक आज़्यानों, उपाज़्यानों, ऋषि कथाओं, राजधर्म के कर्त्तव्यों, मोक्ष सज़्बन्धी तत्वज्ञान तथा मानव जीवन से सज़्बन्धित रहस्यों का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अनेक शास्त्रों से सज़्पृक्त ऐसा महाकाव्य है जो समस्त सांसारिक घटनाओं को अपने में समेटे हुए है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों जैसे - महाभारत, मनुस्मृति, वेद आदि को सिद्ध उपदेश देने वाला माना जाता है। अत: इन सभी का खण्डन तर्क की कसौटी पर करना अनुचित है। महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विषयों का आश्चर्यजनक और विस्तृत वर्णन किया है। इसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर समाज में वैज्ञानिक, आर्थिक तथा वैचारिक जागृति के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन प्रारज़्भ हुए वहीं दूसरी ओर कुछ स्वार्थी, लोभी तथा अनाचारी व्यक्तियों के दुराचार के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास आदि अवैध कार्य भी किये जाने लगे। अत: तत्कालीन समाज का दर्पण महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

पंचरत्न ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, सामाजिक परज़राओं का विश्वकोष है। उसमें तद्युगीन सामाजिक चित्तवृत्तियों का यथार्थमय आकलन विश्लेषण और विन्यास हुआ है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है। इसीलिए किसी काल की संस्कृति का निर्माण अचानक न होकर उसी काल के निवासियों के जीवन की शताब्दियों की उपलब्धियों का परिणाम होता है। 'किसी देश की संस्कृति उसकी सज़्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंज़्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भागीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति ही है जो मनुष्य की अच्छाइयों को निर्देश देती है। मानवीय व्यक्तित्व को सज़्य दिशा प्रदान करती है जो कि उसके बुद्धिमान होने का सूचक है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय इतने विशाल एवं समृद्ध है कि मानव-मन में उत्पन्न हो सकने

वाला कोई भी विषय शायद ही इससे अछूता रहा हो। एक ओर जहाँ तत्व-चिन्तन प्रधान ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर समाज और इसके अनुशासन से सम्बन्धित ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। कतिपय ग्रन्थों में इन दोनों विषयों का सुन्दर समायोजन किया गया है, जिसमें महाभारत का नाम उल्लेखनीय है। महाभारत उन पुराण एवं पुराणेत्तर ग्रन्थों की शृंखला में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखने वाला ग्रन्थ है, जो जीवन को मात्र जन्म एवं मरण के चक्र में सीमित करके नहीं देखते हैं, अपितु इसे आत्मा की अनन्त यात्रा का पड़ाव मात्र मानते हैं। आत्म-तत्व की अमरता, कर्म की प्रधानता सत्य की सुनिश्चित विजय और व्यक्ति के विरूद्ध प्रत्यक्ष ईश्वरीय सम्बल जैसी मान्यताओं की स्थापना तथा प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों के संग्रह के कारण महाभारत को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हुए यह कहा जाता है कि जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मनुष्य' है अत: यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज में मनुष्य के महत्व को निर्धारित करते हुए सामाजिक विज्ञान की नींव डाली है। महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था के रूप में दान, संस्कार, देवपूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। प्रजा को वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि के आधार पर विभक्त किया गया था जिससे सभी अपने-अपने धर्म, कर्म तथा कर्तव्यों का भली-भांति पालन करते थे।

महाभारत काल में वैदिक शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। इसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करना पड़ता था। इस काल में गुरू के आश्रम में विद्या ग्रहण करने जाना होता था तथा शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या दोनों ही गुरू द्वारा प्रदान की जाती थी। प्रत्येक शिष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है - मन-प्राण में उच्च श्रेष्ठ भावों का पोषण करना, शुभ चिन्तन से शरीर तथा मन को क्रमश: उन्नतिशील बनाना, समस्त बुराइयों से अपनी रक्षा करके

उन्नति की चेष्टा करना। इस सन्दर्भ में राजा ययाति द्वारा स्वयं की विशेषता बताते हुए देवयानी के प्रति यह कथन मिलता है कि उनके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए समस्त वेदों का अध्ययन किया गया है।

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः।

राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः।। – महा. भा. आदि पर्व. 81.14

महाभारत काल में सभी वर्णों को शिक्षा का अधिकार था। इस सन्दर्भ में महामति विदुर का ज्ञान अतुलनीय था, वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। इसी प्रकार सूतजातीय लोमहर्षण, संजय तथा सौति का ज्ञान भी प्रशंसनीय है। महाभारत काल में वेद, आन्वीक्षिकी (तर्क विद्या), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) तथा दण्डनीति शिक्षणीय विषय माने जाते थे। ऐसा वर्णन शान्ति पर्व में ब्रह्मा द्वारा देवताओं के प्रति किया गया है। राजाओं हेतु अनिवार्य रूप से हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद सूत्र, यंत्र सूत्र, तथा नागरिक सूत्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। ऐसा वर्णन सभा पर्व में नारद मुनि द्वारा युधिष्ठिर के प्रति किया गया है। महाभारत काल में शूद्र जाति के लिए वेदाध्ययन निषिद्ध था। ऐसा वर्णन द्रोणाचार्य द्वारा शूद्रजातीय कर्ण के प्रति किया गया है। शिक्षा के पूर्ण होने के बाद शिष्य द्वारा अपने गुरू को गुरूदक्षिणा दिये जाने का प्रचलन था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में मान्धाता द्वारा नृपश्रेष्ठ वसुहोम के प्रति गुरू दक्षिणा देने की बात कही गयी है। इससे प्रतीत होता है कि शिक्षा की व्यवस्था उत्तम थी तथा गुरू को गुरू दक्षिणा दिये जाने की व्यवस्था सम्भवतः गुरू के जीवन यापन के लिए बनायी गयी होगी। महाभारत में स्त्री शिक्षा का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं दिखायी देता है किन्तु विदुषी स्त्रियों जैसे – शकुन्तला, सावित्री, दमयन्ती, द्रौपदी आदि की चर्चा की गयी है जो उनकी बुद्धिमत्ता तथा पाण्डित्य का परिचायक है।

शान्तिपर्व का राजधर्म अनेको तथ्यों से परिपूर्ण है। सभा पर्व के नारदीय राजधर्म व कणिक की कूटनीति, आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्रजिज्ञासा, उद्योगपर्व की विदुरनीति आदि प्रकरणों में राजधर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। इस परिच्छेद में उन उक्तियों को उद्धृत करके यह बताने की चेष्टा की गई है कि उन दिनों राजधर्म का स्वरूप क्या था। विषय बहुत बड़ा होने के कारण इस परिच्छेद को कई भागों में विभक्त कर दिया गया है। मनुवचनों पर महर्षि व्यास ने

अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की है। प्रत्येक प्रसंग में दो-चार बार मनु का उदाहरण दिया गया है उसके अलावा प्राचीन राजधर्म प्रणेता दूसरे ऋषि मुनियों का नाम भी प्रसंग वश आया है।

बृहस्पति, विशालक्ष, काव्य (उशना:), महेन्द्र, भारद्वाज, गौरसिरा आदि धार्मिक ब्रह्मवादी मुनि राजधर्म के प्रवर्तक थे। अराजक समाज में कोई निश्चिन्त होकर धर्म चर्चा नहीं कर सकता, लोगों में वाद-विवाद चलता ही रहता है, विशेषत: दस्युगण तरह-तरह के उत्पातों से मनुष्य का जीना मुश्किल कर देते हैं, अतएव समाज को कभी भी अराजक अवस्था में नहीं रखना चाहिए।

राजा में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है, इस विषय पर सैकड़ों उक्तियाँ उद्धृत हैं। ग्रन्थ काव्य में बहुत सी जगह तो उशना, इन्द्र, बृहस्पति, मनु आदि राजधर्म वेत्ताओं के अभिमत को ही ग्रहण किया है और बहुत सी जगह भीष्म के मुख से अपना मत भी प्रकट किया है। विभूतियोग में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं ''नरो में मैं नराधिप हूँ''। अर्थात् राजा में ही मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होता है, इसलिए वही भगवान की विभूतिस्वरूप हैं। पूर्व जन्म के पुण्यबल से राजा में बहुत से गुण अनन्य सुलभ होते हैं, किन्तु शिक्षा के द्वारा भी उन्हें बहुत से गुणों का अर्जन करना पड़ता है। स्वाभाविक गुणों के सञ्बन्ध में मनुसंहिता में कहा गया है कि भगवान जिन उपादानों से इन्द्र, अनिल, यम, अर्क, अग्नि, वरूण, चन्द्र, कुवेर आदि देवताओं की सृष्टि करते हैं, उन्हीं से राजा की करते हैं, इसीलिए उनका तेज दूसरों को अभिभूत करने में समर्थ होता है।

राजधर्म ही सब धर्मों का मूल होता है। सब प्राणियों के पदचिन्ह जैसे हाथी के पदचिन्ह के नीचे विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार दूसरे धर्म भी राजधर्म में विलीन हो जाते है। राजधर्म के परित्यक्त होने पर दूसरा कोई धर्म उन्नत नहीं हो सकता। अत: समाज के स्थायित्व के विषय में अपने दायित्व को अच्छी तरह समझकर राजा की अपने चरित्र गठन में मनोयोग करना चाहिए। राजा का चरित्र कैसा होना चाहिए, इस सञ्बन्ध में भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म प्रकरण में सैकड़ों उपदेश दिये हैं। नीचे संक्षेप में उन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

महायशस्वी राजा दम, सत्य व सौहृद के द्वारा सञ्पूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य करते है, और महत् यज्ञों का अनुष्ठान करके शास्वतपद प्राप्त करते हैं। राजा को सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिए, अजितेन्द्रिय राजा दूसरे को वश में नहीं रख सकता। राजा को वेद -वेदान्त आदि शास्त्रों पर पांडित्य लाभ करना चाहिए तथा दानशील बनकर सर्वभूत के दुखमोचन की यथा साध्य चेष्टा करनी चाहिए। षाड्गुण्य त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग विषयों पर राजा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

रागद्वेष का त्याग करके धर्माचरण करना, परलोक के लिए शुभ कर्म करना, बिना अत्याचार किये अर्थोपार्जन करना, सौज़्यभाव से कामोपभोग करना, राजा के विहित कर्म है। राजा को सदा मधुर वचन बोलने चाहिए, शूर होते हुए भी आत्म प्रशंसक नहीं होना चाहिए तथा दाता होते हुए भी अपात्र को दान नहीं देना चाहिए। अपकारी का विश्वास करना राजा के लिए उचित नहीं है। उसे किसी से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। पूजार्ह की पूजा करना और दंभ का त्याग करना राजधर्म के अपरिहार्य अंग हैं। आहार-विहार में संयम रखना बहुत आवश्यक है, संयम के अभाव में श्रीहीनता आती है। हर कार्य में समय असमय का ज़्याल रखना उचित है, जो कार्य जिस समय करने का हो, उसी समय करना चाहिए। एकाग्रचित्त होना चाहिए। जो व्यक्ति राजधर्म के इन नियमों का पालन करता है वह इहलोक व परलोक में सब सुखों का उपभोग करता है। इस अध्याय में राजा के छत्तीस गुणों का उल्लेज़ किया गया है। प्रधान गुणों का विवरण नीचे दिया जा रहा है। राजा को चाहिए कि काम व क्रोध को जीतकर राजश्री की सेवा करें, जो नृपति काम या क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित कार्य करता है, वह नितान्त कृपा का पात्र होता है। उसके धर्म एवं अर्थ का विनाश अवश्यज़्भावी होता है। संरक्षक, दाता, निरलस एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति स्वभावत: ही सबकी श्रद्धा का पात्र बनने में समर्थ होता है।

पंचरत्नों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान काल में वैदिक धर्म प्रचलित था। अत: प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य प्रतिदिन सन्ध्या तथा यज्ञ किया करते थे। महाभारत काल में सन्ध्या में उपस्थान कार्य वैदिक मंत्रों द्वारा किया जाता था। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व में कौरव तथा पाण्डवों द्वारा अपने-अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि को छोड़कर सूर्य की ओर हाथ जोड़कर उपस्थान कर्म करने का उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में धर्म-कर्म आदि का अत्यधिक महत्त्व था। इसी प्रकार द्रोण पर्व के बयासीवें अध्याय में युधिष्ठिर द्वारा प्रात: उठकर स्नान करके सन्ध्या करने तथा यज्ञशाला में जाकर अग्नि के साथ समिधा तथा वैदिक मंत्रोच्चारण करने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में धार्मिक कार्यों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। महाभारत काल में मूर्तिपूजा का संङ्केत मिलता है। इस सन्दर्भ में सौति द्वारा भीष्म पर्व में दु:चिन्ह के वर्णन में उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार, देवताओं की प्रतिमाएँ कांपती हैं, हंसती हैं, मुख से रूधिर वमन करती हैं, देह से पसीना निकलता है। अत: इस प्रकार के लक्षण बुरी घटना के सूचक माने जाते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा, सौति

द्वारा जोड़े गये नवीन अध्यायों के अनुसार होती थी। हिन्दू धर्मानुसार महाभारत काल में शिव, विष्णु तथा स्कन्द आदि देवों की मूर्तियां प्रचलित थीं।

महाभारतकार के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवता जगत् के तीन कामों – उत्पत्ति, पालन और नाश पर नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है। महाभारत के वन पर्व में इन तीन देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के समावेश से उत्पन्न एक देवता अर्थात् दत्तात्रेय का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सहस्रार्जुन को दत्तात्रेय के प्रसाद से एक विमान प्राप्त हुआ था।

दत्तात्रेय प्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा।

ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते।। – महा. भा. वन पर्व 115.12

इससे प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में दत्तात्रेय की पूजा की जाती थी। इसी प्रकार महाभारत के वन पर्व के दो सौ बत्तीसवें अध्याय में तथा अनुशासन पर्व के चौरासीवें और पच्चासीवें अध्याय में स्कन्द देव की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में महाकवि कालिदास द्वारा स्कन्द देव की उत्पत्ति से सञ्बन्धित कुमारसञ्भव नामक महाकाव्य रचा गया। स्कन्ददेव को शिव की संहार शक्ति का अधिष्ठाता तथा देवताओं की समूची सेना का सेनानायक माना जाता था। महाभारत काल में देवियों के रूप में, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि की पूजा प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार दुर्गा स्तोत्र का पाठ अर्जुन द्वारा किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत काल में देवताओं के साथ-साथ देवियों की भी पूजा की जाती थी।

समस्त विश्व प्राकृतिक पर्यावरण से घिरा हुआ है। इसे भौगोलिक पर्यावरण भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत जलवायु ऋतु में तापक्रम, भूमि की उत्पादकता, जल, पर्वत, समुद्र, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पशु-पक्षी आदि आते हैं। 'पर्यावरण' शब्द, दो शब्दों से मिलकर बना है – 'परि+आवरण', 'परि' अर्थात् चारों ओर, आवरण अर्थात् ढके हुए। कोई भी वस्तु पदार्थ जो ढका हुआ हो या घिरा हुआ है, वह उसका आवरण है। उसी प्रकार जिन पदार्थों से, जिन क्रियाकलापों से हम घिरे हुए हैं, वही हमारा 'पर्यावरण' है। इस प्रकार वे सभी दशायें जो एक प्राणी के अस्तित्व के लिए आवश्यक है तथा उसे चारों ओर से घेरे हुये हैं, वह 'पर्यावरण' कहलाती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, 'भौगोलिक पर्यावरण उन सभी दशाओं से मिलकर बना है जो प्रकृति ने मनुष्य को प्रदान की है।'

भौगोलिक पर्यावरण का सञ्बन्ध ऐसी प्राकृतिक दशाओं से है जो मनुष्य से प्रभावित हुए बिना अपना कार्य करती है तथा जो मनुष्य के अस्तित्व तथा कार्यों से स्वतन्त्र रहते हुए स्वयं परिवर्तित रहती है। वायु, जल, भूमि, पेड़-पौधे, वनस्पति और जीव-जन्तु सभी मिलकर वातावरण का निर्माण करते हैं, इसे वैज्ञानिक भाषा में 'पर्यावरण' कहते हैं।

स्वस्थ पर्यावरण ही मानव तथा कृषि की आधारशिला होती है। इससे ही चतुर्दिक विकास सञ्भव है। अत: पर्यावरण एक ऐसी व्यापक दशा है जो सभी प्राणियों के कार्यों, विचारों तथा व्यावहारों को प्रभावित करती है तथा विभिन्न प्रकार से लाभकारी सिद्ध होती है। इसका विस्तृत उल्लेख वेदो, उपनिषदो, पुराणों रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों में मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि विद्वान पर्यावरण विज्ञान के प्रति अत्यन्त चिन्तनशील थे। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ छियालीसवां सूक्त ''अरण्यानी सूक्तञ्'' नाम से प्राप्त होता है, जिसमें 'अरण्यानी' को सभी जीवों की माता के रूप में व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद में वृक्षों को पूज्य मानकर प्रमाणित किया गया है।

ऋग्वेद में जल को प्राणियों का हितैषी बन्धु कहा गया है। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में पर्यावरण विज्ञान से सञ्बद्ध वैज्ञानिक चेतना का उल्लेख किया है। महाभारतकार ने पर्यावरण शुद्धि का सञ्बन्ध धर्म से जोड़कर अभिव्यक्त किया है तथा प्रकृति को देवमय माना है। महर्षि व्यास ने नदी, पर्वत, समुद्र, वृक्षों की जड़, गोशाला, दुर्गम मार्ग, वन, चौराहे, सड़क, चबूतरे, किनारे गजशाला, अश्वशाला, रथशाला, जीर्ण उपवन, जीर्ण गृह पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य उनकी किरणें, रसातल तथा अन्यान्य स्थानों में उनके अधिष्ठाता देवता को श्रद्धासहित प्रणाम किया है। इन समस्त स्थानों में रूद्र देवता का वास होना स्वीकार किया है।

महर्षि व्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में जाजलि और तुलाधार के आत्मयज्ञ विषयक धर्मोपदेश में समस्त नदियों को सरस्वती के रूप में व्यक्त किया है तथा पर्वतों को पूजनीय बताया है। यहाँ इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास द्वारा प्रकृति को धार्मिक भाव से जोड़ने का उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में ही है क्योंकि धार्मिक भाव रखने पर मानव स्वत: ही ऐसे स्थलों को प्रदूषित नहीं करेगा तथा इससे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान स्वत: हो सकेगा। महाभारतकार ने गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से कहे गये वचनों में मानसिक पर्यावरण के संरक्षण का उल्लेख किया है। इस वर्णन में भूमि से आकाश पर्यन्त सभी को पर्यावरण

कहा गया है। ऐसा संस्कृत वाङ्मय में वर्णित है। काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक पर्यावरण को दूषित करते हैं। विवेक ज्ञान से ऐसा आवृत होता है। अत: गीता के अध्याय तीन में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है। जब विवेक ज्ञान का तिरोधान होता है तब ज्ञान-विज्ञान का नाश होता है। जिससे सर्वत्र हिंसा, आतङ्कवाद, अपहरण आदि उत्पन्न होता है। गीता में कहा गया है कि आधिभौतिक पदार्थ स्थूल और आधिदैविक पदार्थ सूक्ष्म है।

इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा ये सूक्ष्म जगत के पदार्थ हैं। ये सभी काम, क्रोध आदि भावों से आवृत्त होते हैं जिससे मानसिक तथा रासायनिक पर्यावरण प्रदूषित होता है। अत: इस आधार पर पर्यावरण के तीन भेद किये जा सकते हैं - (1) भौतिक पर्यावरण - इसमें वृक्ष, वनस्पति, नदी, पर्वत, खगोल आदि से मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (2) सामाजिक पर्यावरण - इसमें आचार, भाव, विचार आदि का मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (3) मानसिक पर्यावरण - इसमें काम, क्रोध आदि मनोवेग द्वारा संयम, शिव सङ्कल्प से शान्ति लाभ प्राप्त होता है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु वृक्षों के महत्व से महाभारतकालीन लोग भलीभांति परिचित थे। महाभारतकार ने वृक्षारोपण कर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से भी अनेक स्थानों पर वृक्षों के महत्त्व तथा विशेषताओं का उल्लेख महाभारत में किया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा संसारवृक्ष का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार आदिपुरूष परमेश्वर संसार रूपी वृक्ष की जड़ (मूल) है, ब्रह्मा उस वृक्ष की शाखायें, वेद उसके पत्ते हैं। इस तरह भगवान ने स्वयं वृक्षों के महत्त्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। पुराणों में भी वृक्षों को देवत्व रूप में स्वीकार किया गया है।

तत्त्ववेताओं के अनुसार मानव शरीर पंच तत्त्वों से मिलकर बना है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। मानव शरीर का 2/3 भाग और उसके समस्त भार का 4/5 भाग जल ही होता है। इसी प्रकार सभी वृक्षों जीव-जन्तुओं के शरीर में भी जल रहता है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि जल, प्राणियों के लिए अत्यावश्यक है। प्राचीनकाल में वैदिक ऋषियों, शास्त्रकारों और विद्वानों ने पर्यावरण की शुद्धि बनाये रखने के लिये जल के महत्त्व का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया है। संस्कृत वाङ्मय में जल को जीवन का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद के मंत्रानुसार शुद्ध जल में अमृत तथा औषधि का निवास होता है। यथा - अप्स्वव्तरममृत अप्सु भेषजङ्।

महाभारत काल में जल को नारायण का स्वरूप माना जाता था। इस सन्दर्भ में वन पर्व में भगवान बाल मुकुन्द ने अपने स्वरूप की चर्चा में मार्कण्डेय के समक्ष इसका उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में तुलाधार तथा जाजलि संवाद में यह चर्चा की गयी है कि सभी नदियां सरस्वती देवी का रूप है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं को श्री भागीरथी गङ्गा के नाम से अभिव्यक्त किया है। अत: इस विवरण से प्रतीत होता है कि महाभारत काल में जल को देवता रूप में माना जाता था। इसी कारण धार्मिक भाव के आवरण में लोग जल की स्वच्छता, पवित्रता, संरक्षण आदि को विशेष महत्त्व देते थे। महाभारत काल में देवनदी गंगा का विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि गंगा नदी के जल में कीटाणु नहीं पडते़ हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनुसंधान के फलस्वरूप यह स्वीकार किया है कि गङ्गा जल में बैक्टीरियोफेज नामक विषाणु होते हैं जो जीवाणुओं तथा अन्य हानिकारक सूक्ष्म जीवों को जीवित नहीं रहने देते हैं। अत: इस नदी के जल में प्राणवायु (ऑक्सीजन) की मात्रा को बनाये रखने की असाधारण क्षमता होती है।

महाभारत के शान्ति पर्व में राजा जनक के प्रति मन का सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि मन इन्द्रियों द्वारा संचालित होकर सब विषयों की ओर जाता है। इन्द्रियां उन विषयों को नहीं देखती किन्तु मन उन्हें निरन्तर देखता है। आंख मन के सहयोग से ही रूप का दर्शन करती है, अपनी शक्ति से नहीं। जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आंख देखती हुई भी नहीं देख पाती। लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सज़्पूर्ण इन्द्रियाँ विषय को प्रत्यक्ष करती हैं। किन्तु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखती, केवल मन ही देखता है। अत: यदि मन विषयों से उपरत हो जाय तो इन्द्रियां भी विषयों से निवृत्त हो जाती हैं। यहां महाभारतकार ने मन की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण व्यक्त किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सप्तम अध्याय **'पंचरत्नों का साहित्यिक मूल्यांकन'** है। साहित्य की विविध विधाओं में काव्य नामक विधा की रचना कवि के आन्तरिक भावों तथा संवेगों के प्रस्फुटित होने और बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप होती है। काव्य की रचना के लिए हृदयगत भावों का प्रस्फुटित होना, विषयगत सामग्रियों की उपस्थिति, भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ परिष्कृत भाषा, विषय को प्रतिपादित करने के लिए कवि की प्रवृत्ति आदि इन सभी तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। भारतीय साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। प्राचीन काल से काव्य-स्वरूप की चिन्तन धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रही है। अत: प्राचीन विद्वानों के सतत् प्रयास के

फलस्वरूप 'काव्य शास्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ है। इस शास्त्र के द्वारा काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों का अध्ययन किया जाता है।

'शास्यतेऽनेनेति शास्त्रम् ' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काव्यशास्त्र काव्य का नियमन करने वाला है। काव्य को कैसा होना चाहिए, कैसा नहीं होना चाहिए, कौन-सा-काव्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल है और कौन सफल नहीं है? इत्यादि अनेक बातों की कसौटी है-'काव्यशास्त्र'। काव्यशास्त्र ही काव्य की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का नियामक तथा अनेक कवियों-महाकवियों के काव्यों में तारतज़्य का प्रतिपादक है।

महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए अमृत वचन रूपी गीता का उल्लेख किया है जोकि शान्त रस का ही परिचायक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में अर्जुन के नाना प्रश्नों के उत्तर श्रीकृष्ण ने दिये यथा - संसार क्या है ? आत्मा-परमात्मा क्या है? यदि इसमें काल-महिमा, आत्मा का अमरत्व तथा सज़्पूर्ण विश्व को परमात्मा का रूप बताना और अन्त में श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का दर्शन - ये सभी कुछ शान्त रस का सर्वोत्तम उदाहरण प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने त्याग को परम शान्ति का उपाय बताते हुए अर्जुन से कहा है -

श्रेयो हि ज्ञानमज़्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्ये।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरज़्।।-गीता अध्याय 1, 12.12

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत में प्रमुख रूप से शान्त रस व्याप्त है। महाभारत के स्त्री पर्व में शान्त रस अत्यधिक भरा हुआ है। इस पर्व में व्यास ऋषि द्वारा पुत्र शोक से संतप्त हुए धृतराष्ट्र के प्रति कथन है कि जब जीव-जगत् अनित्य है, सनातन परमपद नित्य है और इस जीवन का अन्त मृत्यु में ही है, तब तुम इसके लिये शोक क्यों करते हो ?इसी प्रकार विदुर द्वारा संसार रूपी वन का उल्लेख धृतराष्ट्र के समक्ष किया गया है जिसके अनुसार विद्वान पुरूष इस संसार चक्र की गति को जानते हैं, इसीलिये वे वैराग्य रूपी शस्त्र से इसके सारे बन्धनों को काट देते हैं। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में बन्धु-बान्धवों के युद्ध में मारे जाने पर युधिष्ठिर को संसार से विरक्ति हो जाने का उल्लेख मिलता है।

जीवन के समस्त पक्षों का चित्रण होने के कारण महाभारत में सभी रसों का परिपाक होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें वीर रस, करूण रस, अद्भुत रस आदि की विशेषताएँ अङ्गरस के रूप में विद्यमान है। महाभारत में शान्त रस के पश्चात् वीर रस का प्राधान्य है। जबकि कुछ विद्वानों ने महाभारत को मूलतः वीरकाव्य कहा है। महाभारत के प्रमुख पात्र जैसे - भीष्म, द्रोण, कृष्ण, अर्जुन, भीम, कर्ण, दुर्योधन, अभिमन्यु आदि अलौकिक पराक्रम से युक्त हैं। इनके विषय में 'न भूतो न भविष्यति' कहा जाता है और जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। महाभारत के कर्ण पर्व में भीमसेन तथा अश्वत्थामा के युद्ध का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार संजय का धृतराष्ट्र के प्रति कथन है कि 'भयङ्कर पराक्रम दिखाने वाले ये दोनों योद्धा अद्भुत शौर्यशाली हैं। भीम का बल भयङ्कर तथा अस्त्र ज्ञान अद्भुत है। महाभारत के आदि पर्व में भीम, दुर्योधन और अर्जुन के द्वारा अस्त्र कौशल के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार महाभारत में पात्रों के सन्दर्भ में उनमें निहित उत्साह, पराक्रम, शौर्य आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है जिससे वीर रस परिलक्षित होता है।

महाभारत में **श्रृङ्गार र**स का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। महाभारतकार ने प्रकृति के उद्दीपन कार्य के द्वारा नायक-नायिका के रूप-सौन्दर्य का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में पलाश, तिलक, आम, चम्पा आदि फूल तथा फलों से युक्त वनों की शोभा, जलाशयों आदि की अद्भुत मनोहरता का उल्लेख माद्री तथा राजा पाण्डु के प्रेम के वर्णन में मिलता है। इसी प्रकार नल-दमयन्ती उपाख्यान में नल तथा दमयन्ती के रूप-सौन्दर्य तथा गुणों का उल्लेख मिलता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण, रीति तथा अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। गुणों के विवेचन का श्रेय भरत मुनि को प्राप्त है। यद्यपि भरतमुनि ने गुणों का विवेचन अवश्य किया है, लेकिन उनकी स्पष्ट परिभाषाएं नहीं दी हैं। गुण विवेचन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान आचार्य वामन का है। उनका कथन है कि काव्य शोभा के उत्पादक धर्मों को गुण कहते हैं। वामन के अनुसार, गुण कारण है, रीति कार्य है अर्थात् माधुर्यादि गुणों के कारण ही रीति वैशिष्ट्य प्राप्त करती है।

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः।। - काव्यानुशासन अध्याय, 4, पृ. 292

ध्वनि-सञ्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के आरञ्भ में ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हुए उसके स्पष्टीकरण के क्रम में यह कहा है कि काव्य तत्त्व-वेत्ताओं ने प्राचीन काल से ही अविच्छिन्न रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। उन्होंने समान्नातपूर्वः के द्वारा यह इङ्गित किया है कि वे इसके सर्वप्रथम उद्भावक नहीं है, क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ध्वनि के विभिन्न पक्षों की व्याञ्या या उद्भावना की है।

ध्वनि क्या है? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की उपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि-काव्य कहलाता है। अर्थ मुञ्यतः दो प्रकार के होते हैं- १. वाच्य और २. प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलङ्कार आदि का समावेश होता है, और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का, प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए काव्य में वस्तुस्थिति को देखने की जरूरत है।

महर्षि व्यास ने भी वेदों, पुराणों, आदि का अध्ययन, चिन्तन तथा मनन के पश्चात ही इतना विशाल तथा गूढ़ार्थ महाकाव्य रच डाला। इस सन्दर्भ में महाभारत में अनेक उदाहरण मिलते है जिसमें वेदों के अध्ययन का महर्षि व्यास द्वारा किया गया अञ्यास स्पष्ट होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में वेद पाठ हेतु प्रेरित करने के उद्देश्य से महर्षि नारद का महर्षि व्यास के प्रति कथन है कि वेद पढ़कर उसका अञ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययन का दूषण है। यहां स्पष्ट रूप से वेदों के अञ्यास की बात कही गयी है। इसी प्रयास में पुनः भीष्म का युधिष्ठिर के प्रति यह कथन मिलता है कि महर्षि व्यास तथा उनके पुत्र शुकदेव दोनों ही वेदों का अञ्यास करने लगे। इसी पर्व में भीष्म द्वारा सांञ्य योग के अनुसार साधन तथा फल का वर्णन युधिष्ठिर के प्रति किया गया है जिसमें वेदों के विचित्र तथा नाना प्रकार के वचनों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार वेदों में वर्णित गायत्री मंत्र का भी उल्लेख महाभारत में मिलता है। इस सन्दर्भ में गायत्री जप की महिमा का उल्लेख करते हुए महात्मा वैशञ्यायन द्वारा राजा जनमेजय के प्रति कथन है कि गायत्री सभी वेदों का प्राण कहलाती है तथा इसके बिना सभी वेद निर्जीव हैं। इसप्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास को वेद, पुराण, उपनिषद, वेदादि का वृहत् ज्ञान था। जिसका चिन्तन, मनन करके उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का निरन्तर अञ्यास के पश्चात् ही महाभारत नामक महाकाव्य की रचना करने में समर्थ हुए।

अत: आचार्य मम्मट के द्वारा रचित काव्य प्रकाश के आधार पर स्पष्ट होता है कि महर्षि व्यास 'महाकवि' के पद को सार्थक करते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अंतिम अध्याय '**उपसंहार**' है। इसमें परम्परागत आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के अतिरिक्त महाभारत में श्रीमद्भगवद गीता, विष्णु सहस्त्रनाम्, अनुगीता, भीष्मस्तवराज दर्शन, गजेन्द्र मोक्ष जैसे दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इनमें गीता उपनिषदों का सार है जिसमें ज्ञान योग, भक्ति योग एवं कर्मयोग का समन्वय किया गया है। विष्णु सहस्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज और गजेन्द्र मोक्ष किसी न किसी रूप में उपनिषद एवं गीता की धाराओं से जुड़े हुये हैं और वैष्णव दर्शन का प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम अध्याय

महाभारत में पंचरत्नों का परिचय

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा सनातन धर्म का एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नों का भण्डार है। यह भारतीय लौकिक साहित्य में वाल्मीकीय रामायण की परवर्ती द्वितीय रचना है। रामायण तथा महाभारत न केवल विशालकाय आर्षकाव्य है अपितु वे हमारे प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महाभारत में भारतीय जीवन शैली की समग्र और यथार्थ प्रस्तुति मिलती है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों, विचारधाराओं परञ्पराओं तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की प्रचुर सामग्री संग्रहीत है। महाभारत केवल अपने रचनाकाल के जीवन मूल्यों और घटनाओं का ही निदर्शन नहीं कराता अपितु यह आधुनिक युग के जीवन मूल्यों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना पहले था और भविष्य में भी उतना होगा। यह न केवल प्राचीन संस्कृत महाकवियों को अपितु आज के अनेक भाषाओं के रचनाकारों को काव्य सृष्टि हेतु निरन्तर आकृष्ट कर रहा है। इसकी उपजीव्यता व्यक्त करते हुए स्वयं महर्षि व्यास का कथन है -

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।[1]

सर्वेषां कविमुञ्यानामुपजीव्यो भविष्यति।

पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।[2]

महर्षि व्यास ने इसके महत्त्व और आकार-गौरव के कारण ही इसे 'महाभारत' कहा है, यथा - **महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।**[3]

विद्वानों ने महाभारत को एशिया भूखण्ड की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड स्वीकार किया है, जो संस्कारवान् मनुष्य सभी अङ्गों सहित चारों वेदों और उपनिषदों को अच्छी तरह जानता हो किन्तु महाभारत को नहीं जानता, उसे विद्वान् (विचक्षण) नहीं कहा जा सकता -

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।

न चाञ्यानमिदं विद्यात्नैव स स्याद्विचक्षणः।।[4]

महाभारत इतिहास तथा काव्य होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी है। इसी कारण इसे मानव जीवन अथ च प्राणिमात्र अथवा चराचर जीव-जगत् का समग्र शास्त्र माना गया है, यथा -

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत।

कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना।।[5]

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परञ्च।

मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना।।[6]

महर्षि वेद व्यास का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि जो इस महाभारत में है, वह अन्यत्र भी है किन्तु जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है -

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।[7]

महर्षि वेद व्यास द्वारा विरचित 'पंचम वेद' की मान्यता वाला यह विशाल ग्रन्थ 'कार्ष्णवेद' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।[8]

वैष्णवधर्म के परवर्ती विकास में भी महाभारत एवं शान्तिपर्व की अद्वितीय भूमिका थी क्योंकि राम और कृष्ण के रूप में विष्णु की निश्चित और साकार अवधारणा और 'सर्वशक्तिमान ईश्वर' के रूप में उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा शान्तिपर्व की विषय वस्तु में ही अधिक व्यवस्थित रूप में देखने को मिलती है। यद्यपि महाभारत में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक–नैतिक पक्षो का आंशिक अध्ययन अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है किन्तु महाभारत के प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की सञ्यक विवेचना अभी बाकी है। महाभारत में जहाँ एक ओर जनजातीय वर्ण विभाजन एवं राज्य पर आधारित समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्म एवं दर्शन की विविध धारायें भी विद्यमान है। वर्तमान शोध का लक्ष्य महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की विवेचना है जिसमें वैदिक–अवैदिक एवं आस्तिक–नास्तिक दोनों धारायें सञ्मिलित है। इनमें गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णु सहस्त्रनाम् एवं गजेन्द्रमोक्ष जैसे दर्शन सञ्मिलित हैं।

1. श्रीमद्भगवद्गीता

गीता ने मानव का सर्वांगीण विकास चाहा है। ज्ञान के द्वारा बौद्धिक और मानसिक विकास एवं शाश्वत शांति का उपदेश उसका मुञ्य प्रयोजन है। उसमें ज्ञान की महिमा है। यह ज्ञान केवल बुद्धिगञ्य नहीं, अपितु हृदयगञ्य और भावगञ्य भी है।

कुन्तक ने चतुर्वर्ग के आनंद से आगे बढ़कर काव्यामृत रसास्वाद दर्शाया है। इसलिए गीता का सृजन केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि प्रयोजनार्थ है।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत मेको देवो देवकीपुत्र एव।

एको मन्त्रस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा।।[9]

'मध्ये महाभारतम्' महाभारत के बीच ही भीष्मपर्व में गीता का संवाद प्रस्तुत है। इस महाकाव्य का सार सर्वस्व ही जैसे कि गीता हो, ऐसे अनेक उत्तम चरित्र, उनके संवादादि महाभारत में होते हुए भी, युद्ध का प्रमुख प्रसंग जो देश के इतिहास पर असरकर्ता और महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। उसी वक्त गीता का उपदेश प्रस्तुत हुआ। गीता के कारण ही महाभारत का अर्थ गांभीर्य घनिष्ठ बना। महाभारत को पंचमवेद मानने में और 'जो महाभारत में है, वह सर्वत्र है, जो वहाँ नहीं, वह कहीं नहीं' ऐसे कहलाने में गीता के अर्थ गांभीर्य का सबसे ज्यादा हिस्सा है।[10]

प्रस्तुत उक्ति को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि 'जो गीता में है, वह महाभारत में है और जो महाभारत में नहीं, वह कहीं भी नहीं। महाभारत में विभिन्न कथाएँ और प्रसंगों का आश्रय लेकर उसके साररूप प्रस्तुत किया गया है, जबकि गीता में कथावस्तु का आधार न लेते हुए शुद्ध चिंतन के प्रदेश में गीता अवगाहन करती है। कभी तो ऐसा भी होता है कि पाठक को युद्ध प्रसंग की ही विस्मृति हो जाती है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि वह आध्यात्मिक संवाद जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसमें पड़ा नाट्य तत्त्व अदृश्य होता जा रहा है। युद्धभूमि के प्रतिघोष का शमन होता है और मानो ईश्वर और मानव की मुलाकात चलती हो ऐसा हमें क्षणभर लगता है।

महाभारत के अठारह पर्वों के बहुविध विषयवस्तु के बीच सात सौ श्लोकों का यह ग्रंथ सुशोभित हो रहा है। महाभारत के भीष्मपर्व अध्याय 25 से 42 में गीता का प्रतिष्ठापन एक काव्य ग्रंथ के रूप में हुआ है, किन्तु अध्यात्म ज्ञान, तत्त्व चिंतन और धर्म के सिद्धांतों की तात्त्विक चर्चा के बाहुल्य और प्राधान्य के कारण काव्य रुप में वह शनैः शनैः गौण बनती गई और तत्त्वज्ञान एवं धर्मग्रंथ के रूप में वह प्रस्थापित हुई। महाभारत का अंतर्भाग होते हुए उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र है। लोकहृदय में उसकी प्रतिष्ठा है। वाचस्पति गैरोला का कथन है कि 'सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व आदि गीता की विशेषताएँ हैं जो वेद और उपनिषद् में है, किन्तु उसे जो व्यापक स्वरूप से प्रस्तुत किया है वह गीता की अपनी विशेषता है।[11]

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथम श्लोक दोनों प्रकार के भौतिक विश्व को स्पष्ट करता है। 'धर्मक्षेत्र' और 'कुरुक्षेत्र' यह दोनों शब्द अति महत्त्वपूर्ण है। यह विश्व प्रवृत्तियों की दौड़ का क्षेत्र है। संघर्ष और संग्राम से भरपूर है, साथ ही वह न्याय और नीति का क्षेत्र है। इसलिये कुरुक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र है।

ब्रह्मर्षि वाल्मीकि के द्वारा कौंचवध के प्रसंग पर दिये गये शाप का असर रामायण का निमित्त बनी।[12] क्रोंच पत्नी की वेदना वाल्मीकि के हृदय को आरपार कर गई। वाल्मीकि ने अपने

शिष्य के समक्ष अपनी वेदनायुक्त मनोदशा का स्वपृथक्करण किया है। 'शोक संतृप्त का अर्थात् मेरा शोक श्लोक के सिवा कुछ बने ही नहीं।[13] इसके परिणाम स्वरूप आदिकाव्य रामायण विश्व को मिला। गीता के निर्माण में भी ऐसी सहजोत्थ प्रेरणा ही निमित्त बनी है। कुरुक्षेत्र के समरांगण में अर्जुन के सारथि बनकर दिये गये श्रीकृष्ण का ऐसा विचार भी नहीं होगा कि युद्धाभिमुख करने के लिये उसे काव्यमय-तत्त्वज्ञान रूप उपदेश देना पड़ेगा। परिस्थिति आकस्मिक उद्भव हुई और स्वयंभू अंतःप्रेरणा से उसने अर्जुन को और अर्जुन के माध्यम से अर्जुन जैसी विषाद युक्त मनोदशा में रहे कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः। जैसे किसी भी विश्व मानव को अभूतपूर्व जीवन-संदेश प्रबोधित किया। वाल्मीकि का शोक जैसे श्लोकत्त्व तक पहुँचा ठीक ऐसे ही कृष्ण का यह व्यासरचित उपदेश गीता के स्वरूप में आविष्कृत हुआ। महाभारत के भीषण युद्ध प्रसंग के साथ यह आध्यात्मिक संवाद को बुनकर जो स्वाभाविकता खड़ी होती है, उसमें ग्रंथकार की गहरी सूझ का दर्शन होता है।

श्रीमद्भगवद गीता का सामान्य परिचय

'श्रीमद्भगवद्गीता' का भारतीय साहित्य, संस्कृति और धर्म में अद्वितीय स्थान है। आज भले ही हिन्दू समाज पर श्रीमद्भगवद्गीता का पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा हो फिर भी इतना तो सर्वमान्य है कि इसकी शिक्षाओं का प्रभाव हिन्दू धर्मानुयायियों के मानस-पटल पर अंकित है। यदि रामचरितमानस के समकक्ष कोई ऐसा धर्मग्रन्थ हो, जो अत्यन्त लोकप्रिय हो और जिससे अध्यात्म, धर्म तथा आचार के मूढ प्रश्नों पर सूक्ष्म, परन्तु हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी भाषा में स्पष्ट वर्णन किया गया हो, तो निश्चय ही यह गौरव केवल (गीता) 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ से आज भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में सभी शास्त्रों का सारभूत है।[14] इसी कारण देश के सभी विद्वानों ने इसका अध्ययन कर अपने हृदय को मन्त्रमुग्ध किया।

भारत एक अति विस्तृत और विशालतम देश है। इसकी विशालता के साथ-साथ इसके धार्मिक और दार्शनिक साहित्य भी अनेक हैं, जिनकी व्याज़्या और विवेचन करना एक असंभव कार्य है। फिर भी भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करने के और उसकी आधुनिक प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मात्र श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन पर्याप्त है। किसी अन्य के नहीं बल्कि भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में इसमें उपलब्ध समस्त ज्ञान विश्व को धारण करने में समर्थ है। आचार्य शंकर ने इस ग्रन्थ को वेदों का सार माना और इसके उच्च आदर्शों की प्रशंसा की है। आचार्य शंकर ने अपनी गीता भाष्य की भूमिका में लिखा है कि गीताशास्त्र सज़्पूर्ण वेदार्थ का सार

संग्रह रूप है, इसी कारण इसका अर्थ समझने में अत्यन्त कठिनाई होती है।[15] अनेक भाष्यकारों ने इसके विरोधी अर्थ प्रस्तुत किये हैं, जिससे वास्तविक अभिप्राय को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। **गीताशास्त्र का प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है**, जो इसके अर्थ के ज्ञानाभाव के कारण असञ्भव है। गीता का विशिष्ट प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् सभी पुरुषार्थों की सिद्धि है। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन प्रवृत्ति और निवृत्ति गीता शास्त्र ने बताये हैं।

यदि देखा जाये तो विश्व साहित्य में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का अद्वितीय स्थान है। यह साक्षात् भगवान के मुख से निकली दिव्य वाणी है।[16] इसमें भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए उपदेश दिया है। इस संसार में ईश्वर ही अनन्त है। उसके मुख से निकली हुई गीता रूपी वाणी भी अनन्त है, इसका अन्त हो ही नहीं सकता। इस पर अनेक टीकाएँ है। इस टीका के अनुसार मनुष्य का कल्याण तो हो सकता है, पर वह गीता का अर्थ नहीं जान सकता। आज तक गीता पर लिखी गयी टीकाओं को एकत्रित कर दे, फिर भी गीता का अर्थ पूरा नहीं होगा। जैसे कुएँ से सैकड़ों वर्षों तक असंज्य आदमी जल पीते हैं, तो भी उसका जल वैसा का वैसा ही रहता है, ऐसे ही असंज्य टीकाएँ लिखने पर भी उसमें हर क्षण नवीनता का आभास होता है। उसके भावों का अन्त नहीं होता। कुएँ के जल की तो सीमा है पर गीता के भावों की कोई सीमा नहीं है। अतः गीता के विषय में चाहे कोई कुछ भी कहें तो वह केवल उसकी बुद्धि का ही परिचय है। गीता उपनिषदों का सार है, पर वास्तव में गीता की बात उपनिषदों से भी विशेष है। वेद भगवान के निःश्वास है, और गीता भगवान की वाणी है। निःश्वास तो स्वाभाविक होते है पर गीता भगवान ने योग में स्थित होकर कही है। यहाँ पर योग युक्त कहने का तात्पर्य है कि सुनने वाले का हित किसमें है। उसके हित के लिए क्या कहना चाहिए। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर गीता कही गयी है। इसलिए भी गीता का विशेष महत्त्व है। सभी दर्शन गीता के अन्तर्गत आ जाते हैं, पर गीता किसी भी दर्शन के अन्तर्गत नहीं है। दर्शनशास्त्र में जगत् क्या है, जीव क्या है, ब्रह्म क्या है-यह पढ़ाया जाता है। परन्तु गीता पढ़ाई नहीं कराती, प्रत्युत अनुभव कराती है।

गीता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य में 'प्रस्थानत्रयी' शब्द प्रसिद्ध है। 'प्रस्थानत्रयी' इस देश के सर्वोच्च आध्यात्मिक साहित्य का नाम है, प्रस्थान का अर्थ है 'जीवन की यात्रा में प्रस्थान।' इस प्रकार जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत साहित्य में तीन ग्रन्थ हैं उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन। ये तीनों संस्कृत के अमर ग्रन्थ हैं। तीनों का लक्ष्य मानव जीवन को सोद्देश्य बना देना

है। उपनिषद् के हिन्दी भाष्य, 'प्रस्थानत्रयी' में द्वितीय स्थान 'गीता' का है। गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। भीष्मपर्व में 25 से 42 तक जो 18 अध्याय है, वे ही गीता कहलाते हैं। 'महाभारत' के रचयिता वेदव्यास, इसलिए 'गीता' के रचयिता भी वेदव्यास ही हैं।

भारतीय दर्शनों में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का अति महत्व है। भारतीय संस्कृति में वैसे तो अनेक समन्वय हुए है, परन्तु उनमें सर्वप्रमुख एवं महत्वपूर्ण वैदिक समन्वय है। वेदों में मनुष्य का मनोमय पुरुष जो दिव्य, ज्ञान, शक्ति, आनन्द, जीवन और महिमा में लीन रहकर विशाल क्षेत्रों में विहार करते हुए देवताओं की विश्वव्यापी स्थिति के साथ समन्वित रहता है। इन देवताओं को उसने जड़प्रकृति जगत के प्रतीकों का अनुसरण करते हुए उस श्रेष्ठतम् लोकों में पाया जो भौतिक इन्द्रियों और स्थूल मन बुद्धि से छिपे हुए है। उपनिषदों के पूर्व ऋषियों की इस चरम अनुभूति को ग्रहण किया जो आध्यात्मिक ज्ञान का एक महान और गंभीर समन्वय साधने का उपक्रम करती है, सनातन पुरुष से प्रेरणा पाने वाले मुक्त ज्ञानियों ने आध्यात्मिक अनुसंन्धान के दीर्घ काल में जो अनुभव किया, उस सबको उपनिषदों ने एकत्र कर महान समन्वय के अन्दर ला दिया। इसी वेदान्त समन्वय से ही 'गीता' का आरम्भ होता है। इस 'श्रीमद्भगवद्गीता' में जो 'श्रीमद्' अर्थात् सर्वशोभासम्पन्न है, और जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान और वैराग्य ये छः भाग नित्य विद्यमान रहते हैं, भगवान के मुख से निकली हुई होने के कारण इसको 'श्रीमद्भगवत्' कहा गया है। जब मनुष्य आनन्द में होता है तब उसके मुख से स्वतः गीत निकलता है। भगवान् ने इसको इसी आनन्द में आकर गाया है, इसलिए इसका नाम 'गीता' है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में नियमानुसार इसका नाम 'गीतम्' होना चाहिए था, यद्यपि उपनिषद् स्वरूप होने से स्त्रीलिङ्ग शब्द 'गीता' का प्रयोग किया गया है। इसलिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' नाम से लोकप्रिय हुई है। भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में गीता का महत्त्व अन्य धार्मिक ग्रन्थों से कम नहीं है। इस ग्रन्थ को प्राचीन काल से ही अत्यधिक प्रशंसा मिली है, और अब इसकी लोकप्रियता जन-जन में बढ़ती जा रही है। भारत के धार्मिक क्षेत्रों में भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। कहा गया है कि 'गीता में उपनिषद् रूपी गौओं का दुग्ध श्रीकृष्ण द्वारा दुहकर एकत्र कर दिया गया है, अर्जुन रूपी बछड़ा इसे दुहने की क्रिया का निमित्त मात्र है, उसका भोक्ता कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति हो सकता है।'[17]

परम्परानुसार उपनिषद् साहित्य श्रुति और भगवद्गीता स्मृति है। धार्मिक परम्परा में श्रुति का वही स्थान होता है, जो लौकिक ज्ञान में प्रत्यक्ष का। भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण माना जाता है। स्मृति का स्थान अनुमान के बराबर है। किन्तु हिन्दुओं के धर्म साहित्य में अनेक स्मृतियों

का महत्त्व है, जिसमें मनुस्मृति श्रेष्ठ है। हिन्दुओं के मतानुसार मनुस्मृति अतिविशिष्ट है। उक्त स्मृति तथा दूसरे स्मृति ग्रन्थों में मुज़्यतः वर्णाश्रम धर्म का वर्णन है। किन्तु हिन्दू धर्म की वर्णव्यवस्था दूसरे धर्म के लोगों और देशों को अमान्य है। इसके विपरीत भगवद्गीता का अनुवाद प्रायः विश्व की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में हुआ है और उससे अनेक विदेशी विचारकों ने प्रेरणा ली है। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों मिलकर 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं। ये आस्तिक हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसका समर्थन वेदान्त के विभिन्न आचार्यों ने किया है। अनेक आचार्यों ने इन तीनों पर कुछ ने दो पर अपनी दृष्टि से भाष्य ग्रन्थ लिखे हैं।

स्वयं भारतवर्ष के प्रचुर धार्मिक साहित्य में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का स्थान अद्वितीय है। वास्तव में यदि किसी ग्रन्थ को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है तो वह 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही है। संभवतः 'गीता ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ कर्ममय जीव को महत्त्व प्रदान किया गया है।[18] यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में जब स्वतन्त्रता सैनिकों को प्रेरणा की जरूरत महसूस हुई तो उन्होंने उपनिषदों को नहीं, अपितु 'श्रीमद्भगवद्गीता' को ज्ञान का स्त्रोत बनाया। यहाँ हम कह सकते हैं कि गीता पढ़ने और समझने से धर्म की बाते मालूम पड़ती है, सब प्रकार के ज्ञान की वृद्धि होती है, सभी शास्त्रों के तत्वों की जानकारी मिलती है, इसलिए गीता सब शास्त्रों में श्रेष्ठ है। 'गीता की सृष्टि ऐसे समय हुई जब श्रीकृष्ण ने देखा युद्ध के समय अर्जुन अत्यधिक व्याकुल थे, उसी समय भगवान ने अमृतभरे उपदेश दिये, उन्होंने देखा कि अर्जुन हृदय से क्षत्रियता का भाव समाप्त हो गया था। वह क्षत्रियों के कर्म को भूलकर, रणभूमि से भाग जाना चाहता था।[19] ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपेदश देकर उसके अस्थिर मन को शान्त कर पुनः युद्ध के लिए प्रेरित किया[20], इन उपदेशों को सुख शान्ति में बैठे हुए मनुष्य यदि ध्यान देकर पढ़ें तो इससे उसका ज्ञान अधिक बढ जायेगा। धर्म और कर्म के तत्वों को अच्छी तरह से समझ सकेगा। महाभारत की घटना अनुमानतः पाँच हजार वर्ष पूर्व की है। यह घटना पाँच हजार वर्ष पूर्व होते हुए भी आज भी नवीन है। युद्ध के लिए दोनों सेनाओं के बीच जाकर अर्जुन की दशा को देखकर श्रीकृष्ण ने सोचा, यदि इस समय अर्जुन को ब्रह्मज्ञान नहीं कराया तो मोह, शोक से यह घिर जायेगा। यही सोचकर श्रीकृष्ण भगवान ने समस्त वेदों का सार ब्रह्मज्ञान साधनों सहित अर्जुन को सुनाने लगे। भगवान ने यहाँ जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर अर्जुन की आँखे खोली, और उसे धर्म में लगाया, उसी का नाम 'गीता' है। गीता नामक धर्मग्रन्थ का यही यथार्थ परिचय है।

गीता ज्ञान का भण्डार है। गीता धर्ममयी, सर्वशास्त्रमयी और सब प्रकार के तत्वज्ञानों से भरी हुई है। गीता का एक-एक श्लोक, एक-एक पद, यहाँ तक कि एक-एक अक्षर भी ज्ञान से शून्य नहीं है। यह योगशास्त्र का विषय है। इसमें एकमात्र ब्रह्मविद्या का निरूपण है। इस ग्रन्थ के सभी श्लोक मंत्र है। सञ्पूर्ण गीता ज्ञाननिष्ठा से परिपूर्ण है, ज्ञान निष्ठा ही मोक्ष का कारण है। बिना ज्ञाननिष्ठा से मुक्ति नहीं मिलती है, परन्तु ज्ञाननिष्ठा से पहले उपासना और उपासना के पहले कर्मयोग या कर्मनिष्ठा की आवश्यकता होती है। अतः कर्म उपासना, ज्ञान तीनों ही मोक्ष के कारण है। इन तीनों में से किसी एक के बिना काम नहीं चल सकता। तीनों साधनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना, ज्ञान के बिना, केवल कर्म से काम नहीं चलता है, इसी तरह ज्ञान के बिना केवल कर्म और उपासना से भी काम नहीं चलता। कहने का तात्पर्य है कि तीनों में से एक के न रहने पर शेष दोनों बेकार है। ये सदा एक-दूसरे के पूरक है। इन दोनों में भी भेद है कि कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और उपासना से चित्त एकाग्र होता है, और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्मकाण्ड, दूसरे छः अध्यायों में उपासना का वर्णन और शेष के छः अध्यायों में ज्ञान का वर्णन है। इस तरह 18 अध्यायों और 700 श्लोकों में गीता का वर्णन है। जब मनुष्य कर्मयोग और उपासना का सञ्पूर्ण अध्ययन कर लेता है तब ज्ञाननिष्ठा उसका मुज़्य ध्येय हो जाती है। जब ज्ञाननिष्ठा का अध्ययन कर लेता है, तब उसके सारे दुःखों का नाश हो जाता है, और उसको परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

जिस तरह वेद में कर्म उपासना और ज्ञान का निरूपण किया जाता है, उसी तरह गीता में भी कर्म, उपासना और ज्ञान का निरूपण किया जाता है। गीता में ऊँच नीच का भेद नहीं है। गीता का मुज़्य उपदेश है 'आत्मा सब में समान है' सभी ब्रह्म है और जीव तथा ब्रह्म में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की भलाई के लिए जिस तरह यह ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, अर्जुन ने जिस भाँति इन उपदेशों को ध्यान से समझकर अपना कर्म ठीक से किया। उसी प्रकार महर्षि वेदव्यास ने भी जगत् के उपकार के लिए, यह विचार किया कि कुछ दिनों बाद ऐसा समय आयेगा कि लोग वेद को समझ नहीं सकेंगे और ब्रह्मविद्या को भी नहीं जान पायेंगे, इसी को ध्यान में रखकर भगवान के मुख से निकले ब्रह्मज्ञान को यथास्थान रखकर अपने द्वारा रचित महाभारत के 'भीष्मपर्व' में जोड़ दिया और उसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' रख दिया था। इसमें सन्देह नहीं है कि गीता अलज़्य ग्रन्थ है, इसके समान उपदेश पूर्ण और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसके प्रमाण स्वरूप में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं गीता के आश्रय पर ही रहता हूँ, गीता ही मेरा परमोत्तम घर है और मैं गीता

के ज्ञान का आश्रय लेकर ही त्रिलोकों का भरण-पोषण करता हूँ। यह जो गीता है स्वयं परब्रह्म रूप चिदानन्द श्रीकृष्ण ने अपने मुख से अर्जुन को सुनायी है, इससे वह वेदत्रयी रूप, कर्मकाण्डमय और सदा आनन्द तथा तत्व ज्ञान की देन है। यह गीता का उपदेश एक तीखे नैतिक अर्न्तद्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। इसके उपदेश की नाटकीय परिस्थिति उसे प्रत्येक ईमानदार अन्वेषक और जिज्ञासु के लिए महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय बना देती है। गीता के उपदेशों में समन्वय की भावना है जो अत्यधिक उदार है। उसमें किसी भी धर्म के मानने वालों के लिए रोचक एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता में साञ्प्रदायिकता की प्रवृत्ति नहीं होने से यह सब प्रकार के पाठकों को आकृष्ट करती है। गीता का स्थान विश्व के बड़े धर्मग्रन्थों में है। आज के युग में माना जाता है कि गीता एक असाञ्प्रदायिक, सभी धर्मों को जोड़ने वाली एक अद्‌भुत ग्रन्थ के रूप में उभर कर सामने आयी है। जो विश्व के धार्मिक और अधार्मिक विचारधारा के लोगों को आकृष्ट करती है।

गीता उपनिषदों का सार है। गीता ध्यान में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा गया है कि भगवद्‌गीता अर्थात् 'भगवान द्वारा गाया उपनिषद्' इससे स्पष्ट होता है कि सब उपनिषद मानो गाय है ग्वालों का परम प्रिय श्रीकृष्ण इन गायों को दुहने वाला है, अर्जुन बछड़ा है, इस रस को पीने वाला हर व्यक्ति है। यह जिज्ञासु जिस अमृत का पान करता है, वह गीता गौमाता का महान ज्ञानामृत रूपी दूध है।[21] उक्त कथन का अभिप्राय है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है, इसकी धारा अमरत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है। जो इस अमृत का पान करें वही अर्जुन है। गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह प्रधान रूप से भागवत धर्म भगवान द्वारा चलाये हुए धर्म के विषय में ही है।[22] भागवत धर्म का प्रतिपादन वासुदेव कृष्ण ने किया है। श्रीकृष्ण को श्रीभगवान का नाम प्रायः भागवत धर्म में ही मिला है। यह नया उपदेश नहीं है। पूर्वकाल में यह उपदेश भगवान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। यह बात गीता के चौथे अध्याय के श्लोक में कही गयी है।[23] भागवत धर्म कर्म प्रधान है, इसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों के द्वारा हो सकती है। भागवत् धर्म के अनुसार ज्ञानमार्ग कठिन मार्ग है, सर्वसाधारण जन के लिए सुलभ नहीं है, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग है। इसका अनुसरण सभी करते हैं, भागवत् धर्म में तप और यज्ञ के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गयी है और यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म के बन्धन से मुक्त होना आवश्यक है। कर्मों के फल से मुक्ति ईश्वर की कृपा द्वारा ही संभव है और ईश्वर की कृपा पाने के लिए ईश्वर भक्ति अति आवश्यक है। सारांश यह है कि उपर्युक्त कथनों से ऐसा लगता है कि गीता में अर्जुन के उपदेश

दिया गया है वह विशेष करके मनु इक्ष्वाकु के समय से परम्परा चली आ रही है। भागवत पुराण का भागवत् धर्म और महाभारत का नारायणी धर्म दोनों एक ही है। इसका समर्थन महाभारत में और विशेष करके गीता में किया गया है। व्यास जी जब महाभारत की रचना कर रहे थे, तब भागवत् धर्म की भक्ति को भूल गये थे। गीता व्यास जी द्वारा कृत, उनकी योग्यता, सामर्थ्यता और ज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि 'गीता एक उस गुलदस्ते की तरह है जिसमें उपनिषदों के धार्मिक सत्य संग्रहित है।'एनीबेसेन्ट के अनुसार 'महाभारत की अनमोल शिक्षाओं का अमूल्य संग्रह भगवद्गीता में है।'

प. मदन मोहन मालवीय के कथनानुसार मेरा मानना है कि मानव के सम्पूर्ण इतिहास श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व गहन और अतिमहत्वपूर्ण मानव शक्ति से परिपूर्ण है और संसार की सजी जीवित भाषाओं में भगवद्गीता जैसी सत्य और ज्ञान में पिरोयी हुई सरल पुस्तक विश्व में कोई नहीं है।

इस अति विशिष्ट पुस्तक में 18 अध्याय है जो वेद उपनिषदों के वर्णन से परिपूर्ण है। आज के युग में और आने वाले युग में सम्पूर्ण प्रसन्नता के मार्गदर्शक के रूप में प्रसिद्ध है। यह मानव जगत की उच्च समृद्धि के लिए त्रिआयामी ज्ञान, कर्म, सेवा का उपदेश देती है। यह उच्चतम ज्ञान, शुद्धत्तम प्रेम और प्रकाशवान कर्म का बोध मानव को कराती है। यह आत्मसंयम, त्रिआयामी कठोर तपस्या, अहिंसा, सत्य, त्याग, निष्काम कर्म और अधर्म, असत्य के विरुद्ध लड़ाई की शिक्षा देती है।

एम.हिरियन्ना के विचारनुसार लोकप्रियता के सम्बन्ध में गीता का विश्व में भारतीय विचारकों के अनुसार प्रथम स्थान है। गीता के उपनिषदों के दायरे में कठोर कार्य का नया दर्शन स्थापित किया। गीता का लक्ष्य धार्मिक जीवन के सम्पूर्ण नीतिशास्त्र का एक अनोखा पहलू यह है कि यह आचारिता सिद्धान्त से मुक्त होकर आत्मनीति की स्वराजिता को महत्त्व देती है। मूलग्रन्थानुसार गीता प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य महाभारत का एक मुख्य अंग है। भीष्मपर्व के 25वें अध्याय से 42वें अध्याय तक है। इसे भारतीय विचारों, संस्कृति, दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वलौकिक और सर्वकालिक ग्रन्थ माना जाता है, और जिसे सनातन धर्म कहते हैं।

अगर गीता की प्रशंसा की जाये तो वह कई ग्रन्थों में वर्णित है। तुलनात्मक धर्म के प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान जेनर ने भगवद्गीता के संदेश और स्वर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। राष्ट्र की मार्गों

को मन में रखते हुए ही लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने शंकर के व्याज़यान का खण्डन किया और गीता की नयी कर्मपरक व्याज़या की है। गीता की व्याज़या के लिए देश-विदेश में विस्तृत साहित्य की रचना हुई है। अभी ऊपर हमने तिलक और गांधी के कर्मयोग का वर्णन किया, उन दोनों के साथ-साथ स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द घोष का भी अधिक महत्त्व है। महर्षि अरविन्द के शब्दों में- गीता का अध्ययन केवल भाष्य संबंधी या विचार संबंधी सूक्ष्म परीक्षण नहीं है। न ही उसे मन की दौड़ में विश्लेषणात्मक, तत्त्वमीमांसीय मान सकते हैं। हम इसके समीप सहायता और प्रकाश के लिए जाते हैं और हमारा लक्ष्य इसके आवश्यक और जीवन्त संदेशों में अन्तर करना है जिससे मानवता का उच्च धार्मिक कल्याण हो सके। गीता पर श्री अरविन्द की एक लेखमाला '**एसे ऑन द गीता**' शीर्षक 'आर्य' पत्रिका है, जो सन् 1916-1920 तक प्रकाशित हुई जिसमें कहा गया है कि-'गीता नीतिशास्त्र या आचार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है। वास्तव में यह ग्रन्थ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योग का यह उपदेश कराता है, उसकी पद्धति व्यावहारिक है, और जो तात्विक विचार आये है वे इसके योग की व्यावहारिक व्याज़या करने के लिए है।.....इसमें ज्ञान और भक्ति के भवन को कर्म की नींव पर खड़ा किया गया है और कर्म को भी कर्म की जो परिसमाप्ति है उस ज्ञान में ऊपर उठाकर रखा गया है कर्म का पोषक उस भक्ति द्वारा किया गया है जो कर्म का प्राण है और है जहाँ कर्म उद्भूत होता है।

गीता का तात्पर्य है

गीता शास्त्र के तात्पर्य के संबंध में सदा इसके समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि यही एकमात्र मान्य मापदण्ड है, जो गीताशास्त्र के तात्पर्य को समझने में सहायक है। यहाँ यह कह सकते हैं कि गीता पर लिखे गये भाष्यों की संज़या बहुत अधिक है जिससे इसके तात्पर्य को समझना और मुश्किल हो गया है। इन भाष्यों में गीता का अर्थ स्पष्ट होने के बदले और अधिक दुरुह और दुर्बोध हो गया है। यहाँ अब इसके तात्पर्य को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया है। गीता शास्त्र की रचना हजारों वर्ष पूर्व हुई थी, काल के विषय में भी अनेक मत-मतान्तर है। गीता पर लिखे गये भाष्यों में मुज़य रूप से दो भाष्य उल्लेखनीय है, क्योंकि हिन्दू समाज में ये दो भाष्य, इसकी परज़रा के आधारभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले माने जाते हैं। ये दो भाष्य हैं- शंकर भाष्य और रामानुज भाष्य। अभी तक देखा गया है कि महाभारतकार के अनुसार गीता का क्या तात्पर्य है। कुछ भाष्यकारों और टीकाकारों ने गीता का तात्पर्य निश्चित ही वर्णित किया है। इन भाष्यकारों में आजकल श्री शंकराचार्यकृत गीताभाष्य अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि इसके

पूर्व भी गीता पर अनेक भाष्य और टीकायें लिखी जा चुकी है जो इस समय अनुपलब्ध है। इसी कारण से महाभारत के रचनाकाल से शंकराचार्य के समय तक गीता का अर्थ किस प्रकार किया जाता था। यद्यपि शंकर भाष्य में इन टीकाकारों का उल्लेख है, उससे साफ मालूम होता है कि शंकराचार्य के पूर्वकालीन टीकाकारों ने गीता का अर्थ, महाभारतकर्ता के अनुसार ही ज्ञानकर्म समुच्चय के आधार पर किया है अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति विषयक अर्थ लगाया जाता था कि ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ-साथ मृत्यु पर्यन्त स्वधर्म विहित कर्म करना चाहिए। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य को मान्य नहीं था, इसलिए उसका खण्डन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने के लिए उन्होंने 'गीता रहस्य' की रचना की है। यहाँ 'भाष्य' और 'टीका' का बहुधा समनार्थी अर्थ में प्रयोग किया गया है। टीका मूल ग्रन्थ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने को कहते हैं। परन्तु गीता के तात्पर्य के विवेचन में शंकराचार्य ने जो भेद किया है, उसके पूर्व की संक्षिप्त जानकारी अति आवश्यक है।

2. अनुगीता

श्रीमद्भगवद्गीता का युद्ध के समय का उपदेश महाभारत के अंतभाग में, आश्वमेघिक पर्व में कृष्ण-अर्जुन संवादरूप पुनःप्रस्थापित हुआ है जो 'अनुगीता' नाम से प्रज्यात है। अनुगीता ब्रह्म और जीवात्मा एवं इन्द्रियादि के विषयोपभोग की चर्चा विविध संवादों के द्वारा प्रस्तुत करती है। मूलतः व्यासजी को युद्ध घटना का सन्दर्भ छोड़कर, अब परमपद तक ले जानेवाले तत्त्व, अजुर्नरूपी मानव समाज तक पहुँचाने का उद्देश्य है। जिसके परिपाक रूप अनुगीता का प्रादुर्भाव हुआ।

आज हिन्दुस्तान भौतिकता की दृष्टि से प्रगति की दौड़ में है। आर्थिक महत्ता के मनोरथ हमारे राष्ट्र की नेम है। भौतिकता ने साधन बढ़ाये हैं, तब दुःख के साथ ये कहना पड़ता है कि विश्व सहज प्राप्त धर्मभावना को भुला रहा है।

हिन्दू धर्म की नींव आध्यात्मिक सत्यों पर आधारित है। ऋषियों ने और दृष्टाओं ने प्रत्यक्ष किये सनातन सत्यों की आधारशिला पर हमारी संस्कृति खड़ी है। उनमें विश्वधर्म बनने की योग्यता है। उनके सिद्धान्त उन्नत है, दर्शन भव्य है, विद्वेष, विसंवाद और युद्ध से बाधित जगत को एक सन्देश उन्हें देना है। वह सन्देश है विश्व प्रेम का, सत्य और अहिंसा का और चेतनापूर्ण आध्यात्मिकता का।

उपनिषदों में ऋषियों की जो धर्मानुभूति बुनी गई थी, उनसे प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को अलग करके उनकी व्यवस्था के लिये व्यासजी ने श्रुति, स्मृति और पुराणों की समाज को भेंट दी। महाभारत की रचना वेदव्यास की ही है, किन्तु कौरव-पाण्डव के पिता और सलाहकार ऐसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीनों के जन्मदाता भी व्यासजी हैं। इन तीनों के वंशों के द्वारा भारतीय युद्ध हुआ, जिसका अंत भी व्यासीजी ने देखा।

व्यासजी को हम हिन्दू धर्म के पिता मान सकते हैं। 'व्यक्ति का मोक्ष' और 'समाज का उद्धार' ये दोनों आदर्शों के प्रति अभेद बुद्धि से देखनेवाले, अज्युदय, निःश्रेयस दोनों का समन्वय साधनेवाले, अध्यात्म परायण व्यास के समान कोई अभी हुआ नहीं है। इसलिये हिन्दू धर्म ने उसे 'सत्यवादी दृढव्रत' कहा है। उनके ज्ञान के लिये दी अंजली में कहा गया है कि 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' और व्यास गिरा महाभारत को 'सार विश्वस्य' कहा है।

मुज्य बात ये है कि व्यासजी ने हिन्दू धर्म को बंधियार नहीं बनाया। मोक्ष ही जिसका आदर्श है, वह धर्म कभी बंधन परायण नहीं होता। पाणी बहता ही भला। हिन्दू धर्म का प्रवाह भी प्रवाहित रहकर ही शुद्ध रहता है। वही दीक्षा व्यासजी ने हिन्दू धर्म को दी है।[24]

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू धर्म का साञ्प्रदायिक ग्रंथ न बनकर विश्वधर्म को मजबूत करनेवाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है। गीता का धर्म आदर्श सेवी होते हुए व्यवहार से संकलित है। ऐसे ही गीता और महाभारत धार्मिक आदर्श पूरा करते हैं। अनुगीताकार आदर्शों को पुनः स्थापित करने के लिये इच्छुक है। इसके लिये वक्ता-श्रोता, कृष्ण और अर्जुन निमित्त है, किन्तु स्थान और समय में परिवर्तन है। महाभारत के 18 पर्वों में आश्वमेधिक पर्व अंतर्गत अनुगीता पर्व में व्यासजी ने अनुगीता में उपदेश दिया है जो महदंश श्रीमद्भगवद्गीता का अनुसरण करता है। अनुगीता पर्व अध्याय 16 से 51 कृष्णार्जुन संवाद ही अनुगीता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' और अनुगीता दोनों का मूलाधार महाभारत है, फिर भी दोनों की अपनी विचार दृष्टि है।

कुरुक्षेत्र के समारांगण में हतोत्साह अर्जुन को युद्धाभिमुख करने के लिये दिया गया उपदेश 'श्रीमद्भगवद्गीता' है तो महाभारत के विनाशकारी युद्ध के बाद युधिष्ठिर के सुरक्षित शासन में और द्वारका जाने से पहले अर्जुन को प्रबोधित तात्विक उपदेश अनुगीता में है। लेकिन ये भी सच है कि अनुगीता में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का पुनरावर्तन नहीं है, किन्तु दोनों की अपनी आलेखन शैली और विशिष्ट विचारसृष्टि है।

अर्जुन और उनके सारथि सखा, गुरु-कृष्ण का संवाद अनुगीता में पुनः तत्त्वार्थ स्वरूप में प्रस्तुत हुआ है। एक ही वक्ता-श्रोता होते हुए भी अनुगीता में उपेदश के समय दोनों की मानसिक भूमिका भिन्न है। भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट अनुगीता एक विशद ग्रंथ है। अलबत्त श्रीमद्भगवद्गीता का विश्व भव्य है, फिर भी अनुगीता आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अंतिम लक्ष्य तक ले जाती है।

गीताकार श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति है, किन्तु उनका बोध अनुगीता में अर्जुन को शांत करता है। कृष्ण का कार्य समग्र महाभारत में शांति स्थापना ही है, युद्ध प्रधान कथा होते हुए भी महाभारत का स्थायी भाव निर्वेद होने से, उनका मुज्य रस शांतरस है। कृष्ण का कार्य समग्र महाभारत में शांति की स्थापना का है। कृष्ण धर्म का जय चाहते हैं। इसलिये ही ऐसा अदभुत ग्रंथ उन्होंने दिया। श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन को युद्धाविमुख बनने के लिये जो संदेश देती है उसमें कर्म से पीछे हटना नहीं है। अनुगीता का विश्व भी आखिर में शांति और धर्मजय तक ले जानेवाला है।

महाभारत में समग्रतया कृष्ण ने धर्म की स्थापना की है, फिर वह श्रीमद्भगवद्गीता हो या अनुगीता। उनका मर्म, उनका उपदेश आध्यात्मिक उन्नति ही है। उसके लिये युगपुरुष श्रीकृष्ण पाण्डव के सारथि बनें। जब अनुगीता में श्रीकृष्ण स्वमुख से, अन्य प्रसंगों से अर्जुन को जीवन का लक्ष्य समझाते हैं। मानवजाति का इतिहास युद्ध मैदान पर गायी गई कृति है, तो अनुगीता युद्ध के बाद शांति के स्वप्न से, मोक्ष की ओर ले जानेवाला विरक्त काव्य है।

महाभारतकार ने युद्ध में मिली हुई विजय कितनी निर्वेदपूर्ण होती है, ये पाण्डवों के स्वर्गारोहण के द्वारा दर्शाया। आततायियों के उपद्रवों के कारण धर्मग्लानि हुई, इसलिये क्षात्रधर्म अर्जुन का स्वधर्म बना और धर्म की संस्थापना के लिये महायुद्ध की शरण ली गई।

सदियों के बाद महावीर स्वामी ने मानवजाति को एक सत्य दिखाया 'अन्य को जीतने के बजाय, स्वयं अपने आपको जीतें'। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का शस्त्र दिया। युद्ध किसी समस्या का हल नहीं, क्योंकि ये स्वयं एक बड़ी समस्या है। मिट्टी के तेल से आग बुझाने का प्रयत्न करना अयथार्थ है। युद्ध वस्तुतः मानवता का ही अपमान है। अनुगीता शांति का संदेश लेकर अर्जुन के द्वारा समग्र मानवजाति को जीवन साधना की ओर ले जानेवाला ग्रंथ है। अनुगीता में धर्म का सूक्ष्म स्वरूप वर्णित है। धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का सज्ञन्ध मूलतः एकता के साथ है। अनुगीता की यात्रा महाभारत की दृष्टि से स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जानेवाली है। अनुगीता की सूक्ष्म समझ में मानव

धर्मों की अनेकता का विलीनीकरण होता है और उनसे मानव-मानव को जोड़नेवाला आत्मसेतू रचा जाता है।

महाभारत में पांच रत्न है। श्रीमद्भगवद्गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णुसहस्रनाम् और गजेन्द्रमोक्ष। इन पाँचों में अनुगीता के विषय में किसी भी सुहृदय को ऐसी अपेक्षा रहती है कि 'अनुगीता' जैसे महाभारत के पंचरत्नों में से एक भागरूप काव्य विभाग को विशेष प्रसिद्धि क्यों न मिली? इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता को जितनी ज़्याति मिली है उतनी नहीं, लेकिन अनुगीता से प्रत्येक हिन्दुमानव परिचित बने ऐसा नम्र प्रयास यहाँ किया गया है।

वाल्मीकि का शोक जेसे श्लोकत्व से व्यक्त हुआ ऐसे ही अर्जुन की युद्ध के बाद की व्याकुलता के कारण अनुगीता प्राप्त हुई। श्रीकृष्ण और अर्जुन के जीवन में ऐसा प्रसंग महाभारत में ही आश्वमेघिक पर्व के अन्तर्गत निर्मित हुआ।

कौरव-पाण्डव युद्ध पूर्ण होने के बाद कृष्णमुख से आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग जानने से अर्जुन को हुई जिज्ञासा से उसने कृष्ण से प्रश्न किया।

'हे महाबाहो देवकी नंन्दन! जब संग्राम का समय उपस्थित हुआ, तब मुझे आपके माहात्म्य का ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ था, किन्तु हे केशव! मैत्री के वश होकर आपने मुझे जो ज्ञानोपदेश दिया था, वह सब इस समय, मेरा मन विचलित होने के कारण नष्ट हो गया था। अर्थात् ये सब मुझे विस्मृत हुआ है।[25] इसके विषय में मुझे पुनः जिज्ञासा होती है। आप तो हे माधव! कुछ समय के बाद द्वारिका जानेवाले हो, तो ये सब ज्ञान मुझे पुनः सुनाईये।[26]

उस वक्त अर्जुन ने कृष्ण को जो उत्तर दिया था वह 'अनुगीता' को एक उत्तम और अंतःप्रेरणा जनित सच्चे काव्य के रूप में सिद्ध करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

उस वक्त तुझे प्रबोधित धर्म ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिये ठीक से पर्याप्त था, इसलिये उसे उसी स्वरूप में देना मेरे लिये संभव नहीं है, उस समय मैंने योग युक्त बनकर, परमात्म तत्त्व का वर्णन किया था, अब तो उस विषय का ज्ञान तुझे देने के लिये मैं एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ।[27] श्रीकृष्ण का ये उत्तर उनकी प्रबुद्ध अवस्था को व्यक्त करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सृजन में योगयुक्त स्थिति कारणभूत थी, आज की स्थिति भिन्न है, युद्ध पूर्ण हो चुका है, पाण्डवों की विजय हुई है, युधिष्ठिर ने राजगद्दी संभाल ली है।

कहाँ समरांगण में 'न योत्स्ये' ऐसा कहकर शस्त्र त्यजने वाले अर्जुन की मनोदशा और कहाँ हस्तिनापुर के राज महल में प्रसन्न वातावरण में श्रीकृष्ण के साथ शांतचित्त से बातें करते स्वस्थ और निश्चिंत अर्जुन की मनोदशा?

दोनों की मानसिक स्थिति अब शांत है। इसलिये वह उपदेश, उसी भाषा में देना संभव नहीं, इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को 'पुरातन इतिहास'का एक कथानक कहकर अर्जुन की जिज्ञासा संतुष्ट करते हैं। श्रीकृष्ण के इस उद्‌बोधन्‌ को महाभारत में 'अनुगीता' कहा है।

महाभारत को विराट काव्य कहना चाहिये। उसमें बड़ों की कमी भी दर्शायी है और दुष्टों के गुण भी दर्शाये हैं। इस सन्दर्भ में महाभारत के अंत में आयी अनुगीता वस्तुतः महाभारत का विचार तत्त्व है।

हमारे शास्त्रों ने हमारे समाज को शंकराचार्य और बुद्ध जैसे महापुरुष को दिये, तो नरसिंह-मीरा और कबीर जैसे भक्तिमार्गी भी दिये। अनुगीता जैसे वैचारिक और ज्ञानमार्गी ग्रंथ जीवन में शाांति और ज्ञान प्रवाहित करते हैं। आत्मभाव की स्थिरता अनुगीता को अभिप्रेत है। अनुगीता मोक्ष और शांति की ओर ले जाती है। सोलहवें अध्याय में सबसे पहले अर्जुन कृष्ण को संग्राम के समय दिये गये उपदेश के विषय में पूछते हैं और जिज्ञासा व्यक्त करते हैं।[28]

उत्तर में कृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन! उस समय मैंने तुझे अत्यंत गोपनीय ज्ञान का श्रवण कराया था। मेरा स्वरूपभूत दिव्य सनातन पुरुषोत्तम तत्त्व का परिचय दिया था, किन्तु तुमने उसे विस्मृत कर दिया, अब उस ज्ञान का पूर्ण स्मरण संभव नहीं।[29]

एक समय एक ब्राह्मण स्वर्गलोक से मेरे यहाँ आये। मैंने उनसे मोक्षधर्म विषयक प्रश्न किये, उनके उत्तर में ब्राह्मण ने कहा कि प्राचीन समय में काश्यप नामक एक ब्राह्मण एक सिद्ध महर्षि के पास गये। महर्षि ने काश्यप को परासिद्धि संबंधी उपदेश दिया।

उसने कहा कि 'हे काश्यप! मैंने अनेक जन्मों, माता-पिता, धन आदि प्राप्त किया है। मैंने तन और मन की अनेकविधि वेदना सही है, मृत्युलोक में जन्म लेकर मैंने प्रचुर दुःखों की अनुभूति की है। इसलिये अंत में परमात्मा की शरण लेकर समस्त लोक व्यवहार का त्याग किया है। ऐसा कहकर महर्षि काश्यप ने इस अध्याय के अंत में कहा कि तुम मुझ से कल्याण विषयक प्रश्न पूछो।

अनुगीता का आरंभिक अध्याय मृत्युलोक की नश्वरता के विषय में कहकर कल्याणकारी मार्ग के विषय में आगे बढ़ता है। सिद्ध ब्राह्मण की इस तत्त्वचर्चा में अंतकाल में जीव की वेदनापूर्ण स्थिति, [30] जीव की शाश्वत[31] कर्म की प्रबलता[32] और जीव कैसे गर्भ में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है[33]

ये चर्चा प्रस्तुत है। अध्याय 18 से 51 में दानादि कर्मों की श्रेष्ठता, कर्मयोग की महत्ता, ब्रह्म विषयक चर्चा, सांज़्य सिद्धान्त, ज्ञानी को संसार में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' रहने के लिये मोक्ष प्राप्ति का उपाय और योगशास्त्र का वर्णन है। जब जीवों के पुण्य कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तब वे वहाँ से नीचे गिरते हैं। इस प्रकार बार-बार उनका आवागमन होता रहता है। स्वर्ग में भी उत्तम मध्यम और अधम भेद होता है।[34]

इस लोक में किये हुये शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगे बिना नाश नहीं होता। वे कर्मानुसार एक के बाद एक शरीर धारण कराकर अपना फल देते रहते हैं।[35]

उपभोग से प्राचीन कर्म का तो क्षय हो जाता है, और फिर दूसरे नये-नये कर्मों का संचय बढ़ जाता है, जब तक मोक्ष की प्राप्ति के सहायक धर्म का उसे ज्ञान नहीं होता तब तक यह कर्मों की परज़रा नहीं टूटती।[36]

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य शास्त्रोक्त रीति से वेदाध्ययन, इन्द्रिय निग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियों पर दया, चित्त का संयम, कोमलता, दूसरों का धन लेने की इच्छा का त्याग, संसार के प्राणियों का मन से भी अहित न करना, माता-पिता की सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओं की पूजा दया, पवित्रता तथा शुभ कार्यों का प्रयास करना-यह सब श्रेष्ठ पुरुष के लक्षण है।[37]

सत्पुरुषों में सदा ही इस प्रकार का धार्मिक आचरण देखा जाता है। उन्हीं में धर्म की अटल स्थिति होती है। सदाचार ही धर्म का परिचय देता है। धर्म के अनुसार व्यवहार करने वाला अपने कर्मानुसार उत्तम फल को प्राप्त करता है और धीरे-धीरे संसार सागर से पार हो जाता है।[38]

यह प्राकृत जगत क्षर कहलाता है, इससे भिन्न अविनाशी जीवात्मा को अक्षर कहते हैं। इससे विलक्षण शुद्ध पर ब्रह्म है इन तीनों में से जो दो तत्व क्षर और अक्षर हैं, वे सब प्रत्येक जीव के लिये अलग-अलग होते हैं।[39]

जन्म-मृत्यु एवं रोगों से घिरा हुआ जो पुरुष प्रधानतत्व (प्रकृति) को जानता है और समस्त चेतन प्राणियों में चैतन्य को समान रूप से व्याप्त देखता है, पूर्ण, वह परमपद के संधान में संलग्न हो जगत के भोगों से विरत हो जाता है।[40]

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों को अनित्य समझता है शरीर को अपवित्र वस्तुओं का समूह समझता है और मृत्यु को कर्म का फल समझता है तथा सुख रूप से प्रतीत होने वाला जो कुछ भी है वह सब दुःख ही दुःख है, ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार सागर के पार हो जाता है।[41]

मोक्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुये सिद्ध ब्राह्मण ने काश्यप से कहा है कि जो मनुष्य (स्थूल, और कारण शरीर में से क्रमशः) पूर्व अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौन भाव से रहकर एक मात्र अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा में लीन रहता है, वही संसार बन्धन से मुक्त होता है।[42]

जो सबका मित्र, सब कुछ सहने वाला, मनो निग्रह में तत्पर, भय और क्रोध से रहित तथा आत्मावान है, वह मनुष्य बन्धन से मुक्त हो जाता है।[43]

जो नियम परायण और पवित्र रहकर सब प्राणियों के प्रति अपने जैसे बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पाने की इच्छा नहीं है, तथा जो अभिमान से दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है।[44] जो जीवन-मरण, सुख-दुख, लाभ-हानि तथा प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्वों को सद्भाव से देखता है, वह मुक्त हो जाता है।[45]

जिसकी न धर्म में आसक्ति है न कि अधर्म में जो पूर्व संचित कर्मों को त्याग चुका है, वासनाओं का क्षय हो जाने से जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित है, वह मुक्त हो जाता है।[46]

जो किसी कर्म का कर्ता नहीं बनता, जिसके मन में कोई कामना नहीं है, जो इस जगत को नित्य नहीं समझता, जो इस सदैव जन्म, मृत्यु और जरा से युक्त मानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्य में लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषों पर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धन का नाश कर देता है।[47] जो आत्मा को गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह रूप से रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है।[48]

जिसकी दृष्टि में आत्मा पाँच भौतिक गुणों से हीन, निराकार, कारण रहित तथा निर्गुण होते हुये भी (माया के सम्बन्ध से) गुणों का भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है।[49] जो बुद्धि से विचार करके शारीरिक एवं मानसिक सब संकल्पों का त्याग कर देता है वह बिना ईंधन की आग के समान धीरे-धीरे शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[50] जो सब प्रकार के संस्कारों से मुक्त हो जाता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्मा को सिद्ध कर लेता है।[51]

योगशास्त्र में वर्णित योगसाधना करने वाले योगी पुरूष द्वारा जिन विधियों से आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है, उन पर प्रकाश डालते हुए सिद्ध ब्राह्मण ने काश्यप से कहा है कि इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर मन में और मन को आत्मा में स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या कर के फिर मोक्षोपयोगी उपाय का अवलम्बन करना चाहिए।[52] मनीषी ब्राह्मण को चाहिये कि वह सदा तपस्या में प्रवृत्त एवं प्रयत्नशील होकर योग शास्त्र में वर्णित उपाय का अनुष्ठान करे।[53]

जो साधक सदा संयम परायण योग युक्त मन को वश में करने वाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मा से प्रेरित होकर बुद्धि के द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है। साधना परायण योगी समाधि अवस्था में आत्मा को जिस रूप में देखता है, उसी रूप में उसके बाद भी देखना चाहता है।[54] देहधारी जीव एवं जब योग के द्वारा आत्मा का यथार्थ रूप से दर्शन कर लेता है उस समय उसके ऊपर त्रिभुवन के अधीश्वर का भी आधिपत्य नहीं रहता है।[55] वह योगी अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर सकता है, बुढ़ापा और मृत्यु को भगा देता है, वह न कभी शोक करता है, न दर्प।[56]

अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला योगी पुरूष देवताओं का भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीर का त्याग करके अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त होता है।[57] काश्यप एवं सिद्ध पुरूष के इस कथानक के पश्चात् वासुदेव कृष्ण स्वयं अर्जुन को समझते हैं कि जिसका चित्त व्यग्र है, जिसे ज्ञान का उपदेश नहीं प्राप्त है, वह मनुष्य इस विषय को सुगमता से नहीं समझ सकता। जिसका अन्त:करण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है।[58]

श्री कृष्ण कहते हैं कि जो सनातन ब्रह्म है वही जीव की परम गति है। सभी पुरूष देह को त्याग कर उस ब्रह्म में ही अमृतत्व को प्राप्त होते हैं और सदा के लिये सुखी हो जाते हैं।[59] योगी और आत्मा के लक्षण अनुगीता और श्रीमद्भगवद्गीता में समान वर्णित किये गये हैं। इस अध्याय में खाया हुआ अन्न उदर में कैसे पहुँचता है और उसका रक्त कैसे बनता है? शरीर की वृद्धि कैसे होती है और 'वासोच्छ्वास कैसे विद्यमान है इसके विषय में चर्चा है।[60]

20 से 34 अध्याय तक अनुगीता में ब्राह्मणगीता समाविष्ट है। वस्तुतः उसमें भी कृष्णार्जुन संवाद ही धुरी है जो अनुगीता का द्वितीय चरण है। यहाँ एक ब्राह्मण अपनी पत्नी को योग का महत्त्व दर्शाता है। यज्ञ की परिभाषा देकर, जीवन में जलकमलवत् रहकर परमात्मा प्राप्ति का संदेश है। यहाँ अमरीष राजा का दृष्टांत देकर मन-बुद्धि का संगम और जनक-विदेही की कथा से मोहत्याग का निरूपण है। यहाँ कर्म की व्याख्या देते हुए कहा है कि संसार में जो ग्रहण करने योग्य दीक्षा, व्रत आदि है एवं स्थूल कर्म है, कर्मज्ञ लोग ऐसे ही कर्मों को 'कर्म' से जानते हैं।[61] साथ में

अविनाशी ब्रह्म के लक्षण निर्दिष्ट है।[62] सांज़यचर्चा, यज्ञवर्णन मन और वचन की श्रेष्ठता[63] और कर्म की सूक्ष्म चर्चा, अध्यात्म विषयक वन वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

अध्याय 28 में ज्ञानी पुरुष की स्थिति, [64] यज्ञ, अध्वर्यु संवाद के द्वारा पशुबलि का उल्लेख उनके द्वारा अहिंसा[65] का प्रतिपादन वर्णित है। 'अहिंसेति प्रतिज्ञेय[66] यहाँ अहिंसा की प्रतिज्ञा का विधान है। क्षर-अक्षर निरूपण, परशुराम के द्वारा क्षत्रिय का संहार, अलर्क और राजा अज़्बरीष की कथा-इसके द्वारा मोहनिरसन अभिप्रेत है। उसके साथ जनक-ब्राह्मण संवाद की प्रस्तुति से आत्मा-परमात्मा ऐक्य का सिद्धांत प्रस्तुत हुआ है।

अध्याय 35 में कृष्णाार्जुन संवाद अंतर्गत जीव कहाँ से आता है? परमतत्त्व का यथार्थ स्वरूप क्या है? अधिक आयु कितनी है? सत्य और तप क्या है? सर्वोत्तम सुख कौन सा? इसके उत्तर है।

श्रीमद्भगवद्गीता का उर्ध्वमूल अध्याय 15 जैसा ही वृक्ष रूपक यहाँ प्रस्तुत हुआ है। उसके साथ सांज़य के तत्त्वों की चर्चा है। आश्वमेघिक पर्व के 35 से 51 अध्याय को गुरु-शिष्य संवाद कहा जाता है। जिसमें अंगिरस-बृहस्पति इत्यादि महर्षियों को मोक्ष विषयक उपदेश दिया गया है। अनुगीता का तीसरा चरण यहाँ से शुरू होता है।

35 से 40 में अव्यक्त प्रकृति, सत्व-रजस् और तमस् और गुणातीत का वर्णन है। अध्याय 44 में प्राणी का जन्म उसका नाश[67] ये विचार के साथ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' पुनरावर्तित हुआ है। अध्याय 46 में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के धर्मों का वर्णन, मोक्ष-प्राप्ति का उपाय[68] और देहरूपी वृक्ष का ज्ञान तलवार से छेदन वर्णित करके ज्ञान की महिमा स्थापित की गई है।[69] ब्रह्म वेदविद्या का आधार है, ऐसा कहकर अध्यात्म को काव्यात्मक शैली में समझाया है। महाभारतकार ने गहन विषय को काव्यमय शैली में समझाया है। महाभारतकार का गहन विषय को काव्यमय भाषा में प्रस्तुत करने का कौशल्य यहाँ दिखाई पड़ता है। वेद, उपनिषद् का तत्त्वज्ञान सरल, रोचक शैली में यहाँ प्रस्तुत हुआ है, वाचक के लिये ये नित्यनूतन सा हुआ है।

आत्मा-परमात्मा रूप दो पक्षियों का रूपक यहाँ प्रस्तुत करके, वेद-उपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' का पुनरावर्तन करके, व्यास जी कालक्रम में लोकमानस की प्रकृति को इप्सित ज्ञान परोसकर भारतीय संस्कृति को जीवंत रखने में सफल हुए हैं।

ब्रह्मवन का विस्तृत रूपकात्मक वर्णन वेदव्यास की विशिष्ट सूझ-बूझ का दर्शन कराता है। अध्याय 49 में धर्म निर्णय जानने के लिये ऋषिगण ब्रह्माजी से मार्मिक प्रश्न पूछते हैं। ऋषि कहते

हैं 'इदं श्रेय इदं श्रेयं इत्येव व्यथितो जनः'।[70] ये कल्याण मार्ग है, ऐसे मनुष्य समुदाय विचलित बना है, तो हे ब्राह्मन्! वास्तविक कल्याण मार्ग क्या है?

जिसके उत्तर रूप 'अहंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमंमतम्'[71] अहिंसा सर्वोत्तम कर्तव्य कहकर-'ज्ञानं निःश्रेय'[72] ज्ञान की महत्ता को प्रस्तुत करते हैं। साथ में 'यथा कर्मं कृतं लोके तथैतानुपपद्यते' के द्वारा 'जैसी करनी वैसी भरनी' का विचार व्यक्त हुआ है। पुनः ब्रह्मा का वर्णन, पंचमहाभूत और सांज्य सिद्धान्त प्रतिपादित करके विशद चर्चा की गई है।

अंत में अध्याय 51 'तपो हि दुरति क्रमम्' के द्वारा तप का प्रभाव और 'तपसा देवा दिवं गताः' तप से देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। अंत में भगवद्गीता के 'गुह्याद् द्रुह्यातरं' (18.63) को 'गुह्यमेतत् सनातनम्' से पुनरावृत्त किया है। मम और न मम अनुक्रम से मृत्यु और ब्रह्म प्राप्ति का निर्देश करके, अंत में पुनः कृष्णार्जुन संवाद का अनुसंधान मिलता है। अर्जुन पूछते हैं, 'हे महाबाहो ! ये गुरु-शिष्य कौन थे?' तब उत्तर देते हुए कृष्ण कहते हैं, 'मुझे गुरु और मेरे मन को ही शिष्य समझो।' आखिर में ज्ञान प्रतिपादन के साथ अनुगीता की समाप्ति होती है।

3. भीष्मस्तवराज

शान्तिपर्व के 47वें अध्याय में भीष्म ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनका पूर्ण अभेद वेदों के ब्रह्म से किया है। इस स्त्रोत में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग द्वारा सगुण और निर्गुण श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की सज्यक् व्याज्या की गई है। इसमें राजा जनमेजय ने वैशज़ायन से प्रश्न किया है कि बाणों की शुद्ध शय्या पर लेटे हुए पितामह भीष्म ने किस प्रकार से अपने प्राणों का परित्याग किया और उस समय उन्होंने किस योग को धारण किया?[73] वैशज़ायन ने जनमेजय के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि दक्षिणायन के समाप्त होने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण में आ गये तब माघ महीने के शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में दोपहर के समय पितामह भीष्म ने ध्यान अवस्था में होकर अपने चित्त को परमात्मा में लीन कर लिया।[74]

सैकड़ों बाणों से छिदा हुआ भीष्म का शरीर सूर्य के समान चारों तरफ तेज बिखेरता हुआ दिव्य शोभा से सुशोभित होने लगा, अनेको विद्वान ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे हुए थे। जिनमें वेदों के ज्ञाता व्यास एवं देवर्षि नारद जैसे बहुत से महात्मा महर्षि विद्यमान थे।[75]

भीष्म बाणों की शय्या पर लेटे-लेटे ही हाथ जोड़कर पवित्र भावना से अपने मन वाणी और क्रिया द्वारा भगवान श्री कृष्ण का ध्यान करते-करते स्वस्थ स्वर से उनकी स्तुति करने

लगे।[76] भीष्म जो वक्ताओं में श्रेष्ठ बहुत शक्तिशाली और परम धर्मात्मा थे, हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर भगवान वासुदेव की स्तुति में कहा[77] है कि श्री कृष्ण स्वयं शुद्ध है, उनकी प्राप्ति का मार्ग भी शुद्ध है, वे हंस स्वरूप, तत्पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक हैं।[78] उनका न आदि है, न अन्त वे ही परमब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि/सबका भरण-पोषण करने वाले भगवान श्री नारायण हरि ही उन्हें अच्छी तरह जानते हैं।[79] उन्हीं में सज़्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हीं में उनका लय होता है। जिस प्रकार धागे में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मा में समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुये हैं।[80]

भगवान सदा नित्य, विद्यमान और तने हुये एक सुदृढ़ सूत के समान हैं। उनमें यह कार्य कारण जगत उसी प्रकार गुथा हुआ है जैसे सूत में फूल की माला। यह सज़्पूर्ण संसार उसके श्री अंग में स्थित है, उन्होंने ही इस विश्व की सृष्टि की है।[81]

उन श्री हरि के सहस्त्रों सिर, सहस्त्रों चरण और सहस्त्रों नेत्र हैं, वे सहस्त्रों भुजाओं सहस्त्रों मुकुटो तथा सहस्त्रों मुखों से देदीप्यमान हैं।[82] वे ही विश्व के परम आधार हैं। उन्हीं को नारायण देव कहते हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हैं। वे भारी से भी भारी और उत्तम से भी उत्तम हैं।[83] वाकों और अनुवाकों में, निषदों और उपनिषदों में तथा सच्ची बात कहने वाले साम मन्त्रों में उन्हीं को सत्य और सत्यकर्ता कहते हैं।[84]

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युज़्न और अनिरूद्ध-इन चार दिव्य गोपनीय और उत्तम नामों के द्वारा ब्रह्म, जीव, मन और अहंकार इन चार स्वरूपों में प्रकट हुये उन्हीं भक्त प्रतिपालक भगवान श्री कृष्ण की पूजा की जाती है जो सबके अन्त:करण में विद्यमान है।[85]

सज़्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके अनन्य भाव से स्थित रहने वाला साधक मोक्ष के उद्देश्य से अपने विशुद्ध अन्त:करण में परमात्मा गोविन्द का ज्ञान की दृष्टि से साक्षात्कार करता है। वह परमात्मा वायु और इन्द्र से भी बढ़कर है, अपने तेज से सूर्य को भी तिरस्कृत कर देता है और इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे है। भीष्म उसकी शरण में जाना चाहते हैं।[86]

पुराणो में जिनका पुरूष नाम से वर्णन किया गया है, जो युगों के आरज़्भ में ब्रह्म, और युगान्तर में संकर्षण कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वर की भीष्म उपासना करते हैं।[87] जो एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट हुये हैं,[88] जो इन्द्रियों और उनके विषयों से परे होने के कारण, अधोक्षज कहलाते हैं। उपासकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, यज्ञादि कर्म और

पूजन में लगे हुये अनन्य भक्त जिनका भजन करते हैं, जिन्हें जगत का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सज़्पूर्ण प्रजायें स्थित हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म हैं, सत् और असत् से विलक्षण हैं, जिनका न आदि है न मध्य न अन्त, जिन्हें न तो देवता ही ठीक-ठीक जानते हैं न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियों को संयमित रखते हुये सभी देवता, असुर गंधर्व, सिद्ध, ऋषि बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा उपासना किया करते हैं, जो दुख रूपी रोग की सबसे बड़ी औषधि हैं, जो जन्म मरण से रहित हैं, जो स्वयम् और सनातन देवता हैं, जिन्हें इन चर्म चक्षुओं से देखना और बुद्धि द्वारा सज़्पूर्ण रूप से समझना असज़्भव है, उन भगवान श्री हरि नारायण की भीष्म शरण लेते हैं। जो इस विश्व के विधाता और चराचर जगत के स्वामी हैं, जिन्हें संसार का साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, भीष्म उस परमात्मा की शरण में हैं।

अदिति के गर्भ से उत्पन्न, दैत्यों के नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपों में प्रकट होने वाले सूर्य स्वरूप परमेश्वर पूजनीय हैं। अग्नि जिनके मुख हैं वे देवता सज़्पूर्ण जगत को धारण करते हैं, जो हविष्य के सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्र स्वरूप परमेश्वर का भीष्म नमन करते हैं। जो अज्ञानरूपी अंधकार से परे और ज्ञानलोक से अत्यन्त प्रकाशित होने वाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मृत्यु से सदा के लिये छूट जाता है उन ज्ञेय स्वरूप परमेश्वर को भीष्म प्रणाम करते हैं।[89]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेद, जिनके आश्रय है, पाँच प्रकार का हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञ के रूप में प्रकट हुए परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[90]

पदों के समूह जिनके अंग है, संधि जिनके शरीर की जोड़ है, स्वर और व्यंजन जिनके लिए आभूषण का काम करते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहा जाता है, उस परमेश्वर को वाणी के रूप में भीष्म नमस्कार करते हैं।[91]

जो अपनी योग माया के द्वारा शेषनाग के हजार फणों के बिस्तर पर शयन करते हैं। विश्वदेव, मरूद्गण, रूद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, वसु, सिद्ध और साध्य ये सब जिसकी विभूतियाँ हैं उन देव स्वरूप परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[92] अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्रायें और उनका कार्य आदि जिनका स्वरूप है। जो भूत वर्तमान और भविष्य कालरूप है, जो भूत आदि की उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं, जो समस्त प्राणियों के अग्रज हैं उन तत्त्वमय और भूतात्मा परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[93]

भगवान विष्णु के विविध रूपों को स्मरण करते हुए कहा है कि जिन्होंने मत्स्य रूप धारण कर रसातल में जाकर नष्ट हुये समस्त वेदों को वापस ला दिया था उन मत्स्य रूपधारी श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[94] वह प्रभु जिन्होंने अमृत प्राप्त करने के लिए समुद्र मंथन के समय अपनी पीठ पर मंदराचल धारण किया था, उन अत्यंत कठोर देहधारी कच्छप रूप भगवान श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[95] जिन्होंने वराह रूप धारण कर अपने एक दाँत के द्वारा वन और पर्वतों सहित सज़्पूर्ण पृथ्वी का उद्धार किया था उन वराह रूपधारी भगवान को भीष्म नमस्कार करते हैं।[96]

जिन्होंने नृसिंह रूप धारण करके सज़्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये भयंकर हिरण्यकश्यप नामक राक्षस का वध किया था।[97] उन नृसिंह स्वरूप भगवान श्री हरि को भीष्म नमस्कार करते हैं। जिन्होंने वामन रूप धारण कर अपनी माया के द्वारा बलि को बाँध कर तीनों लोकों को अपने पैर से नाप लिया था, उन वामन रूपधारी भगवान श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[98] जिन्होंने धर्म और गौरव का विरोध करने वाले क्षत्रियों का युद्ध में इक्कीस बार विनाश किया, ऐसे क्रोधात्मा परशुराम को भीष्म नमस्कार करते हैं।[99] जिन्होंने दशरथ नन्दन श्री राम का रूप धारण करके रावण का वध किया था उन क्षत्रियात्मा श्री राम स्वरूप श्री हरि को भीष्म का प्रणाम है।[100]

जो प्रभु जो सदा हल और मूसल धारण किये रहते हैं और अद्भुत शोभा से सज़्पन्न रहते हैं, जिनके श्री अंगों पर नील वस्त्र शोभायमान रहता है उन शेषावतार रोहिणी नंदन राम को भीष्म नमस्कार करते हैं।[101] जो अपने हाथों में शंख, चक्र, शार्ङ्ग, धनुष, पीताज़्बर और वनमाला धारण किये रहते हैं उन श्रीकृष्ण स्वरूप श्री हरि को भीष्म नमस्कार करते हैं।[102]

वह प्रभु जो कंस वध के लिये वसुदेव के अनुपम पुत्र रूप में प्रकट हुये तथा नन्द के गोकुल में तरह-तरह की लीलायें करते रहे जो अर्जुन के सारथी बने और तीनों लोकों के लिये गीता ज्ञानमय अमृत प्रदान किया उन लीलात्मा और ब्रह्मात्मा श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[103] जो कलियुग आने पर घोड़े पर सवार हो धर्म की स्थापना के लिये ज़्लेच्छों का वध करेंगे उन कल्किरूप श्री हरि को भीष्म का नमस्कार है।[104]

जो स्थूल जगत में अव्यक्त रूप से विराजमान हैं, बड़े-बडे ऋषि जिसके तत्व का अनुसंधान करते रहते हैं, जो सज़्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ के रूप में स्थित है उस क्षेत्रज्ञ रूपी, परमात्मा को भीष्म प्रणाम करते हैं।[105]

जो सत, रज और तम इन तीन गुणों के भेद के कारण विविध प्रतीत होते हैं, गुणों के कार्यभूत सोलह विकारों से आवृत्त होने पर भी अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, सांख्य मत के अनुयायी जिन्हें पुरूष मानते हैं उन सांख्य स्वरूप परमात्मा को भीष्म प्रणाम करते हैं।[106] जो नींद को जीतकर प्राणों पर विजय प्राप्त कर चुके हैं और इन्द्रियों को अपने वश में करके शुद्ध सत्य में स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाभ्यास में लगे हुये, योगीजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

पाप पुण्य का नाश हो जाने पर पुनर्जन्म के रूप से मुक्त हुये शान्तचित सन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन योगस्वरूप तथा मोक्षरूप परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[107]

जिनसे संसार उत्पन्न होता है और उनमें ही प्रलय हो जाता है उन कारण रूप परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते है।[108] जो प्रत्यक्ष प्रत्येक शरीर के भीतर वायुरूप में स्थित हैं, अपने को प्राण आदि पाँच स्वरूप में विभक्त कर सभी प्राणियों को क्रियाशील बनाते हैं उन वायुरूप परमेश्वर को भीष्म का प्रणाम अर्पित है।[109]

वह नारायण जिनके मुख ब्राह्मण है, क्षत्रिय जिनकी भुजायें हैं, वैश्य जंघा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणों के आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्य नारायण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[110]

अग्नि जिनके मुख हैं, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र है और दिशायें कान है, उन लोक रूप परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[111] जो काल से परे हैं, यज्ञ से भी परे हैं और परे से भी अत्यन्त परे हैं, जो सारे संसार के आदि हैं परन्तु जिनका आदि कोई भी नहीं है उन विश्वात्मा परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[112] जो समस्त प्राणियों की आत्मा और उनके जन्म मृत्यु के कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोह का सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[113] जो भगवान श्री कृष्ण को एक बार भी प्रणाम करता है उसे दस अश्वमेध के अन्त में किये गये स्नान के समान फल प्राप्त होता है। इसके सिवा प्रणाम में एक विशेषता और है कि दस अश्वमेध करने वाले का तो पुनः इस संसार में जन्म होता है किन्तु भगवान कृष्ण को प्रणाम करने वाला मनुष्य इस संसार के भवबंधन में नहीं पड़ता है।[114]

ऐसे व्यक्ति जो श्रीकृष्ण को दिन-रात याद करने वाले श्री कृष्ण स्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं जैसे मंत्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्नि में मिल जाता है।[115] वह प्रभु जो नरक से बचाने के लिए रक्षामण्डल का निर्माण करने वाले हैं और संसाररूपी सरिता की भंवर

से पार लगाने के लिए काठ की नाव के समान हैं, उन भगवान विष्णु को भीष्म नमस्कार करते हैं।[116]

भीष्म कहते हैं कि हरि नाम कठिन रास्ते में संकट के समय प्राणों के लिये राहखर्च के समान है, यह संसार रूपी रोग से मुक्ति दिलाने के लिए औषधि के समान हैं, तथा सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति देने वाला है।[117] श्री कृष्ण के शरणागत होकर भीष्म अभीष्ट प्राप्त करना चाहते हैं और उसके उपाय का भार भी उन्हीं पर छोड़ते हैं।[118] अत: श्री कृष्ण की भक्ति में लीन भीष्म भगवान की स्तुति करने के पश्चात नम: श्री कृष्णाय कहकर उन्हें नमस्कार करते हैं। भगवान श्री कृष्ण अपनी योगमाया के द्वारा भीष्म जी की भक्ति और भक्ति योग को जानकर उनकेपास आये और उन्हें तीनों लोकों को बोध कराने वाला दिव्य ज्ञान देकर वापस चले गये। इस प्रकार प्रस्तुत स्तोत्र में ज्ञान, योग, कर्म योग एवं भक्ति योग द्वारा सगुण एवं निर्गुण श्री कृष्ण के साक्षात्कार की सज़्यक् व्याज़्या की गई है।

4. गजेन्द्र मोक्ष

मनुष्य और पशु दोनों ही अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। पशु का जीवन निरुद्देश्य होता है, किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवनयापन करना चाहता है। वह अपने वर्तमान, भविष्य के फल के विषय में सोचकर कर्म करता है। मानव में बुद्धि की विशेषता है, इसी से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ''युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही दर्शन कहते हैं।'' जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो वही दर्शन है।**119**

व्युत्पत्ति उत्पत्ति, दर्शन की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाये' (दृश्यते अनेन इति) देखने का स्थूल साधन आँखें हैं। इस आँख द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसको 'चाक्षुस प्रत्यक्ष' कहते हैं। अतएव चाक्षुस प्रत्यक्ष ही ज्ञान या देखा हुआ ज्ञान है। यह मत स्थूल दर्शन का है। कुछ सूक्ष्म दर्शनों का मत है कि कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अर्थात् जिसे आँखें नहीं देख सकती। उसे देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्विक बुद्धि) की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म दृष्टि या तात्विक बुद्धि के दूसरे नाम 'प्रज्ञाचक्षु' ज्ञान चक्षु या दिव्य चक्षु है। गीता में भगवान कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने के लिए अर्जुन को पहले दिव्य चक्षु प्रदान किये थे।**120** 'दर्शन' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ को ध्यान में रखकर यदि उसकी परज़रा के मूल उक्त का अनुसंधान किया जाये, तो उपनिषद

और दूसरे शास्त्रों में उसका प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए शुक्ल यजुर्वेद से सञ्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' के इस श्लोक को लिया जा सकता है।[121] इस श्लोक का आशय यह है कि सोने के पात्र से सत्य का मुँह ढका है। हे पूजन (सारे जगत का पालन करने वाले परमात्मा) उस ढक्कन को हटाइए, जिसने सत्य का अर्थात् ब्रह्म का या सनातन रूप ब्रह्म का या सनातन रूप ब्रह्म का या आपका (आत्मज्ञानानुकूल कर्तव्य) हमें दर्शन हो। यहाँ पर दृश्यते का दर्शन अर्थ में आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए हुआ है। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'दृश्' का आत्म दर्शन के अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा गया है 'आत्मावादृष्टे दृष्टव्य' मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में उपनिषदों के आत्मज्ञान को 'सञ्ग्दर्शन' तथा 'आत्मदर्शन' के अर्थ में लिया गया है। अपने सच्चे स्वरूप को देखना, पहचानना या दर्शन करना ही 'आत्मदर्शन या सञ्ग दर्शन है।' इस सञ्ग्दर्शन के लिए समदृष्टि का होना अति आवश्यक है। सर्वत्र एक ही आशय को देखना और सबमें एक ही परमेश्वर का होना अति आवश्यक है। सर्वत्र एक ही आशय को देखना और सबमें एक ही परमेश्वर को देखना या दर्शन करना ही 'यथार्थदर्शन' है। यह संसार क्या है, जीव-जन्तु के बन्धन का कारण क्या है, इस सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु का सार क्या है, मैं क्या हूँ? इन सभी के मूल में अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है। ये अनन्त दृश्य जब एक ही दृष्टा में दिखायी देने लगे, मैं ही सर्वत्र दिखायी देने लगे और यह दुःख जब परम शक्ति में बदल जाये, इसी को वास्तव में देखना या दर्शन कहते हैं।

जहाँ तक भारतीय दर्शन का संबंध है, उसमें अनेक मत, सञ्प्रदाय, पंथ, सिद्धान्त, और वाद एक ही आत्म प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर आगे बढे। उपनिषदों का 'तत्वमसि' महावाक्य ही सब का केन्द्र रहा है। इसकी व्याञ्या यद्यपि अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग दृष्टि से की गयी, परन्तु उनका अंतिम लक्ष्य एक ही था। वह परम लक्ष्य है- ''दुःख की अत्यान्तिक निवृत्ति और सुख की ऐकान्तिक प्राप्ति'' जिस जीव ने एकान्त सुख और एकान्त दुःख यानि दुःख सामान्य और सुख सामान्य को जान लिया वहीं 'तत्वदर्शी' या आत्मज्ञानी है। यदि दर्शन का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है तो इसका अर्थ है कि दुःखमय संसार को देखकर मनुष्य के मन में दर्शन के लिए जिज्ञासा हुई। इसी दुःख की जिज्ञासा और सुख की प्राप्ति ने दर्शन को जन्म दिया। संसार में तीन प्रकार के दुःख (अधिभौतिक, अधिदैविक, आध्यात्मिक) है, इन तीनों को समाप्त करना, दर्शनशास्त्र का एकमात्र लक्ष्य है। इस दुःख के आत्यान्तिक नाश और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के तीन साधन है-श्रवण, मनन, निदिध्यासन।

महाभारत के पंचरत्न में सम्मिलित गजेन्द्र मोक्ष में भी जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति एवं त्रिविध दुःखों से मुक्ति बताया गया है। दार्शनिक चिंतन से परिपूर्ण इस स्तवन में गजेन्द्र द्वारा भगवत्स्वरूपों की तथा भगवत्कृपा द्वारा मोक्ष का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्रमोक्ष की कथा है। द्वितीय अध्याय में ग्राह के साथ गजेन्द्र के युद्ध का वर्णन है, तृतीय अध्याय में गजेन्द्रकृत भगवान् के स्तवन और गजेन्द्र मोक्ष का प्रसङ्ग है और चतुर्थ अध्याय में गज-ग्राह के पूर्व जन्म का इतिहास है। श्रीमद्भागवत में गजेन्द्रमोक्ष-आज़्यान के पाठ का माहात्ज़्य बतलाते हुए इसको स्वर्ग तथा यशदायक, कलियुग के समस्त पापों का नाशक, दुःस्वप्ननाशक और श्रेयः साधक कहा गया है। तृतीय अध्याय का स्तवन बहुत ही उपादेय है। भाव के साथ स्तुति करते-करते मनुष्य तन्मय हो जाता है। गजेन्द्र कृत इस स्तवन का आर्तभाव से पाठ करने पर लौकिक-पारमार्थिक महान् संकटों और विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है और निष्काम भाव होने पर अज्ञान के बन्धन से छूटकर पुरुष भगवान् को प्राप्त हो जाता है। स्वयं भगवान् का वचन है कि 'जो रात्रि के शेष में (ब्राह्ममुहूर्त के प्रारज़्भ में) जागकर इस स्तोत्र के द्वारा मेरा स्तवन करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु के समय निर्मल मति (अपनी स्मृति) प्रदान करता हूँ। और 'अन्ते मतिः सा गतिः' के अनुसार उसे निश्चय ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है तथा इस प्रकार वह सदा के लिये जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है।

'गजेन्द्र मोक्ष' स्तवन में ईश्वर के विविध स्वरूपों का दार्शनिक विवेचन किया गया है। विपत्ति में गजेन्द्र मन को हृदय देश में स्थिर करके अपने पूर्व जन्म में सीखकर कण्ठस्थ किये हुए सर्वश्रेष्ठ एवं बार-बार दोहराने योग्य स्तोत्र का मन ही मन पाठ करने लगा। जिनके प्रवेश करने पर, जिनकी चेतना को पाकर ये जड़ शरीर और मन आदि भी चेतन बन जाते हैं, चेतन की भाँति व्यवहार करने लगे हैं। सज़्पूर्ण शरीर में प्रकृति एवं पुरुष रूप से प्रविष्ट हुए उन सर्व-समर्थ परमेश्वर का गजेन्द्र ने नमन किया।[122]

गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध सत्तात्मक बताया गया है। यह सज़्पूर्ण विश्व प्रपञ्च उन्हीं की माया से अध्यस्त है। कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। ईश्वर सबके मूल हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है।[123] गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को एक नट की भाँति बताया है। जिनके वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता।[124]

ईश्वर प्राप्ति के लिए समस्त आसक्तियों का परित्याग, ब्रह्मचर्य पालन तथा अलौकिक व्रतों का पालन आवश्यक माना गया है।[125] ईश्वर का कर्मवश ना तो जन्म होता है और न जिनके द्वारा

अहंकार प्रेरित कर्म ही होते हैं। जिनके निर्गुण स्वरूप का न तो कोई नाम है न रूप है, फिर भी समयानुसार जगत की सृष्टि एवं प्रलय; संहार के लिये अपनी माया से स्वीकार करते हैं।[126]

विवेकी पुरुष कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं तथा जो स्वयं तो नित्यभुक्त, परमानन्द एवं ज्ञान-स्वरूप है ही, दूसरों को कैवल्य-मुक्ति प्रदान करने की सामर्थ्य वाले भगवान को गजेन्द्र ने अपनी रक्षा हेतु नमस्कार किया।[127]

ईश्वर सत्त्व, रज, तम-इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था को धारण करते हैं।[128] जैसे यज्ञ के काष्ठ अरणि में अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही ईश्वर ने अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढक रखा है। उन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने पर ईश्वर विविध प्रकार की सृष्टि की रचना करता है। और जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करके वेदशास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्मा के रूप में स्वयं ईश्वर प्रकाशित हो उठते हैं।[129] जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सञ्जत्ति और स्वजनों में आसक्त हैं उनके लिए ईश्वर की प्राप्ति अत्यंत कठिन बतलाई गई हैं, क्योंकि ईश्वर स्वयं गुणों की आसक्ति से रहित है। जीव-मुक्ति पुरुष अपने हृदय में निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करते हैं[130] और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करते हैं।[131]

ईश्वर अविनाशी, सर्वशक्तिमान, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म है जो अत्यन्त निकट रहने पर जी बहुत दूर जान पड़ता है, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा प्राप्त होता है। वह ईश्वर आदि अनंत एवं परिपूर्ण है।[132]

जिनकी अत्यन्त छोटी सी कला से अनेकों नाम-रूप के भेदभाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है।[133] जैसे धधकती हुई अग्नि की लपटों और प्रकाशमान सूर्य से उनकी किरणें बार-बार निकलती हैं और लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर-जो गुणों के प्रवाह रूप हैं-बार-बार प्रकट होते-होते तथा लीन हो जाते हैं[134] वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। न वे स्त्री हैं, न कार्य, न कारण हैं। सबका निषेध हो जाने पर जो कुछ शेष बचता है वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं।[135]

इस प्रकार ईश्वर का विविध प्रकार से स्मरण करते हुए हाथी ने अपने उद्धार हेतु प्रार्थना की कि मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी की योनि में बाहर-भीतर अज्ञान रूपी आवरण से ढकी हुई है।

इसमें जीना व्यर्थ है। मैं इस आत्मप्रकाश को ढकने वाले इस अज्ञानरूप आवरण से मुक्त होना चाहता हूँ जो कालक्रम से स्वतः नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकता है।[136] इसलिए मैं उन परब्रह्म परमात्मा की शरण में हूँ जो विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वस्वरूप हैं। साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते हैं। योगी जन योग के द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफल को भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदय में जिनका साक्षात्कार करते हैं ऐसे प्रभु की मैं बारम्बार स्तुति करता हूँ।[137]

जिसने पूर्वोक्त प्रकार से भगवान के भेदरहित निराकार स्वरूप का वर्णन किया था ऐसे उस गजराज के समीप जब ब्रह्मा आदि कोई भी देवता नहीं आये जो भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट विग्रहों को ही अपना स्वरूप मानते हैं तब साक्षात् श्री हरि, जो सबकी आत्मा होने के कारण सर्वदेवस्वरूप हैं वहाँ प्रकट हो गये और गजेन्द्र के साथ ग्राह को सरोवर से शीघ्रता से निकाल लिया और चक्र से हरि ने ग्राह का मुँह फाड़ कर गजेन्द्र को मुक्त कराया।

5. विष्णुसहस्रनाम्

अनुशासन पर्व के 149 वें अध्याय में श्री विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के अन्तर्गत युधिष्ठिर व भीष्म के मध्य वार्ता का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत युधिष्ठिर ने भीष्म से छः प्रश्न किये हैं कि इस सज़्पूर्ण जगत में एक ही देव कौन है व पृथ्वीलोक का परम आश्रय स्थान कौन सा है? किस देवता का पूजन, कीर्तन, भजन तथा स्तुति करने से मनुष्य कल्याण की प्राप्ति कर सकता है? सभी धर्मों में परम श्रेष्ठ धर्म कौन सा है? और किसका जप करने से मनुष्य इस संसाररूपी बंधन से मुक्त हो जाता है?[138]

युधिष्ठिर के उपर्युक्त प्रश्नों को सुनकर भीष्म ने कहा है कि इस चल-अचल संसार में देवों के देव, अनन्त तथा श्रेष्ठ पुरूषोत्तम का सहस्र नामों से निरन्तर जागरूक व एकाग्रचित रहकर स्तुति करने से मनुष्य इस जगत के सब दुखों से पार हो जाता है।[139] जो मनुष्य एकाग्रचित व उस परमशक्ति की भक्ति में लीन होकर उसका ध्यान, स्तवन व नमस्कार करता है वही इस मोहरूपी संसार से मुक्ति पा सकता है।[140]

परमपिता देव की स्तुति एवं भक्ति की प्रशंसा करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ब्राह्मणों का हित करने वाले सभी धर्मों के विद्वान, भूत, वर्तमान, भविष्य को जानने वाले, एवं

इस सज़्पूर्ण संसार के कारण रूप परमेश्वर का निरन्तर जप करने से मनुष्य समस्त कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[141]

ईश्वर के स्वरूप एवं महिमा का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ईश्वर तेज:स्वरूप, तपस्वरूप, ब्रह्मा, सबका परम आश्रय, मङ्गलकारी, देवों के भी देव, अविनाशी, सज़्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करनेवाले हैं। महान आत्मस्वरूप विष्णु ऊँ सच्चिदानन्द स्वरूप, विराट रूप वाले, सब जगह व्याप्त, वषट्कार (जिनके उद्देश्य से यज्ञ में वषट् क्रिया की जाती है ऐसे यज्ञ स्वरूप) भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वामी, सज़्पूर्ण भूतों की रचना करने वाले, सज़्पूर्ण गुणों से युक्त, सज़्पूर्ण भूतों का पालन पोषण करने वाले, भावस्वरूप, सज़्पूर्ण भूतों के आत्मा, भूतों का उत्पादन एवं वृद्धि करने वाले है।[142]

वह पूतात्मा (पवित्रात्मा), परमात्मा (परम श्रेष्ठ नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव) मुक्त पुरूषों की सबसे अच्छी गति, करने वाले, अव्यय, पुरूष, (शरीर में शयन करने वाले), क्षेत्रज्ञ (समस्त शरीर को पूर्णतया जानने वाले), एवं अक्षर (कभी क्षीण न होने वाले) है।[143]

वह सर्वरूप, सारी प्रजा का प्रलयकाल में संहार करने वाले, तीनों गुणों से परे कल्याण स्वरूप (शिव), स्थिर, भूतों के आदि कारण, प्रलयकाल में सब प्राणियों के लीन होने के लिए अविनाशी स्थान रूप, अपनी इच्छा से भली प्रकार प्रकट होने वाले, समस्त भोक्ताओं को फल देने वाले, सबका भरण करने वाले दिव्य जन्मवाले, प्रभु (सबके स्वामी) एवं ईश्वर (उपाधिरहित ऐश्वर्य वाले) हैं।[144]

उन्हें ईशान (सर्व भूतों के नियन्ता), सबके प्राण दाता स्वरूप, प्रजापति ईश्वर विक्रमी, शंख धनुष धारण करने वाले, उत्पन्न बुद्धिमान, गरूड़ पक्षी द्वारा गमन करने वाले, क्रम विस्तार के कारण, सबसे उत्कृष्ट, किसी से भी अपमानित न हो सकने वाले, कृतज्ञ, पुरूष-प्रयत्न के आधार रूप, अपनी ही महिमा में स्थित कहा गया है।[145] वे अज (जन्म से रहित), सर्वेश्वर, नित्य सिद्ध, सब भूतों के आदि कारण, अपनी स्थिति से कभी त्रिकाल में भी च्युत न होने वाले, धर्म और वाराहरूप, सबको न दिखायी देने वाले, एवं विभिन्न प्रकार के शास्त्रोक्त योगों (साधनों)के द्वारा प्राप्त होने वाले हैं।[146]

समस्त लोकों के अध्यक्ष, देवताओं के अध्यक्ष, कार्य के अनुरूप फल देने वाले, धर्म और अधर्म का निर्णय करने वाले धर्माध्यक्ष, कार्यरूप से कृत और कारण रूप से अकृत, ब्रह्मा,

विष्णु, महेश और निराकार ब्रह्मा इन चार स्वरूपों वाले, उत्पत्ति, स्थिति, नाश और रक्षारूप इन चार व्यूहों को रचने वाले, चार दाढ़ों वाले नरसिंह रूप, चार भुजाओं वाले भगवान विष्णु हैं।[147]

ईश्वर महान धनुर्धारी, पृथ्वी का पालन पोषण करने वाले, श्री युक्त, सज्जनों को आश्रय देने वाले, किसी बंधन में न बंधने वाले देवताओं को आनन्दित करने वाले, वेदों के द्वारा वश में रहने वाले, देववाणी को जानने वालों के स्वामी हैं।[148]

ईश्वर सब विद्याओं का उपदेश करने वाले गुरू, ब्रह्मा आदि को भी ब्रह्म विद्या प्रदान करने वाले, सत्य स्वरूप, विश्वात्मा, सहस्त्राक्ष, सहस्त्र सिर वाले विष्णु (सर्वव्यापी) सभी शोकों से रहित, संसार के भवसागर से तारने वाले, जन्म-मृत्यु के भव से तारने वाले, शूरवीर, श्री वसुदेव जी के पुत्र, समस्त जीवों के कर्ता-धर्ता, सबके अनुकूल, सैकड़ों बार अवतरित होने वाले, अपने हाथ में कमल धारण करने वाले, एवं कमल के समान दृष्टि वाले हैं।[149]

भगवान विष्णु महावाराह रूप धारण करने वाले, नष्ट हुई पृथ्वी को पुनः प्राप्त कर लेने वाले, सुसज्जित सेना के सहित युद्ध में गमन करने वाले, सोने का बाजूबंद धारण करने वाले, हृदय के भीतर छिपे रहने वाले, गज़्भीर स्वभाव वाले, जिनके स्वरूप में प्रविष्ट होना अत्यन्त कठिन हो ऐसे, वाणी और मन से जानने में न आने वाले, चक्र और गदा आदि को धारण करने वाले हैं।[150] उत्पत्ति और प्रलय, आना और जाना तथा विद्या और अविद्या को जानने वाले, अपने भक्तों का प्रेम बढ़ाने के लिए उनके ऐश्वर्य का हरण करने वाले, परम आनन्द देने वाले, वनमाला धारण करने वाले, हल धारण करने वाले, अदिति पुत्र, वामन भगवान, सूर्यमण्डल में विराजमान ज्योतिः स्वरूप, सभी कठिनाइयों को सहन करने वाले, सर्वश्रेष्ठ गति स्वरूप हैं।[151]

भक्तों को श्री देने वाले, लक्ष्मी के नाथ, श्री लक्ष्मी जी के अन्दर नित्य निवास करने वाले, सारे श्रियों के आधार, कर्म के अनुसार मनुष्य को ऐश्वर्य प्रदान करने वाले, श्री को धारण करने वाले, भक्तों के लिए श्री का विस्तार करने वाले, कल्याण स्वरूप, सब प्रकार के श्रियों से युक्त, तीनों लोकों के आधार हैं।[152] वे परम सुन्दर आँखों वाले, अतिसुन्दर कोमल मनोहर अंगों वाले, अतिशय आनन्द देने वाले, परमानन्द स्वरूप, नक्षत्र समुदायों के ईश्वर, सबके मन को जीतने वाले, वर्णनातीत, सच्ची कीर्ति वाले, सभी प्रकार के संशय से रहित हैं।[153] वे समस्त कामनाओं के परमदेव, भक्तों की कामनाओं की पूर्ति करने वाले अपने प्रिय को चाहने वाले, परम सुन्दर स्वरूप, समस्त वेद और शास्त्रों के रचयिता, जिनके स्वरूप का

वर्णन न किया जा सके ऐसे शरीर वाले, शेषनाग पर लेटने वाले भगवान विष्णु, वीर, अनन्त गुणों से युक्त और बहुत सा धन जीतने वाले हैं।[154]

विश्व ही जिनकी मूर्ति है ऐसे स्वरूप वाले (विश्वमूर्ति), विष्णु, देदीप्यामान तेज से युक्त, बिना किसी आकार वाले, अनेक प्रकार की मूर्तियों को धारण करने वाले, जिसको व्यक्त न किया जा सके, ऐसे अप्रकट स्वरूप वाले, सैकड़ों मूर्तियों वाले एवं सैकड़ों मुखों वाले हैं।[155] वे अपने आप में अद्वितीय, अनेक अवतार लेने वाले, यज्ञस्वरूप वाले, सुखस्वरूप, ब्रह्मा स्वरूप स्वत: सिद्ध होने वाले, विस्तार करने वाले, परमपदस्वरूप प्रदान करने वाले, समस्त प्राणियों का हित करने वाले, परमपदस्वरूप प्रदान करने वाले, समस्त प्राणियों का हित करने वाले, समस्त लोक के स्वामी, मधुकुल में उत्पन्न होने वाले, भक्तों के प्रति अपार स्नेह रखने वाले हैं।[156]

वे सोने के समान पीले रंग वाले, सोने के समान चमकते अंगों वाले, अति सुन्दर अंगों वाले, चन्दन के लेप और बाजूबंद से सुशोभित, वीर, असुरों का नाश करने वाले, अपने भक्तों के लिए कृपालु, किसी भी प्रकार से विचलित न होने वाले, वायु की तरह सर्वत्र गमन करने वाले, स्वयं कभी भी मान की चाह न रखने वाले, दूसरों को मान देने वाले, सबके पूजे जाने योग्य, सारे संसार व भुवनों के स्वामी, तीनों लोकों को धारण करने वाले, अति सुन्दर बुद्धि वाले, यज्ञ के द्वारा प्रकट होने वाले, धन्य-धन्य कर देने वाले, सच्ची बुद्धि वाले, अनन्त भगवान रूप में पृथ्वी धारण करने वाले हैं।[157]

अत्यन्त छोटे रूप में, सबसे बड़े रूप में, अत्यन्त पतले और हल्के, अत्यन्त मोटे और भारी रूप में, समस्त गुणों से भरे हुए, निर्गुण रूप में, महान सर्वगुण सज़्पन्न, जिनको कोई भी धारण नहीं कर सकता, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित, सुन्दर मुखवाले, वंश का आरज़्भ करने वाले आदि पुरूष अपने वंश को बढ़ाने वाले हैं।[158]

विष्णु के अवतार धनुष धारण करने वाले श्री राम चन्द्र जी, धनुष की सारी विद्याओं व कलाओं को जानने वाले, दण्ड देने वाले, सारी बुरी शक्तियों का दमन करने वाले, दण्ड के फल देने वाले, शत्रुओं द्वारा कभी पराजित न होने वाले, सब कुछ सहन करने में समर्थ, सबको अपने-अपने कर्तव्य का पथ दिखाने वाले, सारे नियमों से परे एवं स्वतन्त्र हैं जिन पर कोई शासन नहीं कर सकता।[159]

वे सब प्रकार के रूद्र भावों से रहित शान्तिमूर्ति, मकराकृत कुण्डलों को धारण करने वाले, सुदर्शन चक्र को धारण करने वाले, कठोर संकट सहन करने वाले, सबसे विलक्षण पराक्र मशील, शब्द के अविषय, ज्ञानियों और अज्ञानियों की रात्रि को उत्पन्न करने वाले हैं।[160]

संसार से भव सागर से पार करने वाले दुष्टों और पापों का नाश करने वाले, स्मरण करने वाले भक्तों को तारने वाले, ईश्वर की भक्ति द्वारा बुरे सपनों का नाश करने वाले, संसार के चक्र का नाश करने वाले, सब प्रकार से भक्त की रक्षा करने वाले, अच्छे कार्य के लिए सन्त रूप में प्रकट होने वाले और समस्त प्राणियों को जीवन देने वाले, समस्त विश्व को व्याप्त करके स्थित रहने वाले हैं।[161]

वे भूः भुवः स्वः तीनों लोकों वाले, संसार सागर से पार उतारने वाले, प्रपितामह (पितामह ब्रह्मा के भी पिता), यज्ञ स्वरूप, यज्ञपति, यज्ञ करने वाले, समस्त यज्ञ रूप अंगों वाले एवं यज्ञों को चलाने वाले हैं।[162] विष्णु स्वयं उत्पन्न होने वाले, स्वयं प्रकट होने वाले, पृथ्वी को खोदने वाले, सामवेद को गाने वाले, देवकीपुत्र, समस्त सृष्टि के रचयिता, पृथ्वीपति, मनुष्य के समस्त पापों का नाश करने वाले हैं।[163]

जो मनुष्य विष्णुसहस्त्रनाम् को सदा सुनता, और उनका कीर्तन तथा पाठ करता है उसका इस लोक तथा परलोक में भी कुछ अशुभ नहीं होता है।[164] ब्राह्मण इसका पाठ करने से वेदों में पारंगत हो जाते हैं, क्षत्रिय युद्ध में विजय प्राप्त कर रहे हैं, वैश्य धन से सज़्पन्न होते हैं, ओर शूद्र जीवन में सुख पाते हैं।[165] धर्म की इच्छा रखने वाला धर्म की प्राप्ति करता है, अर्थ को चाहने वाला अर्थ की प्राप्ति करता है, भोग की इच्छा करने वाला व्यक्ति भोग प्राप्त करता है, और पुत्र या संतान की इच्छा करने वाला व्यक्ति संतान पाता है।[166]

भगवान विष्णु के सहारे और उनकी शरण में रहने वाला मनुष्य समस्त पापों से छुटकारा प्राप्त कर और शुद्ध अन्तःकरण होकर परम ब्रह्म को प्राप्त करता है। पूरे भक्तिभाव से इसका पाठ करने वाले मनुष्य का कभी भी अशुभ नहीं होता तथा उसे जन्म मृत्यु, जरा और व्याधि का भी भय नहीं होता।[167]

जो मनुष्य भक्तिभाव से इस विष्णुसहस्त्राम् का भलीभाँति पाठ करते हैं उन्हें आत्मसुख, क्षमा, लक्ष्मी, धैर्य, स्मृति, और कीर्ति या यश की प्राप्ति होती है।[168]

सज़्पूर्ण संसार का नियंता श्रीकृष्ण (विष्णु) को ही माना गया है। सब शास्त्रों में आचार्य प्रथम माना गया है, आचरण से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म के स्वामी भगवान

विष्णु हैं।[169] ऋषि, पितर, देवता, पंच महाभूत, धातुएँ और स्थावर जंगमात्मक सज़्पूर्ण जगत-इन सभी का जन्म नारायण से ही हुआ है। योग, ज्ञान, सांज़्य, विद्याएं, शिल्प आदि कर्म, वेद, शास्त्र और विज्ञान-इन सभी की उत्पत्ति विष्णु के द्वारा हुई है।[170] जो मनुष्य विश्व के ईश्वर, जगत की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश करने वाले, जन्म से रहित, कमल लोचन भगवान नारायण विष्णु का भजन-पूजन करते है, उनका कभी भी पराभव नहीं होता।[171]

इस प्रकार विष्णुसहस्रनाम् स्त्रोत में भगवान विष्णु के अनेक रूपों की स्तुति की गई है। वे ही सज़्पूर्ण जगत के कर्त्ता और नियंता हैं। उनकी स्तुति करने से ही संसार रूपी बंधन से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार महाभारत के पंचरत्नों में यह स्त्रोत विशेष महत्त्व रखता है।

इस प्रकार अनन्य भक्ति से भगवद् स्वरूप का ज्ञान, भगवत्प्राप्ति तथा भगवान से एकीकरण होता है। अत: भक्ति ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानु भूति में परिणत हो जाते है। परा भक्ति में भगवान और भक्त का द्वैत समाप्त हो जाता है और अखण्ड ज्ञानानन्द रूप भगवत स्वरूप में भक्त और भगवान एकाकार हो जाते हैं। गीता में भक्त चार पक्रार के कहे गये है- अर्थार्थी, आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें से ज्ञानी भक्त को भगवान ने स्वयं अपनी आत्मा से नित्य युक्त और सबसे प्रिय कहा है। भगवान श्रीकृष्ण का यह भी कथन है कि श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अत: यह श्रद्धा भक्ति का मूल है। इसी तरह गीता का यह भी कथन है कि कर्म से सत्वशुद्धि होती है, सत्व से ज्ञान होता है और ज्ञान के सतत् ध्यान से अनन्य भक्ति रूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार गजेन्द्र भगवान् का स्पर्श पाते ही अज्ञान के बन्धन से मुक्त हो गया। गजेन्द्र के समान भावमग्न अवस्था में गजेन्द्र कृत स्तवन का पाठ करने पर लौकिक और पारमार्थिक कष्टों और अज्ञान रूपी आवरण से मुक्ति मिलती है। जन्म-जन्मान्तरों के बंधन का नाश हो मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो जीवन का परम लक्ष्य है।

सन्दर्भ

1 महाभारत, आदिपर्व, 2.385

2 वही, 1.92

3 वही, 1.274

4 वही, 2.382

5 महाभारत, आदिपर्व, 2.383

6 वही, 62.23

7 वही, 62.53

8 वही, 62.18

9 भारतीय संस्कृति में गीतात्रय : तात्विक अभिगम, पारुल एस. मेहता, पृ. 6

10 धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। - महाभारत, आदिपर्व, 62.53

11 भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृ. 51

12 मा निषाद प्रतिष्ठां त्वगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः त्व काममोहितम्।। - रामायण

13 शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे लोको भवतु नान्यथा। - रामायण, बालकाण्ड

14 सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः।। - महाभारत, भीष्मवध पर्व, 43.2

15 गीता शास्त्रम् समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतम दुविज्ञेयार्थम्।। - गीता, शंकरभाष्य, पृ. 14

16 गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।। - महाभारत, भीष्मवध पर्व, 43.1

17 सर्वोपनिषदी गावो दोग्धा गोपालनन्दन।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत्।। - श्रीमद्भागवद्गीता महात्म्य, श्लोक 6

18 स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।। - श्रीमद्भगवद्गीता, 18.45
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम्।। - श्रीमद्भगवद्गीता, 2.51

19 तान् समीक्ष्य स कौन्तेय सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परमाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत।। - महाभारत, भीष्मपर्व
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सु समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणिमुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। - श्रीमद्भगवद्गीता, 1.27, 28,29

20 स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकञ्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।। - महाभारत, भीष्मपर्व, श्रीमद्भगवद्गीता, 2.31

21 श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य, श्लोक 6

22 श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य या कर्मयोग शास्त्र, लोकामान्य बाल गंगाधर तिलक अनुवादक माधव राव सप्रे, चतुर्थ संस्करण, 1928

23 इमं विवस्ते योग प्रोक्तवानहमव्यम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्ट परन्तप।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।
- श्रीमद्भगवद्गीता, 4.1,2,3

24 जीवता तहेवारो, अन्तर्गत विशाल बुद्धि व्यास, काका साहेब कालेलकर, पृ. 124

25 यद् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.6

26 विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तश्च ते रूपमैश्वरम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.5

27 स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः।।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.12-13

28 मम कौतूहलं त्वस्ति त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गत्ता नचिरादिव माधव।। महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.7

29 श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान्।।
अबुद्धया नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृति में सञ्भविष्यति।। महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.9-10

30 दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे।।
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्धिः स लभते नरः।। महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 17.19-20

31 स्रांतोभियैर्विजानाति इन्द्रियार्थाञ्शरीरभृत।
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसञ्भवान्।।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातन।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 17.24-25

32 ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 17.35

33 यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तोबिञ्जविग्रहम्।
उपैति तद् विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.9

34 कर्मक्षयाञ्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 17.40

35 शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं च तथा।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.1

36 ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्म नैवावबुध्यते।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.13

37 दानं व्रतं ब्रह्मचर्य यथोक्तं ब्रह्मधारणम्।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम्।।
संयमाश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम्।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि।।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम्।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः।।
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.15-18

38 वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.22

39 इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम्।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमैककस्य पृथक् पृथक्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.27

40 जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित्।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति।।
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम्।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम्।। -- महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.33-34

41 सुखदुःखे यथा सञ्यगनित्ये यः प्रपश्यति।
कार्य चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम्।।
यच्च किंचित् सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 18.31-32

42 यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन्।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत्।। - - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.1

43 सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व,19.2

44 आत्मवत् सर्वभूतेषु पश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.3

45 जीवितं मरणं चोज्ञे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.4

46 नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.7

47 अकर्मवान् विकांक्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम्।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युनजरायुतम्।।
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिंव।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.8-9

48 अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम्।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.10

49 पञ्चभूतगुणैर्हीनमभूर्तिमदहेतुकम्।
अगुण गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते।।- महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.11

50 विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्धया शरीरमानसान्।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.12

51 विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम्।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.14

52 इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत्।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.17

53 तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत्।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि।। महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.18

54 संयतः सततं युक्तः आत्मवान् विजितेन्द्रियः।
तथाय आत्मनाऽऽत्मानं सञ्चयुक्तः प्रपश्यति।। महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.20

55 यदा हि युक्तमात्मानं सञ्यक् पश्यति देहभृत्।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः।।- महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.24

56 अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते।
विनिवृत्य जरा मृत्युं न शोचते न हृष्यति।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.25

57 देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.26

58 नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्वेनान्तरात्मना।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.56

59 परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम्।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.60

60 भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथनन्नं विपच्यते।
कथं रसत्वं प्रजति शोणितत्वं कथं पुनः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 19.39

61 ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व,20.6

62 यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते।
विद्वांस सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः।।
घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया।
स्पर्शनेन तदस्पृश्यं मनसा त्ववगञ्यते।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 20.11-12

63 उभे वाङ् मनसी गत्वा भूतान्मानमपृच्छताम्।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्वच्छिन्धि नौ संशयं विभो।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 21.14

64 तेज्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्चभावान्।
भूतात्मानं लक्ष्येरन् शरीरे।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्।
कामक्रोधाज्यां जरया मृत्युना च।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 28.3

65 अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम्।
यदाहिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्यमिति विद्महे।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 28.16

66 अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याज्यतः परम्।
शक्यं बहुविधं कर्त्तुं भवता कार्यदूषणम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 28.17

67 सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम्।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन्सदा स्थावर जङ्गमम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 44.20

68 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च।
मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा।
एतत् सर्वं प्रसंज्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात्।
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 46.54-55

69 अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः।।
महाभूतविशालश्च विशेषयति शाखिनः।
सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः।।
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयात्।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 47.12-15

70 महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 49.14

71 वही, 50.2

72 वही, 50.3

73 शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.1

74 शुक्लपक्षस्य चाष्टज्यां माघमासस्य पार्थिव।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।।
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
समादेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.3

75 विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.4

76 भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा।

शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.13

77 स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम्।
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम्।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.14-15

78 शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम्।
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 14.17

79 अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः।
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.18

80 यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.21

81 यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढ़े स्रगिव तिष्ठति।
सद्सद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.22

82 हरि सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.23

83 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम्।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.25

84 यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.26

85 चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.27

86 यमन्नयो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम्।
दृष्ट्यानन्त्याम गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि।।
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम्।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.30-31

87 पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्यामहे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.32

88 यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम्।
नान्यः भक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.33

89 शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः।।
हुताशनमुखैर्दुर्वैधार्यते सकलं जगत्।
हविः प्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47. 40-41

90 ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम्।

यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.43

91 पादाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.47

92 यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः।
विश्वे च मरुतश्चैव रूद्रादित्याविश्वानावपि।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.49, पृ. 4535

93 अव्यक्तबुद्धयहंकारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4535

94 मत्स्यो भूत्वा विरिश्चाय वेदाः समाहृताः।
रसातलगतः शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

95 मन्दराद्रिर्धृतो येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने।
अतिकर्कशदेहाय तस्मै कूर्मात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

96 वाराहं रूपमास्थाय नहीं सवनपर्वताम्।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

97 नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयंकरम्।
हिरण्यकशिपुं जहने तस्मै सिंहात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

98 वामनं रूपमास्थाय बलिं संयज्य मायया।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

99 त्रिसप्तकृत्वो यश्चैकोधर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान्।
जघान क्षत्रियान् संज्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

100 जमदग्निसुतो जूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

101 यो हली मुसली श्रीमान् नीलाज्ज्वरधरः स्थितः।
रामाय रोहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

102 शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शर्ङ्गिणे पीतवाससे।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

103 वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रोडितो नन्दगोकुले।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः।।
सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

104 हनिष्यति कलौ प्राप्ते ज्लेच्छांस्तुरगवाहनः।

धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

105 यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.53

106 यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांङ्यास्तस्मै सांङ्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.54

107 यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।।
अपुण्यपुण्योपरमं यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.55-56

108 यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रयाः।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.62

109 विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.66

110 ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.68

111 यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.69

112 परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.70

113 सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.83

114 एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेघावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.92

115 कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरूत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशान्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.93

116 नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे।
संसारनिज्ञगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.94

117 प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.96

118 त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.98

119 भारतीय दर्शन, सतीश चन्द्र चट्टटोपाध्याय, पुस्तक भण्डार, पटना, पृ. 56

120 भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, संशोधित संस्करण, लोकभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1983, पृ. 156

121 हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्।
तत्त्व पूषन्नापावृणु सत्यथमार्य दृष्टते।। - ईशावास्योपनिषद्, 15

122 ऊँ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.2

123 यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 4

124 न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 6

125 दिदृक्षवो यस्य पदं सुमंगलम विमुक्त सङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 7

126 न विद्यते यस्य न जन्म कर्म वा न नाम रूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 8

127 सत्त्वेन प्रतिलज़्याय नैष्कर्ज़्येण विपश्चिता ।
नमः केवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.11

128 नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुण धर्मिणे ।
निर्विशेषाय साज़्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.12

129 गुणारणिच्छन्न चिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जित मानसाय।
नैष्कर्ज़्यभावेन विवर्जितागम स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.16

130 आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.18

131 यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.19

132 तमक्षरं ब्रह्म परं परेश मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगज़्यम।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.21

133 यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्व्या च कलया कृताः॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.22

134 यथार्चिषोग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत स्वरोचिषः।

तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥

- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.23

135 स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्न स्त्री न षण्ढो न पुमान न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जयतादशेषः ॥

- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.24

136 जिजीविषे नाहमिहामुया कि मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.25

137 सोहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोस्मि परं पदम ॥
योगरन्धित कर्मणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोस्ज्यहम् ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.26,27

138 किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम्।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम्।।
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.2-3

139 जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन् नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.4

140 तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन् नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.5

141 ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भुतं सर्वभूतभवोद्भवम्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.7

142 परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्।।
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता।।
ऊँ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद् भूतभृद् भावो भूतात्मा भूतभावनः।।
- महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.9,10,14

143 पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.15

144 सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः।
सञ्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.17

145 ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः।।

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः।

अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.21-22

146 अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।

वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिः सृतः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.24

147 लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षोधर्माध्यक्षः कृताकृतः।

चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दष्ट्रश्चतुर्भुजः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.28

148 महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः।

अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदां पतिः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.33

149 गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः।

निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः।।

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो नेता समीरणः।

सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राज्ञः सहस्रपात्।।

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।

अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.36-37,50

150 महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी।

गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.71

151 भगवान् भगहानन्दी वनमाली हलायुधः।

आदित्योज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.73

152 श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।

श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.78

153 स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः।

विजितात्माविधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नः संशयः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.79

154 कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः।

अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धञ्जय।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.83

155 विश्वमूर्तिर्महमूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान्।

अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.90

156 एको नैकः सवः कः किं यत् तत् पदमनुत्तमम्।

लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.91

157 सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।

वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः।।

अमानी मानदोमान्योलोकस्वामीत्रिलोकधृक्।

सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.92-93

158 अणुर्वृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।

अधृतः स्वधृतः स्वास्य प्राग्वंशो वंशवर्धन।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.103

159 धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमोऽयमः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.105

160 अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रज्यूर्जितशासनः।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.110

161 उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः।
वीरहा रक्षणः सन्तो जीवनः पर्यवस्थितः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.112

162 भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.117

163 आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.111

164 य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचित् सोऽमुत्रेह च मानवः ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.122

165 वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियोविजयी भवेत्।
वैश्यो धनसृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.123

166 धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात्।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात् प्रजाम् ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.124

167 वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्।।
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.130-131

168 इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.132

169 सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.137

170 ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्।।
योगो ज्ञानं तथा सांङ्यं विद्या शिल्पादि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वे जनार्दनात्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.142

171 विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षंते यान्ति पराभवम् ।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.142

द्वितीय अध्याय

पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन

महर्षि वेद व्यास द्वारा विरचित 'पंचम वेद' की मान्यता वाला यह विशाल ग्रन्थ 'कार्ष्णवेद' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। सर्वप्रथम इस महनीय इतिहास को महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। तत्पश्चात् वैशज़्पायन आदि ने अपने शिष्यों को सुनाया। देवर्षि नारद ने देवताओं को और असित देवल ने इसे पितरों को सुनाया। शुकदेव जी ने इसे यक्ष, गन्धर्व और राक्षसों को सुनाया। अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के सर्पयज्ञ के अवसर पर वैशज़्पायन ने इसे जनमेजय-सहित उपस्थित मनुष्यों को सुनाया। जनमेजय ने वैशज़्पायन से राजधर्मदिविषयक अपनी जिज्ञासाओं का समाधान चाहा था और समाधान में परमज्ञानी महर्षि वैशज़्पायन ने जो उत्तर दिए वे भी कालान्तर में चलकर इस मूलग्रन्थ में सन्निविष्ट हो गए। एक बार नैमिषारण्य तीर्थ (आधुनिक उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिला में) शौनक आदि ऋषियों ने द्वादशवर्षीय यज्ञ का आयोजन किया। इस सत्र के अवसर पर लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सौति ने ऋषियों को सज़्पूर्ण महाभारत सुनाया। शौनकादि ऋषियों ने जो विविध प्रश्न किए और सौति ने उनका आज़्यानादि से समर्थित जो समाधान प्रस्तुत किया, वह सब पुनः भारतसंहिता में सन्निविष्ट हुआ।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों जैसे - महाभारत, मनुस्मृति, वेद आदि को सिद्ध उपदेश देने वाला माना जाता है। अतः इन सभी का खण्डन तर्क की कसौटी पर करना अनुचित है। इस सन्दर्भ में स्वयं महर्षि व्यास का कथन है।[1] महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विषयों का आश्चर्यजनक और विस्तृत वर्णन किया है। इसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर समाज में वैज्ञानिक, आर्थिक तथा वैचारिक जागृति के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन प्रारज़्भ हुए वहीं दूसरी ओर कुछ स्वार्थी, लोभी तथा अनाचारी व्यक्तियों के दुराचार के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास आदि अवैध कार्य भी किये जाने लगे। अतः तत्कालीन समाज का दर्पण महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह शास्त्र तथा काव्य से युक्त ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में महाभारत के सन्दर्भ में किया गया है, यथा - **महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यच्छायान्वयिनि** ..... सूचितः।[2] इस प्रकार इस दीर्घकालिक प्रवचन के फलस्वरूप

इस ग्रन्थ के कलेवर में व्यापक परिवर्धन हुआ और महर्षि व्यासविरचित 'काव्य' अब 'महाकाव्य' अथवा 'भारत' अब 'महाभारत' हो गया। महाभारत के माहात्ज़्य के विषय में महर्षि व्यास ने स्पष्ट कहा है–

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।

न चाज़्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।

कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।।[3]

अर्थात् इस आज़्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष वेदाङ्ग तथा उपनिषदों को भले जाने, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र है। महाभारत का सांस्कृतिक मूल्य भी महत्त्वपूर्ण है। हम इस ग्रन्थ के अध्ययन से ही अपनी संस्कृति के विशुद्ध स्वरूप से परिचित हो सकते हैं। भारतीय वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इस महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त अनुगीता, भीष्मस्तवराज, गजेन्द्रमोक्ष, विष्णुसहस्रनाम जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी के अंश हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पञ्चरत्न' कहा जाता है। पंचरत्नों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार किया जा रहा है–

'**श्रीमद्भगवद्गीता**' का भारतीय साहित्य, संस्कृति और धर्म में अद्वितीय स्थान है। आज भले ही हिन्दू समाज पर श्रीमद्भगवद्गीता का पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा हो फिर भी इतना तो सर्वमान्य है कि इसकी शिक्षाओं का प्रभाव हिन्दू धर्मानुयायियों के मानस-पटल पर अंकित है। यदि रामचरितमानस के समकक्ष कोई ऐसा धर्मग्रन्थ हो, जो अत्यन्त लोकप्रिय हो और जिससे अध्यात्म, धर्म तथा आचार के गूढ़ प्रश्नों पर सूक्ष्म, परन्तु हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी भाषा में स्पष्ट वर्णन किया गया हो, तो निश्चय ही यह गौरव केवल (गीता) 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ से आज भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में सभी शास्त्रों का सारभूत है।[4] इसी कारण देश के सभी विद्वानों ने इसका अध्ययन कर अपने हृदय को मन्त्रमुग्ध किया। ***भगवद्गीता को उपनिषद् के अन्तर्गत माना गया है, जो भारतीय संस्कृति की मेरुदण्ड है। यह वह आधारपीठ है, जिस पर आधुनिक समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। उपनिषद् भारतीय जीवन साहित्य के अमूल्य ग्रन्थ है, यही अतीत को वर्तमान से जोड़ने की एक शृंखला है। विश्व साहित्य के अक्षय ज्ञान भण्डार में द्वादश उपनिषद् अनुपम एवं***

सर्वश्रेष्ठ रत्न है। यह हमारे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक जीवन को स्वच्छ दर्पण के समान प्रतिबिज़्बित करती है।

भारत एक अति विस्तृत और विशालतम देश है। इसकी विशालता के साथ-साथ इसके धार्मिक और दार्शनिक साहित्य भी अनेक हैं, जिनकी व्याज़्या और विवेचन करना एक असंभव कार्य है। फिर भी भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करने के और उसकी आधुनिक प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मात्र श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन पर्याप्त है। किसी अन्य के नहीं बल्कि भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में इसमें उपलब्ध समस्त ज्ञान विश्व को धारण करने में समर्थ है। आचार्य शंकर ने इस ग्रन्थ को वेदों का सार माना और इसके उच्च आदर्शों की प्रशंसा की है। आचार्य शंकर ने अपनी गीता भाष्य की भूमिका में लिखा है कि गीताशास्त्र सज़्पूर्ण वेदार्थ का सार संग्रह रूप है, इसी कारण इसका अर्थ समझने में अत्यन्त कठिनाई होती है।[5] अनेक भाष्यकारों ने इसके विरोधी अर्थ प्रस्तुत किये हैं, जिससे वास्तविक अभिप्राय को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। **गीताशास्त्र का प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है**, जो इसके अर्थ के ज्ञानाभाव के कारण असज़्भव है। गीता का विशिष्ट प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् सभी पुरुषार्थों की सिद्धि है। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन प्रवृत्ति और निवृत्ति गीता शास्त्र ने बताये हैं।

इसी प्रकार '**अनुगीता**' में भी श्रीमद्भगवद्गीता का युद्ध के समय का उपदेश महाभारत के अंतभाग में, आश्वमेघिक पर्व में कृष्ण-अर्जुन संवादरूप पुनःप्रस्थापित हुआ है जो 'अनुगीता' नाम से प्रज़्यात है। अनुगीता ब्रह्म और जीवात्मा एवं इन्द्रियादि के विषयोपभोग की चर्चा विविध संवादों के द्वारा प्रस्तुत करती है। मूलतः व्यासजी को युद्ध घटना का सन्दर्भ छोड़कर, अब परमपद तक ले जानेवाला तत्त्व, अजुर्नरूपी मानव समाज तक पहुँचाने का उद्देश्य है। जिसके परिपाक रूप अनुगीता का प्रादुर्भाव हुआ। आज हिन्दुस्तान भौतिकता की दृष्टि से प्रगति की दौड़ में है। आर्थिक महत्ता के मनोरथ हमारे राष्ट्र की नेम है। भौतिकता ने साधन बढ़ाये हैं, तब दुःख के साथ ये कहना पड़ता है कि विश्व सहज प्राप्त धर्मभावना को भुला रहा है। हिन्दू धर्म की नींव आध्यात्मिक सत्यों पर है। ऋषियों ने और दृष्टाओं द्वारा प्रत्यक्ष किये सनातन सत्यों की आधारशिला पर हमारी संस्कृति खड़ी है। उनमें विश्वधर्म बनने की योग्यता है। उनके सिद्धान्त उन्नत है, दर्शन भव्य है, विद्वेष, विसंवाद और युद्ध से बाधित जगत को एक सन्देश उन्हें देना है। वह सन्देश है विश्व प्रेम का, सत्य और अहिंसा का और चेतनापूर्ण आध्यात्मिकता का।

उपनिषदों में ऋषियों की जो धर्मानुभूति बुनी गई थी, उनसे प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को अलग करके उनकी व्यवस्था के लिये व्यासजी ने श्रुति, स्मृति और पुराणों की समाज को भेंट दी।

महाभारत की रचना वेदव्यास की ही है, किन्तु कौरव-पाण्डव के पिता और सलाहकार ऐसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीनों के जन्मदाता भी व्यासजी हैं। इन तीनों के वंशों के द्वारा भारतीय युद्ध हुआ, जिसका अंत भी व्यासीजी ने देखा।

व्यासजी को हम हिन्दू धर्म के पिता मान सकते हैं। 'व्यक्ति का मोक्ष' और 'समाज का उद्धार' ये दोनों आदर्शों के प्रति अभेद बुद्धि से देखनेवाले, अज्युदय, निःश्रेयस दोनों का समन्वय साधनेवाले, अध्यात्म परायण व्यास के समान कोई अभी हुआ नहीं है। इसलिये हिन्दू धर्म ने उसे 'सत्यवादी दृढव्रत' कहा है। उनके ज्ञान के लिये दी अंजली में कहा गया है कि 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' और व्यास गिरा महाभारत को 'सार विश्वस्य' कहा है। मुज्य बात ये है कि व्यासजी ने हिन्दू धर्म को बंधियार नहीं बनाया। मोक्ष ही जिसका आदर्श है, वह धर्म कभी बंधन परायण नहीं होता। पाणी बहता ही भला। हिन्दू धर्म का प्रवाह भी प्रवाहित रहकर ही शुद्ध रहता है। वही दीक्षा व्यासजी ने हिन्दू धर्म को दी है।[6]

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू धर्म का साञ्प्रदायिक ग्रंथ न बनकर विश्वधर्म को मजबूत करनेवाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है। गीता का धर्म आदर्श सेवी होते हुए व्यवहार से संकलित है। ऐसे ही गीता और महाभारत धार्मिक आदर्श पूरा करते हैं। अनुगीताकार आदर्शों को पुनः स्थापित करने के लिये इच्छुक है। इसके लिये वक्ता-श्रोता, कृष्ण और अर्जुन निमित्त है, किन्तु स्थान और समय में परिवर्तन है। महाभारत के 18 पर्वों में आश्वमेधिक पर्व अंतर्गत अनुगीता पर्व में व्यासजी ने अनुगीता में उपदेश दिया है जो महदंश श्रीमद्भगवद्गीता का अनुसरण करता है। अनुगीता पर्व अध्याय 16 से 51 कृष्णार्जुन संवाद ही अनुगीता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' और अनुगीता दोनों का मूलाधार महाभारत है, फिर भी दोनों की अपनी विचार दृष्टि है।

कुरुक्षेत्र के समारांगण में हतोत्साह अर्जुन को युद्धाभिमुख करने के लिये दिया गया उपदेश 'श्रीमद्भगवद्गीता' है तो महाभारत के विनाशकारी युद्ध के बाद युधिष्ठिर के सुरक्षित शासन में और द्वारका जाने से पहले अर्जुन को प्रबोधित तात्विक उपदेश अनुगीता में है। लेकिन ये भी सच है कि अनुगीता में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का पुनरावर्तन नहीं है, किन्तु दोनों की अपनी आलेखन शैली और विशिष्ट विचारसृष्टि है। अर्जुन और उनके सारथि सखा, गुरु-कृष्ण का संवाद अनुगीता में पुनः तत्त्वार्थ स्वरूप में प्रस्तुत हुआ है। एक ही वक्ता-श्रोता होते हुए भी अनुगीता में उपेदश के समय दोनों की मानसिक भूमिका भिन्न है। भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट अनुगीता एक विशद ग्रंथ है। अलबत्त श्रीमद्भगवद्गीता का विश्व भव्य है, फिर भी अनुगीता आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अंतिम लक्ष्य तक ले जाती है।

इसी प्रकार '**भीष्मस्तवराज**' महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है।[7] शान्तिपर्व के 47वें अध्याय में भीष्म ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनका पूर्ण अभेद वेदों के ब्रह्म से किया है। इस स्त्रोत में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग द्वारा सगुण और निर्गुण श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की सज़्यक् व्याज़्या की गई है। इसमें राजा जनमेजय ने वैशज़्ायन से प्रश्न किया है कि बाणों की शुद्ध शय्या पर लेटे हुए पितामह भीष्म ने किस प्रकार से अपने प्राणों का परित्याग किया और उस समय उन्होंने किस योग को धारण किया? वैशज़्ायन ने जनमेजय के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि दक्षिणायन के समाप्त होने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण में आ गये तब माघ महीने के शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में दोपहर के समय पितामह भीष्म ने ध्यान अवस्था में होकर अपने चित्त को परमात्मा में लीन कर लिया।[9]

सैकड़ों बाणों से छिदा हुआ भीष्म का शरीर सूर्य के समान चारों तरफ तेज बिखेरता हुआ दिव्य शोभा से सुशोभित होने लगा, अनेको विद्वान ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे हुए थे। जिनमें वेदों के ज्ञाता व्यास एवं देवर्षि नारद जैसे बहुत से महात्मा महर्षि विद्यमान थे।[10] भीष्म बाणों की शय्या पर लेटे-लेटे ही हाथ जोड़कर पवित्र भावना से अपने मन वाणी और क्रिया द्वारा भगवान श्री कृष्ण का ध्यान करते-करते स्वस्थ स्वर से उनकी स्तुति करने लगे।[11] भीष्म जो वक्ताओं में श्रेष्ठ बहुत शक्तिशाली और परम धर्मात्मा थे, हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर भगवान वासुदेव की स्तुति में कहा[12] है कि श्री कृष्ण स्वयं शुद्ध है, उनकी प्राप्ति का मार्ग भी शुद्ध है, वे हंस स्वरूप, तत्पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक हैं।[13] उनका न आदि है, न अन्त वे ही परमब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि/सबका भरण-पोषण करने वाले भगवान श्री नारायण हरि ही उन्हें अच्छी तरह जानते हैं।[14] उन्हीं में सज़्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हीं में उनका लय होता है। जिस प्रकार धागे में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मा में समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुये हैं।[15]

भगवान सदा नित्य, विद्यमान और तने हुये एक सुदृढ़ सूत के समान हैं। उनमें यह कार्य कारण जगत उसी प्रकार गुथा हुआ है जैसे सूत में फूल की माला। यह सज़्पूर्ण संसार

उसके श्री अंग में स्थित है, उन्होंने ही इसे विश्व की सृष्टि की है।[16] उन श्री हरि के सहस्त्रों सिर, सहस्त्रों चरण और सहस्त्रों नेत्र हैं, वे सहस्त्रों भुजाओं सहस्त्रों मुकुटो तथा सहस्त्रों मुखों से देदीप्यमान हैं।[17] वे ही विश्व के परम आधार हैं। उन्हीं को नारायण देव कहते हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हैं। वे भारी से भी भारी और उत्तम से भी उत्तम हैं।[18] वाकों और अनुवाकों में, निषदों और उपनिषदों में तथा सच्ची बात कहने वाले साम मन्त्रों में उन्हीं को सत्य और सत्यकर्ता कहते हैं।[19]

वर्णसङ्करता के कारण महाभारत काल में कर्मों के आधार पर जाति का निर्णय प्रारज़्भ हो गया था। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में महर्षि भृगु द्वारा भारद्वाज ऋषि के समक्ष ब्राह्मणों के कर्म (व्यवसाय) की चर्चा की गयी है।[20]

इसी प्रकार **'गजेन्द्र मोक्ष'** में मनुष्य और पशु दोनों ही अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। पशु का जीवन निरुद्देश्य होता है, किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवनयापन करना चाहता है। वह अपने वर्तमान, भविष्य के फल के विषय में सोचकर कर्म करता है। मानव में बुद्धि की विशेषता है, इसी से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ''युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही दर्शन कहते हैं।'' जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो वही दर्शन है।[21]

महाभारत के पंचरत्न में सम्मिलित गजेन्द्र मोक्ष में भी जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति एवं त्रिविध दुःखों से मुक्ति बताया गया है। दार्शनिक चिंतन से परिपूर्ण इस स्तवन में गजेन्द्र द्वारा भगवत्स्वरूपों की तथा भगवत्कृपा द्वारा मोक्ष का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्रमोक्ष की कथा है। द्वितीय अध्याय में ग्राह के साथ गजेन्द्र के युद्ध का वर्णन है, तृतीय अध्याय में गजेन्द्रकृत भगवान् के स्तवन और गजेन्द्र मोक्ष का प्रसङ्ग है और चतुर्थ अध्याय में गज-ग्राह के पूर्व जन्म का इतिहास है। श्रीमद्भागवत में गजेन्द्रमोक्ष-आज़्यान के पाठ का माहात्ज़्य बतलाते हुए इसको स्वर्ग तथा यशदायक, कलियुग के समस्त पापों का नाशक, दुःस्वप्ननाशक और श्रेयः साधक कहा गया है। तृतीय अध्याय का स्तवन बहुत ही उपादेय है। भाव के साथ स्तुति करते-करते मनुष्य तन्मय हो जाता है। गजेन्द्र कृत इस स्तवन का आर्तभाव से पाठ करने पर लौकिक-पारमार्थिक महान् संकटों और विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है और निष्काम भाव होने पर अज्ञान के बन्धन से छूटकर पुरुष भगवान् को प्राप्त हो जाता है। स्वयं भगवान् का वचन है कि 'जो रात्रि के शेष में (ब्राह्ममुहूर्त के प्रारज़्भ में) जागकर इस स्तोत्र के द्वारा मेरा स्तवन करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु के समय निर्मल मति (अपनी स्मृति) प्रदान करता हूँ। और 'अन्ते मतिः सा गतिः' के

अनुसार उसे निश्चय ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है तथा इस प्रकार वह सदा के लिये जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है।

'गजेन्द्र मोक्ष' स्तवन में ईश्वर के विविध स्वरूपों का दार्शनिक विवेचन किया गया है। विपत्ति में गजेन्द्र मन को हृदय देश में स्थिर करके अपने पूर्व जन्म में सीखकर कण्ठस्थ किये हुए सर्वश्रेष्ठ एवं बार-बार दोहराने योग्य स्तोत्र का मन ही मन पाठ करने लगा। जिनके प्रवेश करने पर, जिनकी चेतना को पाकर ये जड़ शरीर और मन आदि भी चेतन बन जाते हैं, चेतन की भाँति व्यवहार करने लगते हैं। सज़्पूर्ण शरीर में प्रकृति एवं पुरुष रूप से प्रविष्ट हुए उन सर्व-समर्थ परमेश्वर का गजेन्द्र ने नमन किया।[22] गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध सत्तात्मक बताया गया है। यह सज़्पूर्ण विश्व प्रपञ्च उन्हीं की माया से अध्यस्त है। कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। ईश्वर सबके मूल हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है।[23] गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को एक नट की भाँति बताया है। जिनके वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जान सकता।[24] ईश्वर प्राप्ति के लिए समस्त आसक्तियों का परित्याग, ब्रह्मचर्य पालन तथा अलौकिक व्रतों का पालन आवश्यक माना गया है।[25] ईश्वर का कर्मवश ना तो जन्म होता है और न जिनके द्वारा अहंकार प्रेरित कर्म ही होते हैं जिनके निर्गुण स्वरूप का न तो कोई नाम है न रूप है, फिर भी समयानुसार जगत की सृष्टि एवं प्रलय; संहार के लिये अपनी माया से स्वीकार करते हैं।[26]

इसी प्रकार '**विष्णुसहस्रनाम्**' अनुशासन पर्व के 149 वें अध्याय में श्री विष्णुसहस्त्रनाम स्तोत्र के अन्तर्गत युधिष्ठिर व भीष्म के मध्य वार्ता का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत युधिष्ठिर ने भीष्म से छः प्रश्न किये हैं कि इस सज़्पूर्ण जगत में एक ही देव कौन है व पृथ्वीलोक का परम आश्रय स्थान कौन सा है? किस देवता का पूजन, कीर्तन, भजन तथा स्तुति करने से मनुष्य कल्याण की प्राप्ति कर सकता है? सभी धर्मों में परम श्रेष्ठ धर्म कौन सा है? और किसका जप करने से मनुष्य इस संसाररूपी बंधन से मुक्त हो जाता है?[27] युधिष्ठिर के उपर्युक्त प्रश्नों को सुनकर भीष्म ने कहा है कि इस चल-अचल संसार में देवों के देव, अनन्त तथा श्रेष्ठ पुरूषोत्तम का सहस्त्र नामों से निरन्तर जागरूक व एकाग्रचित रहकर स्तुति करने से मनुष्य इस जगत के सब दुखों से पार हो जाता है।[28] जो मनुष्य एकाग्रचित व उस परमशक्ति की भक्ति में लीन होकर उसका ध्यान, स्तवन व नमस्कार करता है वही इस मोहरूपी संसार से मुक्ति पा सकता है।[29]

परमपिता देव की स्तुति एवं भक्ति की प्रशंसा करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ब्राह्मणों का हित करने वाले सभी धर्मों के विद्वान, भूत, वर्तमान, भविष्य को जानने वाले, एवं

इस सञ्पूर्ण संसार के कारण रूप परमेश्वर का निरन्तर जप करने से मनुष्य समस्त कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[30] ईश्वर के स्वरूप एवं महिमा का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ईश्वर तेज:स्वरूप, तपस्वरूप, ब्रह्मा, सबका परम आश्रय, मङ्गलकारी, देवों के भी देव, अविनाशी, सञ्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करनेवाले हैं। महान आत्मस्वरूप विष्णु ऊँ सच्चिदानन्द स्वरूप, विराट रूप वाले, सब जगह व्याप्त, वषट्कार (जिनके उद्देश्य से यज्ञ में वषट् क्रिया की जाती है ऐसे यज्ञ स्वरूप) भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वामी, सञ्पूर्ण भूतों की रचना करने वाले, सञ्पूर्ण गुणों से युक्त, सञ्पूर्ण भूतों का पालन पोषण करने वाले, भावस्वरूप, सञ्पूर्ण भूतों के आत्मा, भूतों का उत्पादन एवं वृद्धि करने वाले है।[31] वह पूतात्मा (पवित्रात्मा), परमात्मा (परम श्रेष्ठ नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव) मुक्त पुरूषों की सबसे अच्छी गति, करने वाले, अव्यय, पुरूष, (शरीर में शयन करने वाले), क्षेत्रज्ञ (समस्त शरीर को पूर्णतया जानने वाले), एवं अक्षर (कभी क्षीण न होने वाले) है।[32] वह सर्वरूप, सारी प्रजा का प्रलयकाल में संहार करने वाले, तीनों गुणों से परे कल्याण स्वरूप (शिव), स्थिर, भूतों के आदि कारण, प्रलयकाल में सब प्राणियों के लीन होने के लिए अविनाशी स्थान रूप, अपनी इच्छा से भली प्रकार प्रकट होने वाले, समस्त भोक्ताओं को फल देने वाले, सबका भरण करने वाले दिव्य जन्मवाले, प्रभु (सबके स्वामी) एवं ईश्वर (उपाधिरहित ऐश्वर्य वाले) हैं।[33]

इसी प्रकार **'श्रीमद्भगवद्गीता'** गीता ज्ञान का भण्डार है। गीता धर्ममयी, सर्वशास्त्रमयी और सब प्रकार के तत्वज्ञानों से भरी हुई है। गीता का एक-एक श्लोक, एक-एक पद, यहाँ तक कि एक-एक अक्षर भी ज्ञान से शून्य नहीं है। यह योगशास्त्र का विषय है। इसमें एकमात्र ब्रह्मविद्या का निरूपण है। इस ग्रन्थ के सभी श्लोक मंत्र है। सञ्पूर्ण गीता ज्ञाननिष्ठा से परिपूर्ण है, ज्ञान निष्ठा ही मोक्ष का कारण है। बिना ज्ञाननिष्ठा से मुक्ति नहीं मिलती है, परन्तु ज्ञाननिष्ठा से पहले उपासना और उपासना के पहले कर्मयोग या कर्मनिष्ठा की आवश्यकता होती है। अतः कर्म उपासना, ज्ञान तीनों ही मोक्ष के कारण है। इन तीनों में से किसी एक के बिना काम नहीं चल सकता। तीनों साधनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना, ज्ञान के बिना, केवल कर्म से काम नहीं चलता है, इसी तरह ज्ञान के बिना केवल कर्म और उपासना से भी काम नहीं चलता। कहने का तात्पर्य है कि तीनों में से एक के न रहने पर शेष दोनों बेकार है। ये सदा एक-दूसरे के पूरक है। इन दोनों में भी भेद है कि कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और उपासना से चित्त एकाग्र होता है, और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्मकाण्ड, दूसरे छः अध्यायों में उपासना का वर्णन और शेष के छः अध्यायों में ज्ञान का वर्णन है। इस तरह 18 अध्यायों और 700 श्लोकों में

गीता का वर्णन है। जब मनुष्य कर्मयोग और उपासना का सञ्पूर्ण अध्ययन कर लेता है तब ज्ञाननिष्ठा उसका मुञ्य ध्येय हो जाती है। जब ज्ञाननिष्ठा का अध्ययन कर लेता है, तब उसके सारे दुःखों का नाश हो जाता है, और उसको परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

जिस तरह वेद में कर्म उपासना और ज्ञान का निरूपण किया जाता है, उसी तरह गीता में भी कर्म, उपासना और ज्ञान का निरूपण किया जाता है। गीता में ऊँच नीच का भेद नहीं है। गीता का मुञ्य उपदेश है 'आत्मा सब में समान है' सभी ब्रह्म है और जीव तथा ब्रह्म में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की भलाई के लिए जिस तरह यह ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, अर्जुन ने जिस भाँति इन उपदेशों को ध्यान से समझकर अपना कर्म ठीक से किया। उसी प्रकार महर्षि वेदव्यास ने भी जगत् के उपकार के लिए, यह विचार किया कि कुछ दिनों बाद ऐसा समय आयेगा कि लोग वेद को समझ नहीं सकेंगे और ब्रह्मविद्या को भी नहीं जान पायेंगे, इसी को ध्यान में रखकर भगवान के मुख से निकले ब्रह्मज्ञान को यथास्थान रखकर अपने द्वारा रचित महाभारत के 'भीष्मपर्व' में जोड़ दिया और उसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' रख दिया था। इसमें सन्देह नहीं है कि गीता अलञ्य ग्रन्थ है, इसके समान उपदेश पूर्ण और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसके प्रमाण स्वरूप में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं गीता के आश्रय पर ही रहता हूँ, गीता ही मेरा परमोत्तम घर है और मैं गीता के ज्ञान का आश्रय लेकर ही त्रिलोकों का भरण-पोषण करता हूँ। यह जो गीता है स्वयं परब्रह्म रूप चिदानन्द श्रीकृष्ण ने अपने मुख से अर्जुन को सुनायी है, इससे वह वेदत्रयी रूप, कर्मकाण्डमय और सदा आनन्द तथा तत्व ज्ञान की देन है। यह गीता का उपदेश एक तीखे नैतिक अर्न्तद्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। इसके उपदेश की नाटकीय परिस्थिति उसे प्रत्येक ईमानदार अन्वेषक और जिज्ञासु के लिए महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय बना देती है। गीता के उपदेशों में समन्वय की भावना है जो अत्यधिक उदार है। उसमें किसी भी धर्म के मानने वालों के लिए रोचक एवं महत्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता में साञ्प्रदायिकता की प्रवृत्ति नहीं होने से यह सब प्रकार के पाठकों को आकृष्ट करती है। गीता का स्थान विश्व के बड़े धर्मग्रन्थों में है। आज के युग में माना जाता है कि गीता एक असाञ्प्रदायिक, सभी धर्मों को जोड़ने वाली एक अद्भुत ग्रन्थ के रूप में उभर कर सामने आयी है। जो विश्व के धार्मिक और अधार्मिक विचारधारा के लोगों को आकृष्ट करती है।

गीता उपनिषदों का सार है। गीता ध्यान में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा गया है कि भगवद्गीता अर्थात् 'भगवान द्वारा गाया उपनिषद्' इससे स्पष्ट होता है कि सब उपनिषद मानो गाय है ग्वालों का परम प्रिय श्रीकृष्ण इन गायों को दुहने वाला है, अर्जुन बछड़ा है, इस रस को पीने वाला हर व्यक्ति है। यह जिज्ञासु जिस अमृत का पान करता है, वह गीता गौमाता का महान ज्ञानामृत रूपी

दूध है।[34] उक्त कथन का अभिप्राय है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है, इसकी धारा अमरत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है। जो इस अमृत का पान करें वही अर्जुन है। गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह प्रधान रूप से भागवत धर्म भगवान द्वारा चलाये हुए धर्म के विषय में ही है।[35] भागवत धर्म का प्रतिपादन वासुदेव कृष्ण ने किया है। श्रीकृष्ण को श्रीभगवान का नाम प्रायः भागवत धर्म में ही मिला है। यह नया उपदेश नहीं है। पूर्वकाल में यह उपदेश भगवान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। यह बात गीता के चौथे अध्याय के श्लोक में दी गयी है।[36] भावगत धर्म कर्म प्रधान है, इसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों के द्वारा हो सकती है। भागवत् धर्म के अनुसार ज्ञानमार्ग कठिन मार्ग है, सर्वसाधारण जन के लिए सुलभ नहीं है, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग है। इसका अनुसरण सभी करते हैं, भागवत् धर्म में तप और यज्ञ के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गयी है और यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म के बन्धन से मुक्त होना आवश्यक है। कर्मों के फल से मुक्ति ईश्वर की कृपा द्वारा ही संभव है और ईश्वर की कृपा पाने के लिए ईश्वर भक्ति अति आवश्यक है। सारांश यह है कि उपर्युक्त कथनों से ऐसा लगता है कि गीता में अर्जुन को उपदेश दिया गया है वह विशेष करके मनु इक्ष्वाकु के समय से परम्परा चली आ रही है। भागवत पुराण का भागवत् धर्म और महाभारत का नारायणी धर्म दोनों एक ही है। इसका समर्थन महाभारत में और विशेष करके गीता में किया गया है। व्यास जी जब महाभारत की रचना कर रहे थे, तब भागवत् धर्म की भक्ति को भूल गये थे। गीता व्यास जी द्वारा कृत, उनकी योग्यता, सामर्थ्यता और ज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि 'गीता एक उस गुलदस्ते की तरह है जिसमें उपनिषदों के धार्मिक सत्य संग्रहित है।'एनीबेसेन्ट के अनुसार 'महाभारत की अनमोल शिक्षाओं का अमूल्य संग्रह भगवद्गीता में है।'

प. मदन मोहन मालवीय के कथनानुसार मेरा मानना है कि मानव का सम्पूर्ण इतिहास श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व गहन और अतिमहत्त्वपूर्ण मानव शक्ति से परिपूर्ण है और संसार की सजी जीवित भाषाओं में भगवद्गीता जैसी सत्य और ज्ञान में पिरोयी हुई सरल पुस्तक विश्व में कोई नहीं है।

इसी प्रकार '**अनुगीता**' महाभारत के पांच रत्नों में से एक है। श्रीमद्भगवद्गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णुसहस्रनाम् और गजेन्द्रमोक्ष। इन पाँचों में अनुगीता के विषय में किसी भी सुहृदय को ऐसी अपेक्षा रहती है कि 'अनुगीता' जैसे महाभारत के पंचरत्नों में से एक भागरूप

काव्य विभाग को विशेष प्रसिद्धि क्यों न मिली? इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता को जितनी ज़्याति मिली है उतनी नहीं, लेकिन अनुगीता से प्रत्येक हिन्दुमानव परिचित बने ऐसा नम्र प्रयास यहाँ किया गया है। वाल्मीकि का शोक जेसे श्लोकत्व से व्यक्त हुआ ऐसे ही अर्जुन की युद्ध के बाद की व्याकुलता के कारण अनुगीता प्राप्त हुई। श्रीकृष्ण और अर्जुन के जीवन में ऐसा प्रसंग महाभारत में ही आश्वमेघिक पर्व के अन्तर्गत निर्मित हुआ। कौरव-पाण्डव युद्ध पूर्ण होने के बाद कृष्णमुख से आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग जानने से अर्जुन को हुई जिज्ञासा से उसने कृष्ण से प्रश्न किया।

'हे महाबाहो देवकी नंन्दन! जब संग्राम का समय उपस्थित हुआ, तब मुझे आपके माहात्ज़्य का ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ था, किन्तु हे केशव! मैत्री के वश होकर आपने मुझे जो ज्ञानोपदेश दिया था, वह सब इस समय, मेरा मन विचलित होने के कारण नष्ट हो गया था। अर्थात् ये सब मुझे विस्मृत हुआ है।[37] इसके विषय में मुझे पुनः जिज्ञासा होती है। आप तो हे माधव! कुछ समय के बाद द्वारिका जानेवाले हो, तो ये सब ज्ञान मुझे पुनः सुनाईये।[38] उस वक्त अर्जुन ने कृष्ण को जो उत्तर दिया था वह 'अनुगीता' को एक उत्तम और अंतःप्रेरणा जनित सच्चे काव्य के रूप में सिद्ध करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं- उस वक्त तुझे प्रबोधित धर्म ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिये ठीक से पर्याप्त था, इसलिये उसे उसी स्वरूप में देना मेरे लिये संभव नहीं है, उस समय मैंने योग युक्त बनकर, परमात्म तत्त्व का वर्णन किया था, अब तो उस विषय का ज्ञान तुझे देने के लिये मैं एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ।[39] श्रीकृष्ण का ये उत्तर उनकी प्रबुद्ध अवस्था को व्यक्त करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सृजन में योगयुक्त स्थिति कारणभूत थी, आज की स्थिति भिन्न है, युद्ध पूर्ण हो चुका है, पाण्डवों की विजय हुई है, युधिष्ठिर ने राजगद्दी संभाल ली है।

कहाँ समरांगण में 'न योत्स्ये' ऐसा कहकर शस्त्र त्यजने वाले अर्जुन की मनोदशा और कहाँ हस्तिनापुर के राज महल में प्रसन्न वातावरण में श्रीकृष्ण के साथ शांतचित्त से बातें करते स्वस्थ और निश्चिंत अर्जुन की मनोदशा? दोनों की मानसिक स्थिति अब शांत है। इसलिये वह उपदेश, उसी भाषा में देना संभव नहीं, इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को 'पुरातन इतिहास'का एक कथानक कहकर अर्जुन की जिज्ञासा संतुष्ट करते हैं। श्रीकृष्ण के इस उद्बोधक को महाभारत में 'अनुगीता' कहा है।

इसी प्रकार **'भीष्मस्तवराज'** सज़्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके अनन्य भाव से स्थित रहने वाला साधक मोक्ष के उद्देश्य से अपने विशुद्ध अन्त:करण में परमात्मा गोविन्द का ज्ञान की दृष्टि से साक्षात्कार करता है। वह परमात्मा वायु और इन्द्र से भी बढ़कर है, अपने तेज से

सूर्य को भी तिरस्कृत कर देता है और इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे है। भीष्म उसकी शरण में जाना चाहते हैं।[40]

पुराणो में जिनका पुरूष नाम से वर्णन किया गया है, जो युगों के आरज़्भ में ब्रह्म, और युगान्तर में संकर्षण कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वर की भीष्म उपासना करते हैं।[41] जो एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट हुये हैं,[42] जो इन्द्रियों और उनके विषयों से परे होने के कारण, अधोक्षज कहलाते हैं। उपासकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, यज्ञादि कर्म और पूजन में लगे हुये अनन्य भक्त जिनका भजन करते हैं, जिन्हें जगत का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सज़्पूर्ण प्रजायें स्थित हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म हैं, सत् और असत् से विलक्षण हैं, जिनका न आदि है न मध्य न अन्त, जिन्हें न तो देवता ही ठीक-ठीक जानते हैं न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियों को संयमित रखते हुये सभी देवता, असुर गंधर्व, सिद्ध, ऋषि बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा उपासना किया करते हैं, जो दुख रूपी रोग की सबसे बड़ी औषधि हैं, जो जन्म मरण से रहित हैं, जो स्वयम् और सनातन देवता हैं, जिन्हें इन चर्म चक्षुओं से देखना और बुद्धि द्वारा सज़्पूर्ण रूप से समझना असज़्भव है, उन भगवान श्री हरि नारायण की भीष्म शरण लेते हैं। जो इस विश्व के विधाता और चराचर जगत के स्वामी हैं, जिन्हें संसार का साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, भीष्म उस परमात्मा की शरण में हैं।

अदिति के गर्भ से उत्पन्न, दैत्यों के नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपों में प्रकट होने वाले सूर्य स्वरूप परमेश्वर पूजनीय हैं। अग्नि जिनके मुख हैं वे देवता सज़्पूर्ण जगत को धारण करते हैं, जो हविष्य के सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्र स्वरूप परमेश्वर को भीष्म नमन करते हैं। जो अज्ञानरूपी अंधकार से परे और ज्ञानलोक से अत्यन्त प्रकाशित होने वाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मृत्यु से सदा के लिये छूट जाता है उन ज्ञेय स्वरूप परमेश्वर को भीष्म प्रणाम करते हैं।[43]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेद, जिनके आश्रय है, पाँच प्रकार का हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञ के रूप में प्रकट हुए परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[44] पदों के समूह जिनके अंग है, संधि जिनके शरीर की जोड़ है, स्वर और व्यंजन जिनके लिए आभूषण का काम करते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहा जाता है, उस परमेश्वर को वाणी के रूप में भीष्म नमस्कार करते हैं।[45] जो अपनी योग माया के द्वारा शेषनाग के हजार फणों के बिस्तर पर शयन करते हैं। विश्वदेव, मरूद्गण, रूद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, वसु, सिद्ध और साध्य ये सब जिसकी विभूतियाँ हैं उन देव स्वरूप परमात्मा

को भीष्म नमस्कार करते हैं।[46] अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्रायें और उनका कार्य आदि जिनका स्वरूप है। जो भूत वर्तमान और भविष्य कालरूप है, जो भूत आदि की उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं, जो समस्त प्राणियों के अग्रज हैं उन तत्त्वमय और भूतात्मा परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[47]

भगवान विष्णु के विविध रूपों को स्मरण करते हुए कहा है कि जिन्होंने मत्स्य रूप धारण कर रसातल में जाकर नष्ट हुये समस्त वेदों को वापस ला दिया था उन मत्स्य रूपधारी श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[48] वह प्रभु जिन्होंने अमृत प्राप्त करने के लिए समुद्र मंथन के समय अपनी पीठ पर मंदराचल धारण किया था, उन अत्यंत कठोर देहधारी कच्छप रूप भगवान श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[49] जिन्होंने वराह रूप धारण कर अपने एक दाँत के द्वारा वन और पर्वतों सहित सज़्पूर्ण पृथ्वी का उद्धार किया था उन वराह रूपधारी भगवान का भीष्म नमस्कार करते हैं।[50] जिन्होंने नृसिंह रूप धारण करके सज़्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये भयंकर हिरण्यकश्यप नामक राक्षस का वध किया था।[51] उन नृसिंह स्वरूप भगवान श्री हरि को भीष्म नमस्कार करते हैं। जिन्होंने वामन रूप धारण कर अपनी माया के द्वारा बलि को बाँध कर तीनों लोकों को अपने पैर से नाप लिया था, उन वामन रूपधारी भगवान श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[52]

जिन्होंने धर्म और गौरव का विरोध करने वाले क्षत्रियों का युद्ध में इक्कीस बार विनाश किया, ऐसे क्रोधात्मा परशुराम को भीष्म नमस्कार करते हैं।[53] जिन्होंने दशरथ नन्दन श्री राम का रूप धारण करके रावण का वध किया था उन क्षत्रियात्मा श्री राम स्वरूप श्री हरि को भीष्म का प्रणाम है।[54] जो प्रभु जो सदा हल और मूसल धारण किये रहते हैं और अद्‌भुत शोभा से सज़्पन्न रहते हैं, जिनके श्री अंगों पर नील वस्त्र शोभायमान रहता है उन शेषावतार रोहिणी नंदन राम को भीष्म नमस्कार करते हैं।[55] जो अपने हाथों में शंख, चक्र , शार्ङ्ग, धनुष, पीताज़्बर और वनमाला धारण किये रहते हैं उन श्रीकृष्ण स्वरूप श्री हरि को भीष्म नमस्कार करते हैं।[56] वह प्रभु जो कंस वध के लिये वसुदेव के अनुपम पुत्र रूप में प्रकट हुये तथा नन्द के गोकुल में तरह-तरह की लीलायें करते रहे जो अर्जुन के सारथी बने और तीनों लोकों के लिये गीता ज्ञानमय अमृत प्रदान किया उन लीलात्मा और ब्रह्मात्मा श्री कृष्ण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[57] जो कलियुग आने पर घोड़े पर सवार हो धर्म की स्थापना के लिये ज़्लेच्छों का वध करेंगे उन कल्किरूप श्री हरि को भीष्म का नमस्कार है।[58]

इसी प्रकार **'गजेन्द्र मोक्ष'** विवेकी पुरुष कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं तथा जो स्वयं तो नित्यमुक्त, परमानन्द एवं ज्ञान-स्वरूप है ही, दूसरों को कैवल्य-मुक्ति प्रदान करने की सामर्थ्य वाले भगवान को गजेन्द्र ने अपनी रक्षा हेतु नमस्कार किया।[59]

ईश्वर सत्त्व, रज, तम-इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था को धारण करते हैं।[60] जैसे यज्ञ के काष्ठ अरणि में अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही ईश्वर ने अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढक रखा है। उन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने पर ईश्वर विविध प्रकार की सृष्टि की रचना करता है। और जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करके वेदशास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्मा के रूप में स्वयं ईश्वर प्रकाशित हो उठते हैं।[61] जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सञ्पत्ति और स्वजनों में आसक्त हैं उनके लिए ईश्वर की प्राप्ति अत्यंत कठिन बतलाई गई हैं, क्योंकि ईश्वर स्वयं गुणों की आसक्ति से रहित है। जीव-मुक्ति पुरुष अपने हृदय में निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करते हैं[62] और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करते हैं।[63] ईश्वर अविनाशी, सर्वशक्तिमान, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म है जो अत्यन्त निकट रहने पर जी बहुत दूर जान पड़ता है, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा प्राप्त होता है। वह ईश्वर आदि अनंत एवं परिपूर्ण है।[64]

इसी प्रकार **'विष्णुसहस्रनाम्'** में विष्णु के एक हजार नामों का वर्णन है उनमें से कुछ इस प्रकार है- समस्त लोकों के अध्यक्ष, देवताओं के अध्यक्ष, कार्य के अनुरूप फल देने वाले, धर्म और अधर्म का निर्णय करने वाले धर्माध्यक्ष, कार्यरूप से कृत और कारण रूप से अकृत, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और निराकार ब्रह्मा इन चार स्वरूपों वाले, उत्पत्ति, स्थिति, नाश और रक्षारूप इन चार व्यूहों को रचने वाले, चार दाढ़ों वाले नरसिंह रूप, चार भुजाओं वाले भगवान विष्णु हैं।[65] ईश्वर महान धनुर्धारी, पृथ्वी का पालन पोषण करने वाले, श्री युक्त, सज्जनों को आश्रय देने वाले, किसी बंधन में न बंधने वाले देवताओं को आनन्दित करने वाले, वेदों के द्वारा वश में रहने वाले, देववाणी को जानने वालों के स्वामी हैं।[66]

ईश्वर सब विद्याओं का उपदेश करने वाले गुरू, ब्रह्मा आदि को भी ब्रह्म विद्या प्रदान करने वाले, सत्य स्वरूप, विश्वात्मा, सहस्त्राक्ष, सहस्त्र सिर वाले विष्णु (सर्वव्यापी) सभी शोकों से रहित, संसार के भवसागर से तारने वाले, जन्म-मृत्यु के भव से तारने वाले, शूरवीर,

श्री वसुदेव जी के पुत्र, समस्त जीवों के कर्ता–धर्ता, सबके अनुकूल, सैकड़ों बार अवतरित होने वाले, अपने हाथ में कमल धारण करने वाले, एवं कमल के समान दृष्टि वाले हैं।[67]

भगवान विष्णु महावाराह रूप धारण करने वाले, नष्ट हुई पृथ्वी को पुनः प्राप्त कर लेने वाले, सुसज्जित सेना के सहित युद्ध में गमन करने वाले, सोने का बाजूबंद धारण करने वाले, हृदय के भीतर छिपे रहने वाले, गज़्भीर स्वभाव वाले, जिनके स्वरूप में प्रविष्ट होना अत्यन्त कठिन हो ऐसे, वाणी और मन से जानने में न आने वाले, चक्र और गदा आदि को धारण करने वाले हैं।[68] उत्पत्ति और प्रलय, आना और जाना तथा विद्या और अविद्या को जानने वाले, अपने भक्तों का प्रेम बढ़ाने के लिए उनके ऐश्वर्य का हरण करने वाले, परम आनन्द देने वाले, वनमाला धारण करने वाले, हल धारण करने वाले, अदिति पुत्र, वामन भगवान, सूर्यमण्डल में विराजमान ज्योतिः स्वरूप, सभी कठिनाइयों को सहन करने वाले, सर्वश्रेष्ठ गति स्वरूप हैं।[69]

इसी प्रकार **'श्रीमद्भगवद्गीता'** इस अति विशिष्ट पुस्तक में 18 अध्याय है जो वेद उपनिषदों के वर्णन से परिपूर्ण है। आज के युग में और आने वाले युग में सज़्पूर्ण प्रसन्नता के मार्गदर्शक के रूप में प्रसिद्ध है। यह मानव जगत की उच्च समृद्धि के लिए त्रि-आयामी ज्ञान, कर्म, सेवा का उपदेश देती है। यह उच्चतम ज्ञान, शुद्धत्तम प्रेम और प्रकाशवान कर्म का बोध मानव को कराती है। यह आत्मसंयम, त्रिआयामी कठोर तपस्या, अहिंसा, सत्य, त्याग, निष्काम कर्म और अधर्म, असत्य के विरुद्ध लड़ाई की शिक्षा देती है।

एम.हिरियन्ना के विचारनुसार लोकप्रियता के सज़्बन्ध में गीता का विश्व में भारतीय विचारकों के अनुसार प्रथम स्थान है। गीता के उपनिषदों के दायरे में कठोर कार्य का नया दर्शन स्थापित किया। गीता का लक्ष्य धार्मिक जीवन के सज़्पूर्ण नीतिशास्त्र का एक अनोखा पहलू यह है कि यह आचारिता सिद्धान्त से मुक्त होकर आत्मनीति की स्वराजिता को महत्त्व देती है। मूलग्रन्थानुसार गीता प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य महाभारत का एक मुज़्य अंग है। भीष्मपर्व के 25वें अध्याय से 42वें अध्याय तक है। इसे भारतीय विचारों, संस्कृति, दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वलौकिक और सर्वकालिक ग्रन्थ माना जाता है, और जिसे सनातन धर्म कहते हैं।

इसी प्रकार **'अनुगीता'** महाभारत में समग्रतया कृष्ण ने धर्म की स्थापना की है, फिर वह श्रीमद्भगवद्गीता हो या अनुगीता। उनका मर्म, उनका उपदेश आध्यात्मिक उन्नति ही है। उसके लिये युगपुरुष श्रीकृष्ण पाण्डव के सारथि बनें। जब अनुगीता में श्रीकृष्ण स्वमुख से, अन्य प्रसंगों से अर्जुन को जीवन का लक्ष्य समझाते हैं। मानवजाति का इतिहास युद्ध मैदान पर गायी गई कृति है, तो अनुगीता युद्ध के बाद शांति के स्वप्न से, मोक्ष की ओर ले जानेवाला विरक्त काव्य है।

महाभारतकार ने युद्ध में मिला हुआ विजय कितना निर्वेदपूर्ण होता है, ये पाण्डवों के स्वर्गारोहण के द्वारा दर्शाया। आततायियों के उपद्रवों के कारण धर्मग्लानि हुई, इसलिये क्षात्रधर्म अर्जुन का स्वधर्म बना और धर्म की संस्थापना के लिये महायुद्ध की शरण ली गई। सदियों के बाद महावीर स्वामी ने मानवजाति को एक सत्य दिखाया 'अन्य को जीतने के बजाय, स्वयं अपने आपको जीतें'। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का शस्त्र दिया। युद्ध किसी समस्या का हल नहीं, क्योंकि ये स्वयं एक बड़ी समस्या है। मिट्टी के तेल से आग बुझाने का प्रयत्न करना अयथार्थ है। युद्ध वस्तुतः मानवता का ही अपमान है। अनुगीता शांति का संदेश लेकर अर्जुन के द्वारा समग्र मानवजाति को जीवन साधना की ओर ले जानेवाला ग्रंथ है। अनुगीता में धर्म का सूक्ष्म स्वरूप वर्णित है। धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का सञ्बन्ध मूलतः एकता के साथ है। अनुगीता की यात्रा महाभारत की दृष्टि से स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जानेवाली है। अनुगीता की सूक्ष्म समझ में मानव धर्मों की अनेकता का विलीनीकरण होता है और उनसे मानव-मानव को जोड़नेवाला आत्मसेतू रचा जाता है।

इसी प्रकार **'भीष्मस्तवराज'** जो स्थूल जगत में अव्यक्त रूप से विराजमान हैं, बड़े-बड़े ऋषि जिसके तत्त्व का अनुसंधान करते रहते हैं, जो सञ्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ के रूप में स्थित है उस क्षेत्रज्ञ रूपी, परमात्मा को भीष्म प्रणाम करते हैं।[70] जो सत, रज और तम इन तीन गुणों के भेद के कारण विविध प्रतीत होते हैं, गुणों के कार्यभूत सोलह विकारों से आवृत्त होने पर भी अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, सांञ्य मत के अनुयायी जिन्हें पुरूष मानते हैं उन सांञ्य स्वरूप परमात्मा को भीष्म प्रणाम करते हैं।[71] जो नींद को जीतकर प्राणों पर विजय प्राप्त कर चुके हैं और इन्द्रियों को अपने वश में करके शुद्ध सत्य में स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाञ्यास में लगे हुये, योगीजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

पाप पुण्य का नाश हो जाने पर पुनर्जन्म के रूप से मुक्त हुये शान्तचित सन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन योगस्वरूप तथा मोक्षरूप परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[72] जिनसे संसार उत्पन्न होता है और उनमें ही प्रलय हो जाता है उन कारण रूप परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते है।[73] जो प्रत्यक्ष प्रत्येक शरीर के भीतर वायुरूप में स्थित हैं, अपने को प्राण आदि पाँच स्वरूप में विभक्त कर सभी प्राणियों को क्रियाशील बनाते हैं उन वायुरूप परमेश्वर को भीष्म का प्रणाम अर्पित है।[74]

वह नारायण जिनके मुख ब्राह्मण है, क्षत्रिय जिनकी भुजायें हैं, वैश्य जंघा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणों के आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्य नारायण को भीष्म नमस्कार करते हैं।[75]

अग्नि जिनके मुख हैं, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र है और दिशायें कान है, उन लोक रूप परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[76] जो काल से परे हैं, यज्ञ से भी परे हैं और परे से भी अत्यन्त परे हैं, जो सारे संसार के आदि हैं परन्तु जिनका आदि कोई भी नहीं है उन विश्वात्मा परमेश्वर को भीष्म नमस्कार करते हैं।[77] जो समस्त प्राणियों की आत्मा और उनके जन्म मृत्यु के कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोह का सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमात्मा को भीष्म नमस्कार करते हैं।[78] जो भगवान श्री कृष्ण को एक बार भी प्रणाम करता है उसे दस अश्वमेध के अन्त में किये गये स्नान के समान फल प्राप्त होता है। इसके सिवा प्रणाम में एक विशेषता और है कि दस अश्वमेध करने वाले का तो पुनः इस संसार में जन्म होता है किन्तु भगवान कृष्ण को प्रणाम करने वाला मनुष्य इस संसार के भवबंधन में नहीं पड़ता है।[79]

ऐसे व्यक्ति जो श्रीकृष्ण को दिन-रात याद करने वाले श्री कृष्ण स्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं जैसे मंत्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्नि में मिल जाता है।[80] वह प्रभु जो नरक से बचाने के लिए रक्षामण्डल का निर्माण करने वाले हैं और संसाररूपी सरिता की भंवर से पार लगाने के लिए काठ की नाव के समान हैं, उन भगवान विष्णु को भीष्म नमस्कार करते हैं।[81]

भीष्म कहते हैं कि हरि नाम कठिन रास्ते में संकट के समय प्राणों के लिये राहखर्च के समान है, यह संसार रूपी रोग से मुक्ति दिलाने के लिए औषधि के समान हैं, तथा सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति देने वाला है।[82] श्री कृष्ण के शरणागत होकर भीष्म अभीष्ट प्राप्त करना चाहते हैं और उसके उपाय का भार भी उन्हीं पर छोड़ते हैं।[83] अतः श्री कृष्ण की भक्ति में लीन भीष्म भगवान की स्तुति करने के पश्चात नमः श्री कृष्णाय कहकर उन्हें नमस्कार करते हैं। भगवान श्री कृष्ण अपनी योगमाया के द्वारा भीष्म जी की भक्ति और भक्ति योग को जानकर उनके पास आये और उन्हें तीनों लोकों को बोध कराने वाला दिव्य ज्ञान देकर वापस चले गये। इस प्रकार प्रस्तुत स्तोत्र में ज्ञान, योग, कर्म योग एवं भक्ति योग द्वारा सगुण एवं निर्गुण श्री कृष्ण के साक्षात्कार की सज़्यक् व्याज़्या की गई है।

इसी प्रकार **'गजेन्द्र मोक्ष'** जिनकी अत्यन्त छोटी सी कला से अनेकों नाम-रूप के भेदभाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है।[84] जैसे धधकती हुई अग्नि की लपटों और प्रकाशमान सूर्य से उनकी किरणें बार-बार निकलती हैं और लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर-जो गुणों के प्रवाह रूप हैं-बार-

बार प्रकट होते रहते तथा लीन हो जाते हैं[85] वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। न वे स्त्री हैं, न कार्य, न कारण हैं। सबका निषेध हो जाने पर जो कुछ शेष बचता है वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं।[86]

इस प्रकार ईश्वर का विविध प्रकार से स्मरण करते हुए हाथी ने अपने उद्धार हेतु प्रार्थना की कि मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी की योनि में बाहर-भीतर अज्ञान रूपी आवरण से ढकी हुई है। इसमें जीना व्यर्थ है। मैं इस आत्मप्रकाश को ढकने वाले उस अज्ञानरूप आवरण से मुक्त होना चाहता हूँ जो कालक्रम से स्वतः नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकता है।[87] इसलिए मैं उन परब्रह्म परमात्मा की शरण में हूँ जो विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वस्वरूप हैं। साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते हैं। योगी जन योग के द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफल को भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदय में जिनका साक्षात्कार करते हैं ऐसे प्रभु की मैं बारञ्बार स्तुति करता हूँ।[88]

जिसने पूर्वोक्त प्रकार से भगवान के भेदरहित निराकार स्वरूप का वर्णन किया था ऐसे उस गजराज के समीप जब ब्रह्मा आदि कोई भी देवता नहीं आये जो भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट विग्रहों को ही अपना स्वरूप मानते हैं तब साक्षात् श्री हरि, जो सबकी आत्मा होने के कारण सर्वदेवस्वरूप हैं वहाँ प्रकट हो गये और गजेन्द्र के साथ ग्राह को सरोवर से शीघ्रता से निकाल लिया और चक्र से हरि ने ग्राह का मुँह फाड़ कर गजेन्द्र को मुक्त कराया। गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को अनंत, सर्वैश्वर्यपूर्ण, करुणामय एवं भक्तों के कल्याण में कभी भी आलस्य न करने वाला बताया गया है।[89] जिनकी अत्यन्त छोटी सी कला से अनेकों नाम-रूप के भेदभाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है।[90] जैसे धधकती हुई अग्नि की लपटों और प्रकाशमान सूर्य से उनकी किरणें बार-बार निकलती हैं और लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर-जो गुणों के प्रवाह रूप हैं-बार-बार प्रकट होते-रहते है तथा लीन हो जाते हैं[91] वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। सबका निषेध हो जाने पर जो कुछ शेष बचता है वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं।[92]

इस प्रकार ईश्वर का विविध प्रकार से स्मरण करते हुए हाथी ने अपने उद्धार हेतु प्रार्थना की कि मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी की योनि में बाहर-भीतर अज्ञान रूपी आवरण से ढकी हुई है। इसमें जीना व्यर्थ है। मैं इस आत्मप्रकाश को ढकने वाले उस अज्ञानरूप आवरण से मुक्त होना चाहता हूँ जो कालक्रम से स्वतः नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा ही

नष्ट हो सकता है।[93] इसलिए मैं उन परब्रह्म परमात्मा की शरण में हूँ जो विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वस्वरूप हैं। साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते है। योगी जन योग के द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफल को भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदय में जिनका साक्षात्कार करते हैं ऐसे प्रभु की मैं बारज़्बार स्तुति करता हूँ।[94]

इसी प्रकार **'विष्णुसहस्रनाम्'** में सबके प्राण दाता स्वरूप, प्रजापति ईश्वर विक्रमी, शंख धनुष धारण करने वाले, उत्पन्न बुद्धिमान, गरूड पक्षी द्वारा गमन करने वाले, क्रम विस्तार के कारण, सबसे उत्कृष्ट, किसी से भी अपमानित न हो सकने वाले, कृतज्ञ, पुरूष-प्रयत्न के आधार रूप, अपनी ही महिमा में स्थित कहा गया है।[95] वे अज (जन्म से रहित), सर्वेश्वर, नित्य सिद्ध, सब भूतों के आदि कारण, अपनी स्थिति से कभी त्रिकाल में भी च्युत न होने वाले, धर्म और वाराहरूप, सबको न दिखायी देने वाले, एवं विभिन्न प्रकार के शास्त्रोक्त योगों (साधनों)के द्वारा प्राप्त होने वाले हैं।[96]

भक्तों को श्री देने वाले, लक्ष्मी के नाथ, श्री लक्ष्मी जी के अन्दर नित्य निवास करने वाले, सारा श्रियों के आधार, कर्म के अनुसार मनुष्य को ऐश्वर्य प्रदान करने वाले, श्री को धारण करने वाले, भक्तों के लिए श्री का विस्तार करने वाले, कल्याण स्वरूप, सब प्रकार की श्रियों से युक्त, तीनों लोकों के आधार हैं।[97] वे परम सुन्दर आँखों वाले, अतिसुन्दर कोमल मनोहर अंगों वाले, अतिशय आनन्द देने वाले, परमानन्द स्वरूप, नक्षत्र समुदायों के ईश्वर, सबके मन को जीतने वाले, वर्णनातीत, सच्ची कीर्ति वाले, सभी प्रकार के संशय से रहित हैं।[98] वे समस्त कामनाओं के परमदेव, भक्तों की कामनाओं की पूर्ति करने वाले अपने प्रिय को चाहने वाले, परम सुन्दर स्वरूप, समस्त वेद और शास्त्रों के रचयिता, जिनके स्वरूप का वर्णन न किया जा सके ऐसे शरीर वाले, शेषनाग पर लेटने वाले भगवान विष्णु, वीर, अनन्त गुणों से युक्त और बहुत सा धन जीतने वाले हैं।[99]

विश्व ही जिनकी मूर्ति है ऐसे स्वरूप वाले (विश्वमूर्ति), विष्णु, देदीप्यामान तेज से युक्त, बिना किसी आकार वाले, अनेक प्रकार की मूर्तियों को धारण करने वाले, जिसको व्यक्त न किया जा सके, ऐसे अप्रकट स्वरूप वाले, सैकड़ों मूर्तियों वाले एवं सैकड़ों मुखों वाले हैं।[100] वे अपने आप में अद्वितीय, अनेक अवतार लेने वाले, यज्ञस्वरूप वाले, सुखस्वरूप, ब्रह्मा स्वरूप स्वत: सिद्ध होने वाले, विस्तार करने वाले, परमपदस्वरूप प्रदान करने वाले, समस्त प्राणियों का हित करने वाले, परमपद स्वरूप प्रदान करने वाले, समस्त प्राणियों का हित करने

वाले, समस्त लोक के स्वामी, मधुकुल में उत्पन्न होने वाले, भक्तों के प्रति अपार स्नेह रखने वाले हैं।[101]

वे सोने के समान पीले रंग वाले, सोने के समान चमकते अंगों वाले, अति सुन्दर अंगों वाले, चन्दन के लेप और बाजूबंद से सुशोभित, वीर, असुरों का नाश करने वाले, अपने भक्तों के लिए कृपालु, किसी भी प्रकार से विचलित न होने वाले, वायु की तरह सर्वत्र गमन करने वाले, स्वयं कभी भी मान की चाह न रखने वाले, दूसरों को मान देने वाले, सबके पूजे जाने योग्य, सारे संसार व भुवनों के स्वामी, तीनों लोकों को धारण करने वाले, अति सुन्दर बुद्धि वाले, यज्ञ के द्वारा प्रकट होने वाले, धन्य-धन्य कर देने वाले, सच्ची बुद्धि वाले, अनन्त भगवान रूप में पृथ्वी धारण करने वाले हैं।[102]

अत्यन्त छोटे रूप में, सबसे बड़े रूप में, अत्यन्त पतले और हल्के, अत्यन्त मोटे और भारी रूप में, समस्त गुणों से भरे हुए, निर्गुण रूप में, महान सर्वगुण सज़्पन्न, जिनको कोई भी धारण नहीं कर सकता, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित, सुन्दर मुखवाले, वंश का आरज़्भ करने वाले आदि पुरूष अपने वंश को बढ़ाने वाले हैं।[103]

विष्णु के अवतार धनुष धारण करने वाले श्री राम चन्द्र जी, धनुष की सारी विद्याओं व कलाओं को जानने वाले, दण्ड देने वाले, सारी बुरी शक्तियों का दमन करने वाले, दण्ड के फल देने वाले, शत्रुओं द्वारा कभी पराजित न होने वाले, सब कुछ सहन करने में समर्थ, सबको अपने-अपने कर्त्तव्य का पथ दिखाने वाले, सारे नियमों से परे एवं स्वतन्त्र हैं जिन पर कोई शासन नहीं कर सकता।[104]

प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य में 'प्रस्थानत्रयी' शब्द प्रसिद्ध है। 'प्रस्थानत्रयी' इस देश के सर्वोच्च आध्यात्मिक साहित्य का नाम है, प्रस्थान का अर्थ है 'जीवन की यात्रा में प्रस्थान।' इस प्रकार जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत साहित्य में तीन ग्रन्थ हैं उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन। ये तीनों संस्कृत के अमर ग्रन्थ हैं। तीनों का लक्ष्य मानव जीवन को सोद्देश्य बना देना है। उपनिषद् के हिन्दी भाष्य, 'प्रस्थानत्रयी' में द्वितीय अङ्ग 'गीता' का है। गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। भीष्मपर्व में 25 से 42 तक जो 18 अध्याय है, वे ही गीता कहलाते हैं। 'महाभारत' के रचयिता वेदव्यास, इसलिए 'गीता' के रचयिता भी वेदव्यास ही हैं। गीता ने मानव का सर्वांगीण विकास चाहा है। ज्ञान के द्वारा बौद्धिक और मानसिक विकास एवं शाश्वत शांति का उपदेश उसका मुज़्य प्रयोजन है। उसमें ज्ञान की महिमा है। यह ज्ञान केवल बुद्धिगज़्य नहीं, अपितु

हृदयगज्य और भावगज्य भी है। कुन्तक ने चतुर्वर्ग के आनंद से आगे बढ़कर काव्यामृत रसास्वाद दर्शाया है। इसलिए गीता का सृजन केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि प्रयोजनार्थ है।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत मेको देवो देवकीपुत्र एव।

एको मन्त्रस्य नामानि यानि कर्मण्येकं तस्य देवस्य सेवा।।[105]

'मध्ये महाभारतम्' महाभारत के बीच ही भीष्मपर्व में गीता का संवाद प्रस्तुत है। इस महाकाव्य का सार सर्वस्व ही जैसे कि गीता हो, ऐसे अनेक उत्तम चरित्र, उनके संवादादि महाभारत में होते हुए भी, युद्ध का प्रमुख प्रसंग जो देश के इतिहास पर असरकर्ता और महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। उसी वक्त गीता का उपदेश प्रस्तुत हुआ। गीता के कारण ही महाभारत का अर्थ गांभीर्य घनिष्ठ बना। महाभारत को पंचमवेद मानने में और 'जो महाभारत में है, वह सर्वत्र है, जो वहाँ नहीं, वह कहीं नहीं' ऐसे कहलाने में गीता के अर्थ गांभीर्य का सबसे ज्यादा हिस्सा है।[106]

प्रस्तुत उक्ति को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि 'जो गीता में है, वह महाभारत में है और जो महाभारत में नहीं, वह कहीं भी नहीं। महाभारत में विभिन्न कथाएँ और प्रसंगों का आश्रय लेकर उसके साररूप प्रस्तुत किया गया है, जबकि गीता में कथावस्तु का आधार न लेते हुए शुद्ध चिंतन के प्रदेश में गीता अवगाहन करती है। कभी तो ऐसा भी होता है कि पाठक को युद्ध प्रसंग की ही विस्मृति हो जाती है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि वह आध्यात्मिक संवाद जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसमें पड़ा नाट्य तत्त्व अदृश्य होता जा रहा है। युद्धभूमि के प्रतिघोष का शमन होता है और मानो ईश्वर और मानव की मुलाकात चल रही हो ऐसा हमें क्षणभर लगता है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों जैसे – महाभारत, मनुस्मृति, वेद आदि को सिद्ध उपदेश देने वाला माना जाता है। अत: इन सभी का खण्डन तर्क की कसौटी पर करना अनुचित है। महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विषयों का आश्चर्यजनक और विस्तृत वर्णन किया है। इसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर समाज में वैज्ञानिक, आर्थिक तथा वैचारिक जागृति के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन प्रारज्भ हुए वहीं दूसरी ओर कुछ स्वार्थी, लोभी तथा अनाचारी व्यक्तियों के दुराचार के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास आदि अवैध कार्य भी किये जाने लगे। अत: तत्कालीन समाज का दर्पण महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

पंचरत्न ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, सामाजिक परज्पराओं का विश्वकोष है। उसमें तद्युगीन सामाजिक चित्तवृत्तियों का यथार्थमय आकलन विश्लेषण और विन्यास हुआ है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है। इसीलिए

किसी काल की संस्कृति का निर्माण अचानक न होकर उसी काल के निवासियों के जीवन की शताब्दियों की उपलब्धियों का परिणाम होता है। 'किसी देश की संस्कृति उसकी सञ्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंज्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भागीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति ही है जो मनुष्य की अच्छाइयों को निर्देश करती है। मानवीय व्यक्तित्व को सज्य दिशा प्रदान करती है जो कि उसके बुद्धिमान होने का सूचक है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मनुष्य' है अत: यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज में मनुष्य के महत्व को निर्धारित करते हुए सामाजिक विज्ञान की नींव डाली है। महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था के रूप में दान, संस्कार, देवपूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। प्रजा को वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि के आधार पर विभक्त किया गया था जिससे सभी अपने-अपने धर्म, कर्म तथा कर्त्तव्यों का भली-भांति पालन करते थे।

महाभारत काल में वैदिक शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। इसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करना पड़ता था। इस काल में गुरू के आश्रम में विद्या ग्रहण करने जाना होता था तथा शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या दोनों ही गुरू द्वारा प्रदान की जाती थी। प्रत्येक शिष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है - मन-प्राण में उच्च श्रेष्ठ भावों का पोषण करना, शुभ चिन्तन से शरीर तथा मन को क्रमश: उन्नतिशील बनाना, समस्त बुराइयों से अपनी रक्षा करके उन्नति की चेष्टा करना। इस सन्दर्भ में राजा ययाति द्वारा स्वयं की विशेषता बताते हुए देवयानी के प्रति यह कथन मिलता है कि उनके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए समस्त वेदों का अध्ययन किया गया है।

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्न: श्रुतिपथं गत:।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुत:।। - महा. भा. आदि पर्व. 81.14

महाभारत काल में सभी वर्णों को शिक्षा का अधिकार था। इस सन्दर्भ में महामति विदुर का ज्ञान अतुलनीय था, वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। इसी प्रकार सूतजातीय लोमहर्षण, संजय तथा सौति का ज्ञान भी प्रशंसनीय है। महाभारत काल में वेद, आन्वीक्षिकी (तर्क विद्या), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) तथा दण्डनीति शिक्षणीय विषय माने जाते थे। ऐसा वर्णन शान्ति पर्व में ब्रह्मा द्वारा देवताओं के प्रति किया गया है। राजाओं हेतु अनिवार्य रूप से हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद सूत्र, यंत्र सूत्र, तथा नागरिक सूत्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। ऐसा वर्णन सभा पर्व में नारद मुनि द्वारा युधिष्ठिर के प्रति किया गया है। महाभारत काल में शूद्र जाति के लिए वेदाध्ययन निषिद्ध था। ऐसा वर्णन द्रोणाचार्य द्वारा शूद्रजातीय कर्ण के प्रति किया गया है। शिक्षा के पूर्ण होने के बाद शिष्य द्वारा अपने गुरू को गुरूदक्षिणा दिये जाने का प्रचलन था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में मान्धाता द्वारा नृपश्रेष्ठ वसुहोम के प्रति गुरू दक्षिणा देने की बात कही गयी है। इससे प्रतीत होता है कि शिक्षा की व्यवस्था उत्तम थी तथा गुरू को गुरू दक्षिणा दिये जाने की व्यवस्था सम्भवत: गुरू के जीवन यापन के लिए बनायी गयी होगी। महाभारत में स्त्री शिक्षा का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं दिखायी देता है किन्तु विदुषी स्त्रियों जैसे - शकुन्तला, सावित्री, दमयन्ती, द्रौपदी आदि की चर्चा की गयी है जो उनकी बुद्धिमत्ता तथा पाण्डित्य का परिचायक है।

शान्तिपर्व का राजधर्म अनेको तथ्यों से परिपूर्ण है। सभा पर्व के नारदीय राजधर्म व कणिक की कूटनीति, आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्रजिज्ञासा, उद्योगपर्व की विदुरनीति आदि प्रकरणों में राजधर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। इस परिच्छेद में उन उक्तियों को उद्धृत करके यह बताने की चेष्टा की गई है कि उन दिनों राजधर्म का स्वरूप क्या था। विषय बहुत बड़ा होने के कारण इस परिच्छेद को कई भागों में विभक्त कर दिया गया है।

राजा में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है, इस विषय पर सैकड़ों उक्तियाँ उद्धृत हैं। ग्रन्थ काव्य में बहुत सी जगह तो उशना, इन्द्र, बृहस्पति, मनु आदि राजधर्म वेत्ताओं के अभिमत को ही ग्रहण किया है और बहुत सी जगह भीष्म के मुख से अपना मत भी प्रकट किया है। विभूतियोग में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं ''नरो में मैं नराधिप हूँ''। अर्थात् राजा में ही मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होता है, इसलिए वही भगवान की विभूतिस्वरूप हैं। पूर्व जन्म के पुण्यबल से राजा में बहुत से गुण अनन्य सुलभ होते हैं, किन्तु शिक्षा के द्वारा भी उन्हें बहुत से गुणों का अर्जन करना पड़ता है। स्वाभाविक गुणों के सम्बन्ध में मनुसंहिता में कहा गया है कि भगवान जिन उपादानों से इन्द्र, अनिल, यम, अर्क, अग्नि, वरूण, चन्द्र, कुवेर आदि

देवताओं की सृष्टि करते हैं, उन्हीं से राजा की करते हैं, इसीलिए उनका तेज दूसरों को अभिभूत करने में समर्थ होता है।

राजधर्म ही सब धर्मों का मूल होता है। सब प्राणियों के पदचिन्ह जैसे हाथी के पदचिन्ह के नीचे विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार दूसरे धर्म भी राजधर्म में विलीन हो जाते है। राजधर्म के परित्यक्त होने पर दूसरा कोई धर्म उन्नत नहीं हो सकता। अत: समाज के स्थायित्व के विषय में अपने दायित्व को अच्छी तरह समझकर राजा को अपने चरित्र गठन में मनोयोग करना चाहिए। राजा का चरित्र कैसा होना चाहिए, इस सञ्बन्ध में भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म प्रकरण में सैकड़ों उपदेश दिये हैं। नीचे संक्षेप में उन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

महायशस्वी राजा दम, सत्य व सौहृद के द्वारा सञ्पूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य करते है, और महत् यज्ञों का अनुष्ठान करके शास्वतपद प्राप्त करते हैं। राजा को सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिए, अजितेन्द्रिय राजा दूसरे को वश में नहीं रख सकता। राजा को वेद –वेदान्त आदि शास्त्रों पर पांडित्य लाभ करना चाहिए तथा दानशील बनकर सर्वभूत के दुखमोचन की यथा साध्य चेष्टा करनी चाहिए। षाड्गुण्य त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग विषयों पर राजा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

रागद्वेष का त्याग करके धर्माचरण करना, परलोक के लिए शुभ कर्म करना, बिना अत्याचार किये अर्थोपार्जन करना, सौञ्यभाव से कामोपभोग करना, राजा के विहित कर्म है। राजा को सदा मधुर वचन बोलने चाहिए, शूर होते हुए भी आत्म प्रशंसक नहीं होना चाहिए तथा दाता होते भी अपात्र को दान नहीं देना चाहिए। अपकारी का विश्वास करना राजा के लिए उचित नहीं है। उसे किसी से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। पूजार्ह की पूजा करना और दंभ का त्याग करना राजधर्म के अपरिहार्य अंग हैं। आहार–विहार में संयम रखना बहुत आवश्यक है, संयम के अभाव में श्रीहीनता आती है। हर कार्य में समय असमय का ञ्याल रखना उचित है, जो कार्य जिस समय करने का हो, उसी समय करना चाहिए। एकाग्रचित्त होना चाहिए। जो व्यक्ति राजधर्म के इन नियमों का पालन करता है वह इहलोक व परलोक में सब सुखों का उपभोग करता है। इस अध्याय में राजा के छत्तीस गुणों का उल्लेञ्ख किया गया है। प्रधान गुणों का विवरण नीचे दिया जा रहा है। राजा को चाहिए कि काम व क्रोध को जीतकर राजश्री की सेवा करें, जो नृपति काम या क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित कार्य करता है, वह नितान्त कृपा का पात्र होता है। उसके धर्म एवं अर्थ का विनाश अवश्यञ्भावी होता है। संरक्षक, दाता, निरलस एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति स्वभावत: ही सबकी श्रद्धा का पात्र बनने में समर्थ होता है।

पंचरत्नों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान काल में वैदिक धर्म प्रचलित था। अत: प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य प्रतिदिन सन्ध्या तथा यज्ञ किया करते थे। महाभारत काल में सन्ध्या में उपस्थान कार्य वैदिक मंत्रों द्वारा किया जाता था। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व में कौरव तथा पाण्डवों द्वारा अपने-अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि को छोड़कर सूर्य की ओर हाथ जोड़कर उपस्थान कर्म करने का उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में धर्म-कर्म आदि का अत्यधिक महत्त्व था। इसी प्रकार द्रोण पर्व के बयासीवें अध्याय में युधिष्ठिर द्वारा प्रात: उठकर स्नान करके सन्ध्या करने तथा यज्ञशाला में जाकर अग्नि के साथ समिधा तथा वैदिक मंत्रोच्चारण करने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में धार्मिक कार्यों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। महाभारत काल में मूर्तिपूजा का संङ्केत मिलता है। इस सन्दर्भ में सौति द्वारा भीष्म पर्व में दु:चिन्ह के वर्णन में उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार, देवताओं की प्रतिमाएँ कांपती हैं, हंसती हैं, मुख से रूधिर वमन करती हैं, देह से पसीना निकलता है। अत: इस प्रकार के लक्षण बुरी घटना के सूचक माने जाते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा, सौति द्वारा जोड़े गये नवीन अध्यायों के अनुसार होती थी। हिन्दू धर्मानुसार महाभारत काल में शिव, विष्णु तथा स्कन्द आदि देवों की मूर्तियां प्रचलित थीं।

महाभारतकार के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवता जगत् के तीन कामों - उत्पत्ति, पालन और नाश पर नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है। महाभारत के वन पर्व में इन तीन देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के समावेश से उत्पन्न एक देवता अर्थात् दत्तात्रेय का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सस्त्रार्जुन को दत्तात्रेय के प्रसाद से एक विमान प्राप्त हुआ था।

दत्तात्रेय प्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा।

ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते।। - महा. भा. वन पर्व 115.12

पंचरत्नों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में दत्तात्रेय की पूजा की जाती थी। इसी प्रकार महाभारत के वन पर्व के दो सौ बत्तीसवें अध्याय में तथा अनुशासन पर्व के चौरासीवें और पच्चासीवें अध्याय में स्कन्द देव की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में महाकवि कालिदास द्वारा स्कन्द देव की उत्पत्ति से सञ्बन्धित कुमारसञ्भव नामक महाकाव्य रचा गया। स्कन्ददेव को शिव की संहार शक्ति का अधिष्ठाता तथा देवताओं की समूची सेना का सेनानायक माना जाता था। महाभारत काल में देवियों के

रूप में, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि की पूजा प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार दुर्गा स्तोत्र का पाठ अर्जुन द्वारा किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत काल में देवताओं के साथ-साथ देवियों की भी पूजा की जाती थी।

पंचरत्नों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि समस्त विश्व प्राकृतिक पर्यावरण से घिरा हुआ है। इसे भौगोलिक पर्यावरण भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत जलवायु ऋतु में तापक्रम, भूमि की उत्पादकता, जल, पर्वत, समुद्र, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पशु-पक्षी आदि आते हैं। 'पर्यावरण' शब्द, दो शब्दों से मिलकर बना है - 'परि+आवरण', 'परि' अर्थात् चारों ओर, आवरण अर्थात् ढके हुए। कोई भी वस्तु पदार्थ जो ढका हुआ हो या घिरा हुआ है, वह उसका आवरण है। उसी प्रकार जिन पदार्थों से, जिन क्रियाकलापों से हम घिरे हुए हैं, वही हमारा 'पर्यावरण' है। इस प्रकार वे सभी दशायें जो एक प्राणी के अस्तित्व के लिए आवश्यक है तथा उसे चारों ओर से घेरे हुये हैं, वह 'पर्यावरण' कहलाती है। भौगोलिक पर्यावरण का सञ्बन्ध ऐसी प्राकृतिक दशाओं से है जो मनुष्य से प्रभावित हुए बिना अपना कार्य करती है तथा जो मनुष्य के अस्तित्व तथा कार्यों से स्वतन्त्र रहते हुए स्वयं परिवर्तित रहती है। वायु, जल, भूमि, पेड़-पौधे, वनस्पति और जीव-जन्तु सभी मिलकर वातावरण का निर्माण करते हैं, इसे वैज्ञानिक भाषा में 'पर्यावरण' कहते हैं।

स्वस्थ पर्यावरण ही मानव तथा कृषि की आधारशिला होती है। इससे ही चतुर्दिक विकास सञ्भव है। अत: पर्यावरण एक ऐसी व्यापक दशा है जो सभी प्राणियों के कार्यों, विचारों तथा व्यावहारों को प्रभावित करती है तथा विभिन्न प्रकार से लाभकारी सिद्ध होती है। इसका विस्तृत उल्लेख वेदों, उपनिषदों, पुराणों रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों में मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि विद्वान पर्यावरण विज्ञान के प्रति अत्यन्त चिन्तनशील थे। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ छियालीसवां सूक्त ''अरण्यानी सूक्तञ्'' नाम से प्राप्त होता है, जिसमें 'अरण्यानी' को सभी जीवों की माता के रूप में व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद में वृक्षों को पूज्य मानकर प्रमाणित किया गया है।

महर्षि व्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में जाजलि और तुलाधार के आत्मयज्ञ विषयक धर्मोपदेश में समस्त नदियों को सरस्वती के रूप में व्यक्त किया है तथा पर्वतों को पूजनीय बताया है। यहाँ इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास द्वारा प्रकृति को धार्मिक भाव से जोड़ने का उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में ही है क्योंकि धार्मिक भाव रखने पर मानव

स्वत: ही ऐसे स्थलों को प्रदूषित नहीं करेगा तथा इससे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान स्वत: हो सकेगा। महाभारतकार ने गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से कहे गये वचनों में मानसिक पर्यावरण के संरक्षण का उल्लेख किया है। इस वर्णन में भूमि से अहार पर्यन्त सभी को पर्यावरण कहा गया है। ऐसा संस्कृत वाङ्मय में वर्णित है। काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक पर्यावरण को दूषित करते हैं। विवेक ज्ञान से ऐसा आवृत होता है। अत: गीता के अध्याय तीन में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है। जब विवेक ज्ञान का तिरोधान होता है तब ज्ञान-विज्ञान का नाश होता है। जिससे सर्वत्र हिंसा, आतङ्कवाद, अपहरण आदि उत्पन्न होता है। गीता में कहा गया है कि आधिभौतिक पदार्थ स्थूल और आधिदैविक पदार्थ सूक्ष्म है।

इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा ये सूक्ष्म जगत के पदार्थ हैं। ये सभी काम, क्रोध आदि भावों से आवृत्त होते हैं जिससे मानसिक तथा रासायनिक पर्यावरण प्रदूषित होता है। अत: इस आधार पर पर्यावरण के तीन भेद किये जा सकते हैं - (1) भौतिक पर्यावरण - इसमें वृक्ष, वनस्पति, नदी, पर्वत, खगोल आदि से मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (2) सामाजिक पर्यावरण - इसमें आचार, भाव, विचार आदि का मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (3) मानसिक पर्यावरण - इसमें काम, क्रोध आदि मनोवेग द्वारा संयम, शिव सङ्कल्प से शान्ति लाभ प्राप्त होता है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु वृक्षों के महत्त्व से महाभारतकालीन लोग भलीभांति परिचित थे। महाभारतकार ने वृक्षारोपण कर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से भी अनेक स्थानों पर वृक्षों के महत्त्व तथा विशेषताओं का उल्लेख महाभारत में किया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा संसारवृक्ष का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार आदिपुरूष परमेश्वर संसार रूपी वृक्ष की जड़ (मूल) है, ब्रह्मा उस वृक्ष की शाखायें, वेद उसके पत्ते हैं। इस तरह भगवान ने स्वयं वृक्षों के महत्त्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। पुराणों में भी वृक्षों को देवत्व रूप में स्वीकार किया गया है।

तत्त्ववेताओं के अनुसार मानव शरीर पंच तत्त्वों से मिलकर बना है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। मानव शरीर का 2/3 भाग और उसके समस्त भार का 4/5 भाग जल ही होता है। इसी प्रकार सभी वृक्षों जीव-जन्तुओं के शरीर में भी जल रहता है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि जल, प्राणियों के लिए अत्यावश्यक है। प्राचीनकाल में वैदिक ऋषियों, शास्त्रकारों और विद्वानों ने पर्यावरण की शुद्धि बनाये रखने के लिये जल के महत्त्व का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया है। संस्कृत वाङ्मय में जल को जीवन का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद

के मंत्रानुसार शुद्ध जल में अमृत तथा औषधि का निवास होता है। यथा – अप्स्वव्तरममृत अप्सु भेषजज्।

महाभारत के शान्ति पर्व में राजा जनक के प्रति मन का सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि मन इन्द्रियों द्वारा संचालित होकर सब विषयों की ओर जाता है। इन्द्रियां उन विषयों को नहीं देखती किन्तु मन उन्हें निरन्तर देखता है। आंख मन के सहयोग से ही रूप का दर्शन करती है, अपनी शक्ति से नहीं। जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आंख देखती हुई भी नहीं देख पाती। लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सज़्पूर्ण इन्द्रियाँ विषय को प्रत्यक्ष करती हैं। किन्तु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखती, केवल मन ही देखता है। अत: यदि मन विषयों से उपरत हो जाय तो इन्द्रियां भी विषयों से निवृत्त हो जाती हैं। यहां महाभारतकार ने मन की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण व्यक्त किया है।

महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए अमृत वचन रूपी गीता का उल्लेख किया है जोकि शान्त रस का ही परिचायक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में अर्जुन के नाना प्रश्नों के उत्तर श्रीकृष्ण ने दिये यथा – संसार क्या है ? आत्मा–परमात्मा क्या है ? यदि इसमें काल–महिमा, आत्मा का अमरत्व तथा सज़्पूर्ण विश्व को परमात्मा का रूप बताना और अन्त में श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का दर्शन – ये सभी कुछ शान्त रस का सर्वोत्तम उदाहरण प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने त्याग को परम शान्ति का उपाय बताते हुए अर्जुन से कहा है –

श्रेयो हि ज्ञानमज़्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्ये।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरज्।।–गीता अध्याय 1, 12.12

महर्षि व्यास ने भी वेदों, पुराणों, आदि का अध्ययन, चिन्तन तथा मनन के पश्चात ही इतना विशाल तथा गूढ़ार्थ महाकाव्य रच डाला। इस सन्दर्भ में महाभारत में अनेक उदाहरण मिलते है जिसमें वेदों के अध्ययन का महर्षि व्यास द्वारा किया गया अज़्यास स्पष्ट होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में वेद पाठ हेतु प्रेरित करने के उद्देश्य से महर्षि नारद का महर्षि व्यास के प्रति कथन है कि वेद पढ़कर उसका अज़्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययन का दूषण है। यहां स्पष्ट रूप से वेदों के अज़्यास की बात कही गयी है। इसी प्रयास में पुन: भीष्म का युधिष्ठिर के प्रति यह कथन मिलता है कि महर्षि व्यास तथा उनके पुत्र शुकदेव दोनों ही वेदों का अज़्यास करने लगे। इसी पर्व में भीष्म द्वारा सांज़्य योग के अनुसार साधन तथा फल का वर्णन युधिष्ठिर के प्रति किया गया है जिसमें वेदों के विचित्र तथा नाना प्रकार के वचनों का उल्लेख

मिलता है, जिन्हें ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार वेदों में वर्णित गायत्री मंत्र का भी उल्लेख महाभारत में मिलता है। इस सन्दर्भ में गायत्री जप की महिमा का उल्लेख करते हुए महात्मा वैशज़्पायन द्वारा राजा जनमेजय के प्रति कथन है कि गायत्री सभी वेदों का प्राण कहलाती है तथा इसके बिना सभी वेद निर्जीव हैं। इसप्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास को वेद, पुराण, उपनिषद, वेदादि का वृहत् ज्ञान था। जिसका चिन्तन, मनन करके उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का निरन्तर अज़्यास के पश्चात् ही महाभारत नामक महाकाव्य की रचना करने में समर्थ हुए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाभारत आर्य-संस्कृति तथा सनातन धर्म का एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नों का भण्डार है। यह भारतीय लौकिक साहित्य में वाल्मीकीय रामायण की परवर्ती द्वितीय रचना है। रामायण तथा महाभारत न केवल विशालकाय आर्षकाव्य है अपितु वे हमारे प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महाभारत में भारतीय जीवन शैली की समग्र और यथार्थ प्रस्तुति मिलती है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों, विचारधाराओं परज़राओं तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की प्रचुर सामग्री संग्रहीत है। महाभारत केवल अपने रचनाकाल के जीवन मूल्यों और घटनाओं का ही निदर्शन नहीं कराता अपितु यह आधुनिक युग के जीवन मूल्यों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना पहले था और भविष्य में भी उतना होगा। यह न केवल प्राचीन संस्कृत महाकवियों को अपितु आज के अनेक भाषाओं के रचनाकारों को काव्य सृष्टि हेतु निरन्तर आकृष्ट कर रहा है।

यद्यपि पंचरत्नों में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक-नैतिक पक्षो का आंशिक अध्ययन अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है किन्तु महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की सज़्यक विवेचना नहीं की गयी है। वर्तमान शोध का लक्ष्य वैदिक एवं अवैदिक पृष्ठभूमि में 'महाभारत' की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन है। महाभारत में जहाँ एक ओर जनजातीय वर्ण विभाजित एवं राज्य पर आधारित समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक जीवन की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्म एवं दर्शन की विविध धारायें भी विद्यमान है। वर्तमान शोध का लक्ष्य महाभारत की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों की विवेचना है जिसमें वैदिक-अवैदिक एवं आस्तिक-नास्तिक दोनों धारायें सज़्मिलित है। इनमें गीता, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, विष्णुसहस्त्रनाम् एवं गजेन्द्रमोक्ष का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया हैं। महाभारत में केवल युद्ध का वर्णन ही नहीं है, वरन् अनेक आज़्यान भी उपलब्ध होते हैं। इन आज़्यानों को लेकर परवर्ती साहित्य में अनेक ग्रंथों की रचना हुई है और इसलिए रामायण और महाभारत को उपजीव्य काव्य की संज्ञा

प्राप्त है। भारतीय साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ भगवद्गीता इसी महाभारत का अंश है। इसी प्रकार विष्णुसहस्त्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज तथा गजेन्द्रमोक्ष जैसे आध्यात्मिक एवं भक्तिपूर्ण ग्रंथ इसी महाभारत में उपलब्ध है।

सन्दर्भ

1 भारतं मानवो धर्मो वेदाः साङ्गाश्चिचित्सितञ्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः।। -महाभारत, आश्व. पर्व. 92, पृ. 1008

2 ध्वन्यालोक 4.5 (वृत्ति) पृ. 551

3 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 2/362-363

4 सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः।। - महाभारत, भीष्मपर्व, 43.2

5 गीता शास्त्रम् समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतम दुविज्ञेयार्थम्।। - गीता, शंकरभाष्य, पृ. 14

6 जीवता तहेवारो, अन्तर्गत विशाल बुद्धि व्यास, काका साहेब कालेलकर, पृ. 124

7 गुह्यं ब्रह्मतदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।। - महा. भा. शान्ति पर्व 299.20

8 शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.1

9 शुक्लपक्षस्य चाष्टज्यां माघमासस्य पार्थिव।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।।
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
समादेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.3

10 विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः।
शुशुभे परमा लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.4

11 भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा।
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.13

12 स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम्।
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम्।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.14-15

13 शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम्।
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 14.17

14 अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः।
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.18

15 यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.21

16 यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढ़े स्रगिव तिष्ठति।
सद्सद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.22

17 हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.23

18 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम्।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.25

19 यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.26

20 जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययन सज़्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः।।
नित्यव्रती सत्य परः स वै ब्राह्मण उच्यते। - महा. भा. शान्ति पर्व 189.2-3

21 भारतीय दर्शन, सतीश चन्द्र चट्टटोपाध्याय, पुस्तक भण्डार, पटना, पृ. 56

22 ऊँ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.2

23 यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 4

24 न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 6

25 दिदृक्षवो यस्य पदं सुमंगलम विमुक्त सङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 7

26 न विद्यते यस्य न जन्म कर्म वा न नाम रूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः स्वमायया तान्यनुकालकमृच्छति ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक 8

27 किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम्।
स्तुवन्तः कं कर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम्।।
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.2-3

28 जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन् नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.4

29 तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन् नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.5

30 ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।

लोकनाथं महद्भुतं सर्वभूतभवोद्भवम्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.7

31 परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्।।
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता।।
ऊँ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद् भूतभृद् भावो भूतात्मा भूतभावनः।।
- महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.9,10,14

32 पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.15

33 सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः।
सम्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.17

34 श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य, श्लोक 6

35 श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य या कर्मयोग शास्त्र, लोकामान्य बाल गंगाधर तिलक अनुवादक माधव राव सप्रे, चतुर्थ संस्करण, 1928

36 इमं विवस्ते योग प्रोक्तवानहमव्यम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एव परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्ट परन्तप।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातन। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।
- श्रीमद्भगवद्गीता, 4.1,2,3

37 यद् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.6

38 विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.5

39 स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः।।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्।। - महाभारत, आश्वमेघिक पर्व, 16.12-13

40 यमन्नयो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम्।
दृष्ट्यानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि।।
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम्।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.30-31

41 पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्यामहे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.32

42 यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम्।
नान्यः भक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.33

43 शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः।

यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः।।
हुताशनमुखैर्दुर्वैधार्यते सकलं जगत्।
हविः प्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47. 40-41

44 ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम्।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.43

45 पादाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.47

46 यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः।
विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादिव्याश्विनावपि।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.49, पृ. 4535

47 अव्यक्तबुद्धयहंकारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4535

48 मत्स्यो भूत्वा विरिञ्चाय वेदाः समाहृताः।
रसातलगतः शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

49 मन्दराद्रिर्धृतो येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने।
अतिकर्कशदेहाय तस्मै कूर्मात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

50 वाराहं रूपमास्थाय नहीं सवनपर्वताम्।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

51 नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयंकरम्।
हिरण्यकशिपुं जहने तस्मै सिंहात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

52 वामनं रूपमास्थाय बलिं संयज्य मायया।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

53 त्रिसप्तकृत्वो यश्चैकोधर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान्।
जघान क्षत्रियान् संज्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

54 जमदग्निसुतो जूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

55 यो हली मुसली श्रीमान् नीलाज्ञरधरः स्थितः।
रामाय रोहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

56 शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शर्ङ्गिणे पीतवाससे।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

57 वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रोडितो नन्दगोकुले।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः।।
सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ।

लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

58 हनिष्यति कलौ प्राप्ते ज्लेच्छांस्तुरगवाहनः।
धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47, पृ. 4536

59 सत्त्वेन प्रतिलज़्याय नैष्कर्ज़्येण विपश्चिताः।
नमः केवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.11

60 नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुण धर्मिणे ।
निर्विशेषाय साज़्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.12

61 गुणारणिच्छन्न चिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जित मानसाय।
नैष्कर्ज़्यभावेन विवर्जितागम स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.16

62 आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.18

63 यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.19

64 तमक्षरं ब्रह्म परं परेश मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगज़्यम।
अतीन्द्रियं सूक्षममिवातिदूर मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.21

65 लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षोधर्माध्यक्षः कृताकृतः।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.28

66 महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदां पतिः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.33

67 गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः।।
अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो नेता समीरणः।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात्।।
अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.36-37,50

68 महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.71

69 भगवान् भगहानन्दी वनमाली हलायुधः।
आदित्योज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.73

70 यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.53

71 यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांज़्यास्तस्मै सांज़्यात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.54

72 यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।।
अपुण्यपुण्योपरमं यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.55-56

73 यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रयाः।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.62

74 विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.66

75 ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.68

76 यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.69

77 परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.70

78 सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.83

79 एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेघावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.92

80 कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरूत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.93

81 नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे।
संसारनिज़गावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.94

82 प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.96

83 त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तमः।। - महाभारत, शान्तिपर्व, 47.98

84 यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फलगव्या च कलया कृताः॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.22

85 यथार्चिषोग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.23

86 स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्न स्त्री न षण्ढो न पुमान न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन निषेधशेषो जयतादशेषः ॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.24

87 जिजीविषे नाहमिहामुया कि मन्तर्बहिश्चवृतयेभयोन्या।

इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.25

88 सोहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोस्मि परं पदम ॥
योगरन्धित कर्मणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोस्ज्यहम् ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.26,27

89 मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ -- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, श्लोक 3.17

90 यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्व्या च कलया कृताः॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.22

91 यथार्चिषोग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.23

92 स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यंग न स्त्री न षण्ढो न पुमान न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन निषेधशेषो जयतादशेषः ॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.24

93 जिजीविषे नाहमिहामुया कि मन्तर्बहिश्चवृतयेभयोन्या।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.25

94 सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वम् विश्ववेदसम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोस्मि परं पदम् ॥
योगरन्धित कर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्ज्यहम् ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, 3.26,27

95 ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवां मधुसूदनः।।
ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः।
अनुत्तमो दुराधर्षः कुतज्ञः कृतिरात्मवान्।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.21-22

96 अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिः सृतः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.24

97 श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.78

98 स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः।
विजितात्माविधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नः संशयः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.79

99 कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धञ्जय।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.83

100 विश्वमूर्तिर्महमूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान्।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.90

101 एको नैकः सवः कः किं यत् तत् पदमनुत्तमम्।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.91

102 सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः।।
अमानी मानदोमान्योलोकस्वामीत्रिलोकधृक्।
सुमेधा मेधजो धन्य सत्यमेधा धराधरः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.92-93

103 अणुर्वृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।
अधृतः स्वधृतः स्वास्य प्राग्वंशो वंशवर्धन।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.103

104 धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमोऽयमः।। - महाभारत, अनुशासनपर्व (दानधर्म पर्व), 149.105

105 भारतीय संस्कृति में गीतात्रय : तात्विक अभिगम, पारुल एस. मेहता, पृ. 6

106 धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। - महाभारत, आदिपर्व, 62.53

तृतीय अध्याय

पंचरत्नों का भक्तिशास्त्रीय विश्लेषण

भक्ति शब्द भज् से सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से बनता है। जिसका व्युत्पत्ति परक अर्थ है, सेवा करना। जीव की सामर्थ्य से परे है कि वह ईश्वर की सेवा कर सके। इसलिये शांडिल्य भक्तिसूत्र में सापरोनुरक्ति ईश्वरे[1] के अनुसार प्रकृष्ट अनुराग को भक्ति कहा है। श्रीमधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवदभक्ति सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविछिन्न प्रवृत्ति है वह भक्ति है।[2] तात्पर्य यह है कि ईश्वर के अनन्त नाम रूप और भाव की दृष्टि से भक्त अपना संबंध जोड़ता है। अपनी चित्त प्रवृत्तियों को उसी में लय कर देता है। इस भक्ति के अनेक भेद और विभाग किये गये हैं। मूलतः भक्ति के तीन तत्त्व होते हैं। उपास्य, उपासक और उपासना। अवतारवाद की प्रतिष्ठा के कारण उपास्य का स्वरूप अंशावतार, कूलावतार से आगे बढ़कर पूर्णावतार और साक्षात पर ब्रह्मा के सगुण और निर्गुण की ओर विकसित हुआ।

धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अन्तर्गत मानव जीवन का परम लक्ष्य संसार के दुःखों से मुक्ति पाना माना गया है, इसी का नाम मोक्ष है। इस लक्ष्य को पाने के लिए भारतीय मनीषियों व चिन्तकों ने समय-समय पर विभिन्न मार्गों का प्रतिपादन किया है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कभी इसी भाव को पञ्चदशी में माधवाचार्य विधारण्य ने भी अभिव्यक्त किया है।[3] ज्ञान का स्वर भारतीय जीवन के लक्ष्याकाश में बहुविध प्रतिध्वनित हुआ है तो कभी भक्ति मार्ग को प्रशस्त कहकर भारतीय मनीषा को अपार सुख की अनुभूति हुई है। इसी तरह से कर्म का उपदेश देते समय कर्म को बुद्धि के शोधन का प्रयोजन माना गया है।

भक्ति से क्या प्रयोजन है? भक्ति का क्या अर्थ है, इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भक्ति शब्द का व्युत्पन्न अर्थ जान लेना अति आवश्यक है। 'भक्ति' पद कई धातुओं से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है-सेवा करना, विभाजन करना, दान करना, अलग करना। भाष्यकार स्वप्नेश्वर ने भक्ति पद को भज् सेवायाम् से निष्पन्न माना है जबकि इस भक्ति सूत्र में भक्ति का अर्थ भज् विश्राणने[4] से लगाया जाना अधिक युक्ति संगत लगता है क्योंकि भक्ति का सेवा अर्थ लगाना केवल मात्र रूढिगत ही है जबकि सूत्रों में व्युत्पन्न अर्थ ही तुलनात्मक रूप से सर्वकाल मान्य होता है। सूत्रग्रन्थ ऐसे अर्थ के प्रतिपादक होते हैं जो सार्वभौमिक हों, सार्वकालिक हों तथा व्युत्पत्ति-लज़्य हो, सूत्रग्रन्थों में रूढ़ि के लिए कोई स्थान नहीं होता क्योंकि रूढ़ि अल्पकाल तक रहने वाली या

काल-विशेष में ही प्रभाव दिखाने वाली होती है दूसरा कारण यह भी है कि रूढ़िगत अर्थ प्रचलन के बाद में प्राप्त होता है जबकि व्युत्पन्न अर्थ रूढ़ि या प्रचलन से पहले ही शब्द में विद्यमान रहता है।

यास्क के मतानुसार सारे शब्द धातुज[5] और जो धातुज हैं वे तो व्युत्पन्न अवश्य ही होंगे। अतः प्रस्तुत सूत्र ग्रन्थ में भक्ति का विश्राणन अर्थ करना ही श्रेयस्कर होगा। विश्राणन का तात्पर्य है विभाग करना या बँट जाना। आज के मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार भी भक्ति को भज् विश्राणने से ही निष्पन्न माना जाना चाहिए क्योंकि तदनुसार, जिस प्रकार हमारे चित्त में प्रत्येक सूचना के केन्द्र अलग हैं तथापि सभी केन्द्र समूह में कार्य करके एक रूपराशि को उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार जब हम भक्ति करते हैं या ईश्वर में हमारी अनुरक्ति हो जाती है तो उस समय हमारे चित्त का विश्राणन हो जाता है अर्थात् हमारा चित्त बंट जाता है।

आचार्य तुलसी ने भी अपनी रामचरितमानस में भक्ति विषयक भाव व्यक्त करते हुए कहा है-''सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरऊ उरगामि'' अर्थात् सेवक सेव्य भाव के बिना भवतरण संभव नहीं है। इस पंक्ति में भज् सेवायां अर्थ न होकर भज् विश्राणने अर्थ ही सिद्ध हो रहा है।

भगवान पर अनन्य प्रेम का नाम ही है भक्ति। प्रेम की पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्ति का पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जाय और भक्त की सारी द्वैतभावना लुप्त हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते- सारी क्रिया करते हुए सभी अवस्थाओं में भक्त जब भगवान् के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है- सा परानुक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यसूत्र)

इसी सिद्धांत को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरब्यभिचारिणी।

मां च योअब्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।[6]

भगवान् की भक्ति के लिये ऊँचे-नीचे, स्त्री-पुरूष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है (नारद सूत्र 72) सभी देश, युग, जाति और अवस्था के मनुष्यों को भगवान की भक्ति का अधिकार है, क्योंकि भगवान् सबके है।

श्रीमदभागवत के सातवें स्कंध में प्रहलाद ने भक्ति के नौ अंग बताते हुए कहा है-

श्रवणं कीतर्नं विष्णोः स्मरणं पादसेवनञ्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सज्यमात्मनिवेदनञ्।।[7]

श्रवण भक्ति

हरिकथा, पुराण अथवा अध्यात्मनिरूपण का श्रवण, श्रवण-भक्ति है। भाव यह है कि परमात्मा सगुण और निर्गुण उभयरूप होने से उसकी सगुण लीलाओं को सुनने से सगुण भक्ति-भाव का उद्दीपन होता है और अध्यात्म-श्रवण से ज्ञानबोध होता है । इस तरह श्रवण भक्ति से ज्ञान और भक्ति दोनों का लाभ होता है। साधना के सभी मार्गों और उनके सभी साधनों तथा यथा साध्य संसार की सभी विद्याओं, कलाओं एवं तत्वों की बात सुनिये और उनमें से सार ले लीजिये तथा असार त्याग दीजिये। इसी का नाम श्रवण है। सगुण का वर्णन और निर्गुण का अध्यात्म ज्ञान सुनकर उसमें से 'विभक्ति' (दृश्यमान जीव-शिव का भेद) त्याग भक्ति (अद्वैत या तादात्म्य) जो खोज निकालना ही समर्थ की दृष्टि में श्रवण-भक्ति है।

तब कथामृतं तप्त जीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहज्।

श्रवणमंगल श्रीमदाततं भुवि गृणान्ति ते भूरिदा जनाः।। 20।।[8]

हे कृष्ण! संसार में जो आपकी उन लीलाकथाओं का गान करते हैं, जो कि ताप-क्लिष्ट व्यक्तियों के लिए जीवनस्वरूप, ब्रह्मा-नारदादि द्वारा आराधित, सर्वपापनाशक, श्रवण मात्र से परममंगलप्रद, सर्वशक्तिसमन्वित और सर्वव्यापक हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ वदान्य हैं।

निवृत्तर्षैरूपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।

क उत्तमः श्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।।[9]

जिनकी सांसारिक तृष्णा सर्वदा के लिए बुझ चुकी है, वे जीवनमुक्त महापुरूष भी पूर्ण प्रेम से अतृप्त रहकर श्रीकृष्ण की गुणावली का कीर्तन किया करते हैं। मुमुक्षुजनों के लिए जो भवरोग का रामबाण औषध है तथा विषयी लोगों के लिए भी उनके कान और मन को परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले गुणानुवाद से पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्य के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे। श्रीभगवान् और भक्त के नाम-रूप-गुण-लीलामय शब्द समूह के कानों द्वारा सुनने पर उसको सुनना या श्रवण कहते हैं। साधन के प्रारंभ में अन्तः करण की शुद्धि के लिए भगवन्नाम् - श्रवण की अपेक्षा रहती है। अन्तःकरण के शुद्ध अर्थात् विषयमल-मुक्त होने पर भगवान् की रूप संबंधी कथा श्रवण एवं इस कथा के फल से हृदय में रूप के उदय होने की योग्यता प्राप्त होती है। रूप की कथा सुनने से रूप का पूर्णतः उदय होने पर गुणों की स्फूर्ति होने पर परिकरों का सेवा वैचित्र्य एवं उनके साथ उनका लीला वैशिष्ट्य भी स्फुरित होता है। इस प्रकार उसके

नाम रूपादि के स्फुरण में उनकी लीला सर्वांग सज़्ज्ञन होकर सुन्दर भाव से स्फुरित होती है।

कीर्तन भक्ति

सगुण हरिकथा करना, भगवान् की कीर्ति का प्रसार करना और वाणी से श्रीहरि के नाम-गुणों का कीर्तन करना कीर्तन भक्ति है। कीर्तनकार को चाहिए कि वह बहुत सी बातें कंठस्थ करें। निरूप्य विषय का अर्थ भी याद रखने का प्रयत्न करें। निरन्तर हरिकथा करें, उसके बिना कभी न रहें। हरि की गुंजन से सारा ब्रह्माण्ड भर दे। कीर्तन से परमात्मा संतुष्ट होता हैं, अपने जी को समाधान मिलता हैं और बहुतों के उद्धार का मार्ग खुल जाता हैं। कलियुग में कीर्तन से ये तीन बड़े लाभ हैं। कीर्तन में संगीत का भी पूर्ण समावेश रहे। श्रद्धा-भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के लक्षण बतलाये, स्वधर्म-रक्षा के उपाय सुझाये, साधनमार्ग को सँभालकर अध्यात्म का निरूपण करें। लोंगों के मन में किसी तरह का संशय बढ़े, ऐसी एक भी बात न कहने की सावधानी रखे। अद्वैत का निरूपण करते समय यह सतर्कता रहे कहीं सगुण का प्रेम टूट न जाय। वक्ता का अधिकार बहुत बड़ा हैं। निश्चय ही छोटा या साधारण व्यक्ति वक्ता नहीं हो सकता। उसे अनुभवी होना ही चाहिये। वह सब बाजुओं को सँभालकर ज्ञान का निरूपण करें, जिससे वेदाज्ञा मग्न न होते हुए लोग सत्मार्गगामी बनें। समर्थ स्पष्ट कहते हैं कि जिससे यह न सध पाए, वह इस पचड़े में कभी न पड़े और केवल भगवान् के सामने सप्रेम उनके गुणानुवाद गाये। यह भी कीर्तन-भक्ति ही हैं। देवर्षि नारद सदैव कीर्तन करने के कारण नारायणरूप माने जाते हैं। कीर्तन की महिमा अगाध हैं। 'कीर्त्तन' शब्द का अर्थ -

नाम-लीला-गुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनङ्।।[10]

नाम, गुण और लीलादि के उच्च स्वर से कथन को ही कीर्तन कहते हैं। कृष्ण विषयक श्रवण कीर्तनादि प्राकृत श्रोत्रवागादि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है -

निजेन्द्रियमनः कायचेष्टारूपां न विद्धि ताङ्।

नित्यसत्यघनानन्दरूपा सा हि गुणातिगा।।[11]

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन आदि भक्ति श्रौत्र, वाक्, मन और देह का व्यापार नहीं है। इस भक्ति को नित्या, सत्या, घनानन्दरूपा, गुणातीता एवं प्राकृत इन्द्रियों के द्वारा अगोचर जानो। इसलिए श्रीकृष्ण नामादि प्राकृत इन्द्रियों की ग्राह्य वस्तु नहीं हो सकती। सेवोन्मुख अवस्था में उसके नाम-रूप-गुण-लीलादि भक्त की अप्राकृत जिह्वा, चक्षु आदि इन्द्रियों में स्वयं प्रकाशित होती हैं।

कृते यद्ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्।।[12]

सत्ययुग में भगवान् का ध्यान करने से, त्रेता में बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करने से और द्वापर में विधिपूर्वक उनका अर्चन करने से जो फल मिलता है, वह कलियुग में केवल भगवन्नाम का कीर्तन करने से ही प्राप्त हो जाता है।

स्मरण भक्ति

भगवान् का अखण्ड़ नाम-स्मरण और समाधान पाना स्मरण-भक्ति हैं। नित्य नियम से सर्वदा नाम-स्मरण करना चाहिये। सुख या दुःख किसी भी समय बिना नाम के न रहे। सब प्रकार के सांसारिक काम करते हुए भी नाम-स्मरण चलता रहें। नाम से सारे विघ्न दूर होते, सभी सांसारिक बाधाएँ मिटतीं और अन्त में सद्गति प्राप्त होती हैं। नाम की महिमा श्रीशंकरजी जानते हैं। इसी के सहारे वे हालाहल विषके प्रभाव से छूट गये। काशी में मरने वालों को वे इसी रामनाम का उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं। नाम के प्रताप से सागर पर पत्थर तैर गये, प्रह्लाद भक्त-शिरोमणि बना और व्याध आदि कवि हो गया। नाम-स्मरण का अधिकार चारों वर्णों को हैं। वहाँ छोटे-बड़े का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये मन में भगवान् के रूप का ध्यान करते हुए खण्ड़ नाम-स्मरण किया जाय। यही नाम भक्ति हैं।

एतावान् सांज़्ययोगाज़्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।

जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः।।[13]

मनुष्य जन्म का यही लाभ है कि चाहे जैसे हो- ज्ञान से, भक्ति से अथवा अपने धर्म की निष्ठा से जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि मृत्यु के समय भगवान् की स्मृति अवश्य बनी रहे।। भगवद् स्मृति और विषय स्मृति एवं उसका फल -

विषयान् ध्यायतश्चितं विषयेषु विषज्जते।

मामनुस्मरतश्चितं मय्यैव प्रविलीयते।।[14]

सदा-विषय चिन्तारत व्यक्ति का चित्त जिस प्रकार विषयों में ही निमग्न रहता है, उसी प्रकार मेरा निरन्तर स्मरण करने वाले का चित्त भी मुझमें लीन अर्थात् तन्मय हो जाता है।।

पादसेवनम् भक्ति

मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर, वाणी और मन से सद्गुरु चरणों की सेवा करना पाद सेवन-भक्ति है। जन्म-मरण का चक्कर छुड़ाने के लिये सद्गुरु की शरण में जाना अनिवार्य है।

ब्रह्मस्वरूप का परिचय सद्गुरु ही कराते हैं। वस्तु चरम चक्षुओं को नहीं दिखती। मन उनका आकलन नहीं कर पाता और असंग हुए बिना उसका आकलन नही होता। अनुभव लेने जाते है तो संग (त्रिपुटी) खड़ा हो जाता है। बिना संग-त्याग के अनुभव नहीं होता। संग-त्याग, आत्मनिवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तता, सहजावस्था, उन्मत्ता और विज्ञान - ये सातों एक रूप ही हैं। समाधि सुख को प्राप्त करनेवाले ये सात संकेत हैं। ये और ऐसे ही अन्य सभी अनुभव के अंग पाद-सेवन से ही समझ में आते हैं। इसीलिये यह सुगज्य मार्ग है। कहा जाता है कि सत्संग से सब कुछ हो जाता है। पर वह औपचारिक बात है। तथ्य यह है कि सद्गुरू के चरण दृढ़ता से पकड़नें चाहिये। तभी उबार होगा। यही पाद-सेवन भक्ति है। यही सायुज्य मुक्ति तक पहुंचा देती है। जिनके चरणकमलों की सेवा के लिए निरतर बढ़नेवाली अभिलाषा उन्हीं के चरण नख से निकली हुई गंगा जी के समान संसारताप से संतप्त जीवों के समस्त जन्मों के संचित कामादि वासनामय चित्त के मालिन्य को तत्काल नष्ट कर देती है।

धौतात्मा पुरूषः कृष्णपादमूलं न मुन्चति।

मुक्त-सर्व-परि-क्लेशः पान्थः स्व-शरणं यथा।।[15]

कृष्ण से अभिन्न कृष्ण कथा का श्रवण करने से जिसका हृदय शुद्ध हो जाता है, वह श्रीकृष्ण के चरण कमलों को एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ता। जैसे मार्ग के समस्त क्लेशों से छूटकर घर आया हुआ पथिक अपने घर को नहीं छोड़ता। वह घर की शान्ति को छोड़कर अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करता है।

पादसेवायां पादशब्दो भक्त्यैव निर्दिष्टः। ततः सेवायाः सादरत्वं विधीयते। अस्य श्रीमूर्तिदर्शनस्पर्शन परिक्रमानुब्रजन भगवन्मन्दिरगंगा पुरूषोत्तमद्वारकामथुरादि तदीयतीर्थस्थानगमनादयोऽप्यन्तर्भाव्याः।

(श्रीमद् 7 । 5 । 23-24 श्लोक की क्रमसंदर्भ टीका) पादसेवन से पादशब्द में भक्ति ही निरूपित हुई है। इससे सेवा की प्रतिष्ठा होती है। श्रीमूर्ति का दर्शन, स्पर्शन, परिक्रमा और अनुगमन एवं भगवन्मन्दिर तथा गंगा, पुरूषोत्तम, द्वारका, मथुरा आदि उनके संबंधित एवं पादांकित तीर्थादि में गमन भी पादसेवन के अंतर्गत ही है।

अर्चन भक्ति

भगवान् की पूजा अर्चन-भक्ति है। वह शास्त्रोंक्त होनी चाहिये। घर के बड़े बूढ़े जिन्हें पूजनें आये, उनका पूजन करना अर्चन-भक्ति है। संक्षेप में शरीर, वाणी, मन और चित्त, विश्व

और जीवन, सब कुछ बेचकर सद्भाव पूर्वक भगवान् का अर्चन करना - यह अर्चन भक्ति है। भगवान् की तरह की गुरू का अर्चन करना चाहिये। यदि ऐसी पंचोपचार, षोडशोपचार, चतुष्षष्टि-उपचार या असंज्य उपचारों से पूजा करनें की शक्ति न हो तो मन से ही उन सारे पदार्थो की कल्पना करके बड़े भाव से मानस पूजा करनी चाहिये । वह भी अर्चन- भक्ति में आ जाती है। श्रीमद्भागवत से यह लिया गया है।

अपने मन की भावना के अनुसार किसी की मूर्ति की पूजा करना अर्चन (पूजन) कहलाता है। श्रीमदभागवत में आठ प्रकार की प्रतिमाएँ बतायी गयी है-

शैली दारूमयी लौही लेप्या लेज्या च सैकती।

मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविद्या स्मृता।।[16]

इस परिपाटी में धन्ना, मीरा, नामदेव आदि की गणना की जा सकती है।

वन्दन भक्ति

देवता की प्रतिमा , साधु-संत और सद्गुरु को साष्टांग नमस्कार या यथाविधि नमन वन्दन-भक्ति है। सूर्य ,अन्य देवता एवं सद्गुरु को साष्टांग और दूसरों को साधारण नमस्कार किया जाए। जिसमें विशेष गुण दिखे, उसे सद्गुरु का अधिष्ठान मानें। इससे नम्रता आती है, विकल्प नष्ट होते और साधु - संतों से मित्रता होती है।, इससे चित्त के दोष मिटते और नष्ट हुआ समाधान भी पुनः बन जाता है नमस्कार से पतित भी पावन हो जाते हैं। सद्बुद्धि, सद्गुण आदि भी विकसित होती है। इससे बढ़कर कोई शरणागति का कोई दुसरा मार्ग नहीं । किंतु वह अनन्य भाव से अर्थात निष्कपट होकर करना चाहिए। साधको के शरणमेंआतेहीसाधुओं को उनकी चिन्ता लग जाती है और फिर वे उन्हे स्वरूप में स्थित कर देते हैं।

दास्य भक्ति

देवद्वार पर सदा सेवा के लिये तत्पर रहना , प्रत्येक देवकार्य सोत्साह पूरा करनें के लिए तैयार रहना देवता के एश्वर्य को संभालना , उसमें कमी न पड़ने देना और देवभजन का रंग वढाना दास्य भक्ति है। देवालयों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार , पूजन का प्रबन्ध ,उत्सव-जयन्तियां मनाना , वहां आने वालों का आतिथ्य और भगवान के सामने करूणस्त्रोत पढकर सबको आन्तरिक संतोष देना दास्य भक्ति है। यह सब प्रत्यक्ष साधनों की शक्ति न हो तो मानस दास्य ही करे। देवता की तरह सद्गुरु की दास्य भक्ति की जाय । दास्य भक्ति में हनुमान, विदुर और भरत प्रसिद्ध है। मोरे मन प्रभु अस विस्वास राम ते अधिक राम कर दासा।।

सख्य भक्ति

देवताओं के साथ सख्य संपादन करना उनके प्रेमसूत्र में बांध लेना और जो उन्हें प्रिय हो उसे करना सख्य भक्ति है। देव के साथ सख्य स्थापनार्थ अपना सारा सौख्य छोड़ना और सर्वस्व लगाकर उससे विलग न होना सख्य है। इस तरह सख्य भक्ति से भगवान को बांध लेने पर फिर तो वह भक्त की सारी चिंता स्वयं ही करते है। लाक्षा गृह में पांडवों को जलने से किसने बचाया अपना अभीष्ट सिद्ध न होने पर भगवान् से प्रसन्न न होना सख्य नहीं है कहीं शायद अपने पुत्र की हत्या करने वाली माता मिल भी जाये पर अपने भक्त को भगवान ने नष्ट कर दिया हो यह तो नहीं देखा और न सुना ही गया है। प्रेम निर्वाह करना तो भगवान ही जानते है इसी तरह गुरु की सख्य भक्ति करने योग्य है। यह शस्त्र वचन है। सख्यभाव में अर्जुन, उद्धव, सुग्रीव और गुह आदि की गणना की जाती है।

आत्मनिवेदन भक्ति

भगवान के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देना ही आत्म निवेदन है। मै कौन भगवान कौन और उसे कैसे समर्पण किया जाय इन सब का समर्थन को विस्तृत विवेचन किया है। संक्षेप में वे कहते हैं - अपने आप को भक्त कहना और भगवान को विभक्ता से भजना बड़ी ही अटपटी बात है भक्त कभी विभक्त नहीं और विभक्त भक्त नहीं देव कौन यह अपने अंदर में ही खोजें। मै कौन- इसके निस्वार्थ जिस तत्त्व से ब्राह्मण पिण्ड का विस्तार हुआ उसका विचार करें। जिन तत्त्वों से पिण्ड बना उन्हे विवेक से मूल तत्त्वों में विलीन करें, तो स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि इन तत्त्वों में मैं नहीं। इसी तरह पिण्ड के तत्वों को मूल अद्वितीय तत्वों में क्रमश: विलीन कर देने में शेष ही नहीं रहता इस प्रकार आत्म निवदेन सहज ही सद जाता है। बिना आत्मनिवेदन के जन्म - मरण का चक्कर छूट नहीं सकता। इसी से मुक्ति मिलती है। मुक्ति कल्पना में भी विचलित नहीं होती। त्रैलोक्य नष्ट होने पर भी मुक्ति नष्ट नहीं होती। भगवत भजन से सभी प्रकार की मुक्तियां प्राप्त होती है।

सचमुच भक्तियोग नौ रसो के मिश्रण से बना अलौकिक दशम रस है और रसों की श्रुति यही चरितार्थ होती है यह स्वतंत्र पुरूषार्थ है। चारों पुरूषार्थो से सुख मिलता है सुख साधक होने से पुरूषार्थ कहे जातें हैं। किन्तु भक्ति तो सुख स्वरूप होने से परम पुरूषार्थ है। यह निरूपम सुख और ज्ञान रूप तथा त्रिविध दु:ख से असंस्पृष्ठ है भला ऐसे अलौकिक योग को कौन नहीं चाहेगा। आत्मनिवेदन के अनर्गत गोपियाँ और ग्वाले आते है। जिस वस्तु को हम

किसी को स्वेच्छापूर्वक दे देते है, उस वस्तुपर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तु के नाश होने पर हम दुखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर, वाणी, मन और अहंकार- सब कुछ भगवान् को अर्पण करके प्रसन्न हो गया है, उसके लिये भगवत्सेवा के सिवा और क्या बाकी है रह जायगा। आत्मसमर्पण के बाद भी यदि हम शरीर और मन को किसी अपवित्र कार्य में लगाते है तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेने वाले) होते है। शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उनपर ममता करें। जिसकी वस्तु ये है, वह चाहे इनकी रक्षा करें या इनको नष्ट कर दें। इसमें हम कौन बोलने वाले होते है। किसी वासना द्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मन को योग्य पदार्थो में नहीं लगा सकते। भगवान् के अनुसार उनको सत्कर्म या भगवान् की सेवा में ही लगा सकते है। भगवान् ने कहा है-'सब धर्मो का त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।'। अत: यदि सब धर्मो का त्याग करके हम भगवान के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत न होकर यथेच्छाचारी ही होगें और इससे अनर्थ की ही प्राप्ति होगी। प्रपन्न के लिये समय और शक्ति का अव्यय सर्वथा वर्जनीय है। प्रपन्न एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गवाता। भक्त हरिदासजी एक प्रपन्न भक्त थे। वे प्रतिदिन तीन लाख भगवननाम लिया करते थे। भाव का अंकुर मात्र उत्पन्न होने पर क्षमा स्वयं उपस्थित होती है।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जो अपने को तृण से भी अधिक नीच मानता है, जो वृक्ष के समान सहिष्णु है तथा अमानी होकर सबको मान देनेवाला है, उसी को भगवान् का नाम-कीर्तन करने का अधिकार है। क्षमा न रहने पर अथवा क्रोध आने पर अति कष्ट से उपार्जित तपोधन नष्ट हो जाता है। जिसको क्षणमात्र के लिये भी वैराग्य नहीं होता, उसे भक्ति या ज्ञान कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव अरति (वैराग्य) भक्ति के लिये आवश्यक है। भक्त पद्मनाभ मन-ही-मन सदा सोचते रहते थे कि ''भगवान् अवश्य ही मुझे दर्शन देंगे। दर्शन पाते ही उनके श्री चरणों में लोट-पोट हो जाऊँगा। भगवान् मुझसे कहेंगे- ' तुम वर माँगो।' मैं कहूँगा कि 'आपकी सेवा के सिवा में दूसरा कोई वर नहीं चाहता।'' इस प्रकार चिंतन करते हुए पद्मनाभ समाधिस्थ होकर बहुत देर तक पड़े रहते। प्रपन्न भक्त में नामगान में रूचि और अव्यर्थकालत्व- ये दो गुण होने आवश्यक है। पूर्ण आत्मनिवेदन के विषय में श्रीभागवत् में कहा गया है-

मर्त्यो त्यक्त समस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षिते।

तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मया आत्मभूयाय कल्पते वै ।।[17]

जो पूर्ण रूप में मेरे शरीरगत हो गया है और जिसने अन्य सारे कार्यों को पूरी तरह छोड़ दिया है वह इस जन्म में मेरे द्वारा व्यक्तिगत रूप में सुरक्षा प्रदान किया जाता है। दूसरे शब्दों में मैं आध्यात्मिक जीवन में अधिकाधिक अग्रसर होने में उसकी सहायता करना चाहता हूँ। आत्मा की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग प्रकार से की है। इसका अर्थ कोई शरीर तो कोई मन से लेते हैं। इसी प्रसंग पर भक्त विनोद ठाकुर का एक सुन्दर गीत है- उन्होंने आत्मा से निवेदन करते हुए कहा है हे प्रभु यह मेरा मन, मेरा घर बार, मेरा शरीर, मेरा सर्वस्व आपकी सेवा में अर्पित है, अब आप इनके साथ जैसा चाहे वैसा करे आप हमें मारे चाहे संरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार जो भक्त सज़्पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण कर देता है, ईश्वर उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले कर शीघ्र ही उसे भक्ति मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं। इस प्रकार ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए भक्ति के इन नौ प्रकारों में से सभी का या कमोबेश किसी एक का आश्रय लेकर मनुष्य भगवत प्राप्ति स्वरूप परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

भक्तिवाद

मनुष्य के कार्यों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या आनन्द प्राप्त करना माना गया है। जगत् बड़वानल में फंसकर वह ब्रह्मानुभूति नहीं कर पाता। जीव इस नश्वर संसार में आकर अपने अंदर स्थित अविनाशी ब्रह्म को भूल जाता है। इसीलिये उसे पुनरपि जन्मान्म पुनरपि मरणं के चक्र में फंसना पड़ता है। जिसकी मुक्ति भक्ति मार्ग से ही संभव है।

ईश्वर-दर्शन के लिए गीता ने भक्तिमार्ग दर्शाया है और चराचर में स्थित परमात्मा के ध्यान का मार्ग दिखाया है। गीता की दृष्टि में ईश्वर दर्शन का आत्ज़साक्षात्कार किए मनुष्य की स्थिति 'आत्ज़वत् सर्वभूतेषु' जैसी होती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।[18]

गीता का वास्तविक लक्ष्य कर्म, ज्ञान और भक्ति के सामंजस्य में है।[19] श्री तिलक ने गीतारहस्य में गीतोपदेश विषयक विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'ज्ञान भक्तियुक्त कर्मयोग' ही गीता का तात्पर्य है। उपनिषद् का धर्म केवल ज्ञानमय होने से अल्पबुद्धिजीवों को समझने में मुश्किल होती है। इसलिए बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति), कर्तृत्व तीनों का सुमेल करके,

लोकव्यवहार की सरलतावाले ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान और अमरणान्त निष्काम कर्मवाला धर्म भगवान के द्वारा गीता में उपदिष्ट है।[20]

श्री पाण्डुरंग शास्त्री के मतानुसार गीता में वर्णित भक्ति पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि -भक्ति और उपासना के बीच भेद है। उपासना करने के लिए होती है और भक्ति की वृत्ति का सेवन करना होता है। एक ओर चिंतन और दूसरी ओर उपासना दोनों मिलकर ही भक्ति बनती है। गीता में जनकादि के दृष्टांत देकर भगवान की शरणागति के लिए उपदेश दिया गया है। उसमें भक्ति प्रधान लोकसंग्रहाक कर्मयोग का उपदेश देकर प्रपत्ति की दृढ़ता की गई है। भक्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति के विषय में कृष्ण का वचन है कि अनन्य भक्ति के द्वारा कोई भी भक्त मुझे जानने, देखने और मुझ में प्रवेश करने में समर्थ हो सकता है। गीता के द्वादश अध्याय में भक्ति, भक्त का स्वरूप इत्यादि की विशद विवेचना की गई है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपः।।[21]

भीष्मस्तवराज में ईश्वर भक्ति का फल मोक्ष बताते हुए ईश्वर को जगत का कोषागार कहा गया है तथा उपासक की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला बताया गया है। भक्तजन यज्ञादि कर्मों और पूजन से ईश्वर का भजन करते हैं। भीष्मस्तवराज में भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण की भक्ति को दर्शाया गया है।

नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम्।

यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन् संनिहिता प्रजाः।।[22]

विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में ईश्वर के सहस्र रूपों का वर्णन करते हुए ईश्वर का ध्यान, स्तवन और पूजन करने से सब दुखों से छूटने का फल बताया है। साथ ही ईश्वर भक्ति से आत्मसुख, क्षमा, लक्ष्मी, धैर्य, स्मृति और कीर्ति भी प्राप्त होती है।[23]

प्रस्तुत अध्याय में मुज्य रूप से महाभारत और गजेन्द्रमोक्ष में भक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

महाभारत में भक्ति का स्वरूप

महाभारत में हमें प्रवृत्तिमय भक्ति का स्वरूप दिखाई देता है। पाणिनि के सूत्र[24] से पता चलता है कि पाणिनि से पूर्व वासुदेव की भक्ति का प्रचार हो चुका था तथा मनीषियों पाणिनि का समय ईसा पूर्व चतुर्थी शताब्दी माना है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सर्वप्रथम वासुदेव

की भक्ति का प्राधान्य था।[25] महाभारत के नारायणीयोपाज़्यान से इसकी पुष्टि होती है। महाभारत के शान्तिपर्व में एकान्तिक धर्म की उत्पत्ति कथा है। गीता महाभारत का ही एक भाग है जिसमें वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञपरक काज़्यकर्म के स्थान पर निष्काम कर्म की[26] प्रतिष्ठा की गई तथा निवृत्ति-परायण ज्ञानकाण्ड के स्थानपर प्रवृत्ति परायण भक्ति[27] की स्थापना की गई है।

महाभारत में भक्ति अवतारवाद के सिद्धान्त के अनुरूप वर्णित है। इसमें निर्विवाद रूप से श्रीकृष्ण को उपास्य रूप में चित्रित किया गया है, क्योकिं राजसूय यज्ञ में अग्र पूजा कृष्ण की ही की गयी थी। भीष्म ने कृष्ण को ही सबसे पूज्य कहा है।

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।

मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः।।

असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।

भासितं हादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः।।[28]

कृष्ण रूपी उपास्य के स्वरूप का चित्रांकन करते हुये मार्कण्डेय प्रसंग में व्यास जी ने लिखा है कि बालमुकुंद श्रीकृष्ण, नारायण, विष्णु, ब्रह्मा, शक्र, इन्द्र, सोर, प्रजापति, विधाता सभी कुछ वे ही हैं।

अहं नारायणों नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।

विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तमा।।

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।

अहं वे श्रवणो राजा यमः प्रेतधिपस्तथा।।

अग्निरास्यं क्षिति पादौ चन्द्रोदित्यौ च लोचने।

द्यौमूर्धाश्च दिशः श्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसज़्भवाः।।

सत्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः।

मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्तउपासते।।[29]

इन्हीं कृष्ण को भगवान मानकर युधिष्ठिर ने अर्न्तयामी उपास्यसृष्टि नियन्ता पुरुषोत्तम इत्यादि विशेषण लगाकर स्तुति की है।

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामहुः सात्वतां पतिम्।

नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः।।

विश्वकर्मन नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन विश्वसज़्भव।

विष्वो जिष्णो हरे कृष्ण बैकुण्ठ पुरुषोत्तम्।।

वराहोऽग्नि वृहद्भानुर्वृषभस्ताक्ष्यलक्षणः।

अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट ऊरूक्रमः।।

कृष्ण धर्मस्त्वमेवादि र्वृषदर्भो वृषाकपि।

सिन्धुर्विधर्मास्तिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्युतः।।[30]

श्रीमद्भागवत गीता के 11वें अध्याय में श्रीकृष्ण की विभूतियों का ऐसा व्यापक वर्णन है जिसे पढ़कर श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयं का प्रत्यक्ष बोध होता है, उनके इस विचार स्वरूप के संदर्भ में कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं-

अनेकववक्त्रनयनमने काद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद् युगपत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मन।।

तत्रैकस्थं जगत कृत्सनं प्रतिभक्तमनेकधा।

अपश्यद देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।[31]

महाभारत के नारायणी उपपर्व में श्रीकृष्ण को पूर्ण भगवान की प्रतिष्ठा करके उन्हें ही संसार का नियामक कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि रूपों में प्रचलित भगवान् के सभी रूपों का पर्यावसान श्रीकृष्ण में हुआ है। एतद् विषयक कुछ श्लोक उदृधत हैं-

सुरासुरान् नगरक्षः पिशाचान् नरान सुपणनिध गन्धर्व यक्षान।

पृथविग्धान भूतसंधाश्च विश्वांस्त्वत्सज़्भूतान विद्य सर्वास्तथैव।।

ऐन्द्र याज़्यं वारूणं वैत्तपाल्यं पैत्रं त्वाष्ट्रं कर्म सौज़्यं च तुज़्यम्।

रूपं ज्योति शब्द आकाशवायुः स्पर्शः खाद्यं सलिलं गन्धउर्वी।

कालो ब्रह्मा च ब्राह्मणश्च त्वत्सज़्भूतं स्थास्नु चरिष्णु चेदम्।।

दिव्यामृतौ मानसौ द्वौ सुपर्णो वाचा शाखाः पिप्पलाः सप्तगोपाः।

दशाप्यन्ये ये पुरं धारयन्ति त्वया सृष्टास्त्वं हि तेज़्यः परोहि।।

विद्धानेवं गच्छति ब्रह्म शुक्रम अस्तौषं त्वां तव सज़्मानमिच्छन्।

अस्तौषं त्वां तव सज़्मानमिच्छन् विचिन्वन् वै सदृशं देववर्य।।

सुदुर्लभान देहिवरान् ममेष्टा नभिष्टुतः प्रविकार्षीश्च मायाम्।।[32]

महाभारत को भगवान श्रीकृष्ण का शब्द वपु कहा जाता है। वैदिक काल से लेकर पौराणिक धर्मानुसार पञ्चरात्र तथा शाश्वत धर्म के सिद्धान्तानुसार सर्वत्र कृष्ण को उपास्य अज, अव्यय, निर्गुण, सगुण ब्रह्म कहा गया है। वे ही संसार के एक मात्र उत्पत्ति पालक और संहर्ता हैं। विविध आज़्यानों व्यास कथन एवं कृष्ण का स्वगत कथन भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। अंशावतार, कलावतार, लीलावतार, व्यूह रूप में श्रीकृष्ण भगवान को ही ब्रह्म कहा गया है। शांतिपर्व के 345 अध्याय से लेकर 350 अध्याय तक इन्हीं तत्त्वों का वर्णन करते हुए वैशज़्ायन ने कहा है कि-

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।

संहारकारश्चैव कारणं च विशांपते।।

अवतारवाद के साथ उसके कारणों की भी चर्चा विस्तृत रूप में महाभारत में उपलब्ध है। शाप और वरदान के अतिरिक्त गो, ब्राह्मण आदि की रक्षा अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना हेतु भगवान के अवतारकारण कहे गये है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लार्नि र्भवति भारत।

अज़्युत्थानमर्धमस्य तदात्मानं सृजाज़्यहम्।।[33]

इस प्रकार उपास्य रूप में कृष्ण की चर्चा कर महाभारत में साधनों के रूप में अर्चना, पूजा, स्तुति, सदाचार, विवेक, दया, क्षमा इत्यादि की चर्चा हुई है। इसकी हमने मोक्ष प्राप्ति के साधनों के अन्तर्गत विशिष्ट रूप से चर्चा की है।

अतः यह कहा जा सकता है कि गीता में वर्णित कर्म में ही मनुष्य का विशेष अधिकार होता है फल में नहीं इसलिए महाभारतकालीन युग में कर्म की प्रबलता अधिक थी। प्रत्येक मनुष्य राजा हो या रंक सबको अपने कर्म के प्रति सजग रहना चाहिए। पितामह ने भी कर्म पुरुषार्थ की शिक्षा दी। महाभारतकाल में भक्ति की प्रबलता बहुत ज्यादा थी। महाभारत में अनेक उदाहरण द्रष्टव्य होते हैं कि कृष्ण ने स्वयं कहा था जब-जब धर्म की हानि होगी मैं अवतार लूँगा। व्रत, पूजन, स्तुति, सदाचार आदि का विशेष महत्त्व उपरोक्त तथ्यों से ही स्पष्ट हो चुका है कि हमेशा ही कार्य किये बिना कोई वस्तु हस्तस्थ नहीं होती है।

आध्यात्ज के क्षेत्र में भगवद्गीता का महत्त्व अद्वितीय है। इसमें उपनिषदों के प्रायः सभी तत्त्वों को सरलतापूर्वक समझाया गया है। यह आध्यात्मिक और व्यावहारिक सामग्री से परिपूर्ण है। भगवद्गीता ग्रन्थ प्रस्थान त्रय में माना जाता है। प्रस्थानत्रय का अर्थ है कि

परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का जिसमें मार्ग हैं, उनको बताने वाले उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता – ये तीन हैं। प्रस्थानत्रय में वेदों का शिरोभाग 'उपनिषद' कहलाता है। दार्शनिकों का अन्तिम तत्त्व ब्रह्मसूत्र (उत्तरमीमांसा) कहलाता है। भगवद्गीता इन दोनों के समकक्ष कहलाती है, जो कि महाभारत रूप इतिहास ग्रन्थ में सम्मिलित है। उपनिषदों के मन्त्र हैं, ब्रह्मसूत्र के सूत्र हैं और गीता के श्लोक हैं। परन्तु भगवद्गीता के श्लोक भगवान् की वाणी होने से मन्त्र रूप हैं और सरल होने पर भी तात्पर्य गंभीर होने से सूत्ररूप हैं। इस प्रकार गीता उपनषिद् और ब्रह्मसूत्र के समकक्ष है।

गीता में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक समन्वय है। गीता का धार्मिक और दार्शनिक महत्त्व विश्वविदित है। वह भारतीय जीवन का ही नहीं, विश्व के मानवीय धर्म का एक सुसंगठित स्वरूप भी है। गीता के 12वें अध्याय को भक्ति योग कहा गया है। 11वें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में भक्ति की श्लाघा की गई है–

भक्तया त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।[34]
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।[35]

अर्थात् अनन्य भक्ति से केवल मेरे विश्व रूप के दर्शन ही शक्य नहीं हैं, अपितु ज्ञान एवं निर्वाण पद भी प्राप्त होता है। इसीलिये मेरे निमित्त कर्म कर, मेरी शरण में रह, मेरी भक्ति कर, संसार का साथ त्याग और किसी से शत्रुता मत रख। कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी आदि सभी योगियों में भगवान् ने ''भक्तियोगी'' को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यह भक्ति योगी ही ईश्वर के समग्र रूप को पहचान सकता है।

जब समरूप परमात्मा के साथ अभिन्नता होने से पुरुष का सर्वत्र समभाव हो जाता है, तो उसका परमात्मा में प्रतिक्षण वर्द्धमान एक विलक्षण आकर्षण, खिंचाव, अनुराग हो जाता है। उसी को परा भक्ति कहा जाता है।

अर्थात भक्ति में परमात्मा के सर्वथा समर्पित हो जाने पर जीव का स्वतन्त्र रूप से स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इस प्रकार उसको प्रेमस्वरूप प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। अहंभाव के सर्वथा मिट जाने से ही तत्त्व का वास्तविक बोध होता है। ईश्वर में आसक्त मन वाले और अनन्यभाव से दृढ़ सम्बन्ध रखने वाले ही उनके समग्र रूप को जान सकते हैं। निर्गुण

और सगुण के सिवाय राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपों में प्रकट होकर परमात्मा लीला करते हैं, उनको भी जान लेना यहीं पराभक्ति से समग्ररूप को जानना है।

अनन्य भक्ति से तो मनुष्य भगवान् को तत्त्व से जान सकता है, उनमें प्रविष्ट हो सकता है और उनके दर्शन भी कर सकता है। यहाँ उस तत्त्व में प्रविष्ट हो जाना ही अनिर्वचनीय प्रेम की प्राप्ति है। इसी प्रेम को नारदभक्तिसूत्र में प्रतिक्षण वर्धमान कहा है।[36] जब तक भगवान से परम प्रेम (पराभक्ति) नहीं होता, तब तक ब्रह्मभूत-अवस्था में भी ''मैं ब्रह्म हूं'' यह सूक्ष्म अहंकार रहता है। जब तक लेशमात्र भी अहंकार रहता है, तब तक परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव नहीं होता।

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- सेवा करना, और भक्ति शब्द का अर्थ है भगवान् की सेवा। यह परमात्मा के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग है। नारद ने भक्ति की परिभाषा देते हुए इसे परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम बताया है। शांडिल्य के मत से यह परमात्मा सर्वोच्च अभिलाषा है,[37] जो केवल इस अभिलाषा के लिए ही है। अर्थात इस अभिलाषा का और कोई प्रयोजन नहीं है।[38] यह भगवान् की करूणा के विश्वासपूर्ण आत्मसाक्षात्करण के प्रति आत्मसमर्पण है। भक्ति मार्ग के समर्थकों की लोकोत्तर मुक्ति में उतनी रूचि नहीं है, जितनी परमात्मा की अटल इच्छा के प्रति पूर्ण वशवर्तिता में। मानवीय आत्मा परमात्मा की शक्ति, ज्ञान और अच्छाई के चिन्तन द्वारा, भक्तिपूर्ण हृदय से उसके निरन्तर स्मरण द्वारा, दूसरे लोगों के साथ उसके गुणों के सञ्बन्ध में चर्चा करने के द्वारा, अपने साथियों के साथ मिलकर उसके गुणों का गान करने के द्वारा और सब कार्यों को उसकी सेवा समझकर करने के द्वारा भगवान् के निकट पहुंच जाती है। ''**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनञ्**।'[39] भक्त अपने सञ्पूर्ण अस्तित्व को भगवान् की ओर प्रेरित करता है। प्राणी और स्त्रष्टा के मध्य भेद भक्ति धर्म का आधार है। भगवद्गीता में सनातन भगवान् को दार्शनिक अनुमान से परमात्मा के लय में उतना नहीं देखा गया, जितना की करूणामय भगवान् के रूप में, जिसे हृदय और आत्मा चाहते हैं और खोजते हैं, जो व्यक्ति के विश्वास और प्रेम, श्रद्धा और निष्ठापूर्ण आत्मसमर्पण की भावना को जगाता है। फिर सत्य अद्वैत है, परन्तु द्वैत पूजा के लिए है और इस प्रकार यह पूजा मुक्ति की अपेक्षा सौगुनी महान है।

जब मन अपने किसी प्रिय का चिन्तन करता है, तब उसकी आकृति का आलञ्बन लेकर सक्रिय और चिन्तन करते-करते तद्रूप हो जाता है। भक्ति मन को सांसारिक चिन्तनों से

हटाकर ईश्वर के चिन्तन की ओर ले जाती है। यदि चिन्तन का विषय परोक्ष हो और चिन्तन निरपेक्ष भावयुक्त हो अथवा सापेक्षता से हो तो इन दोनों में बड़ा अन्तर होता है। यदि चिन्तन करने वाला यह जानता हो कि मैं जिसका चिन्तन करता हूँ वह मुझे प्रेम करता है, तब तो उसका मन चिन्तन करते-करते अपने को भूल जाता है और तन्मय हो जाता है अन्यथा वह सदा सावधान रहता है कि उसके किसी व्यवहार अथवा कार्य से उसके प्रेमी का प्रेम कम न हो जाये। वह यत्नशील रहता है कि उसका प्रेम अधिकाधिक बढ़े।

भगवान् सगुण-निर्गुण रूप से सर्वत्र विद्यमान हैं और उनकी प्रतिज्ञा है कि जो जिस कामना अथवा भावना से मुझे भजता है, मैं भी उसी भावना के अनुसार उसे भजता हूं। वे यद्यपि दिखते नहीं, परन्तु अन्तर्यामी हैं और सबके हृदय की बात जानते तथा सुनते हैं। परन्तु यह उनका सगुण रूप है। देहधारी भक्त प्रायः उन्हें देहधारी रूप में ही देखना चाहता है और भगवान् भी भक्त की इच्छा के अनुसार ही रूप धारण करके प्रकट होते हैं। मीराबाई, तुलसीदास तथा सूरदास आदि सगुण उपासकों के अनेकों उदाहरण है। दशरथ-कौशल्या, नन्द-यशोदा ने अपने-अपने पूर्व जन्म में इच्छा की थी कि भगवान् हमें पुत्र रूप से लालन-पालन करने का आनन्द प्रदान करें। गोप-गोपियों ने पूर्व जन्म में इच्छा की थी कि भगवान् हमारे साथ बाल-क्रिया करें, रूक्मिणी-सत्यभामा प्रभृति की इच्छा थी कि भगवान् हमें पति के रूप में मिलें। भगवान् ने अवतार लेकर सबकी कामनायें पूरी कीं। राधा जी और भगवान् का प्रेम बाल्यावस्था का था, युवावस्था का नहीं। जो भक्त उसमें अन्य भाव रखते हैं, वे उस पवित्र प्रेम को नहीं प्राप्त कर सकते। उनके कामी मन के दोष का उनकी भक्ति में बाधक होना अनिवार्य है। इसी अभिप्राय से कहा गया है- **'अव्यक्ता हि गति दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।'** फिर अगले श्लोक 9 में कहा कि ऐसे **'मय्यावेशित चेतसा'** का मैं शीघ्र इस मर्त्यलोक से उद्धार करने वाला हो जाता हूँ।

भक्ति मार्ग का मूल अत्यन्त पुरातन काल की धुन्ध में छिपा हुआ है। ऋग्वेद की स्तुतियों और प्रार्थनाओं, उपनिषदों की उपासनाओं और भागवत-धर्म की तीव्र धर्मनिष्ठा का प्रभाव गीता के लेखक पर पड़ा है। उसने उपनिषदों के धार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली उस विचारधारा को विकसित करने का प्रयत्न किया है, जिसे उपनिषद्कार उन्मुक्त और सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए थे। भगवान् ऐसा परमात्मा नहीं है, जो कि उस समय भी शान्तिपूर्ण अव्यक्तता में शयन करता रहता हो, जबकि आर्त हृदय सहायता के लिए पुकार रहे हों, अपितु

एक प्रेमपूर्ण रक्षक परमात्मा है, जिसपर भक्त लोग इसी रूप में विश्वास करते हैं और अनुभव करते हैं। वह उन लोगों को मुक्ति प्रदान करता है, जो उसमें विश्वास करते हैं। वह घोषणा करता है, ''यह मेरा वचन है कि जो मुझसे प्रेम करता है, उसे कभी नष्ट नहीं होगा।

जब आत्मा अपने-आपको परमात्मा के सज्मुख समर्पित कर देती है, तब परमात्मा हमारे ज्ञान व हमारी त्रुटियों को अपना लेता है और वह अपर्याप्तता के सब रूपों को परे फेंक देता है और सब वस्तुओं को अपने असीम प्रकाश और सार्वभौम अच्छाई की विशुद्धता में रूपान्तरित कर देता है। भक्ति केवल एकाकी की एकाकी की ओर उड़ान आत्मा का संसार से विराग और परमात्मा से अनुराग नहीं है, अपितु उस दिव्य भगवान् के प्रति सक्रिय प्रेम है, जो इस संसार का उद्धार करने के लिए इस संसार में प्रवेश करता है।

यह दृष्टिकोण, कि हम स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा भगवान् की दया प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते, एक तीव्र भावनामय धार्मिकता को जन्म देता है। जहाँ भक्ति में श्रद्धा और प्रेम की आवश्यकता होती है, वहां हम केवल अपने-आपको परमात्मा के प्रति समर्पित कर देते हैं, हम अपने-आपको उसके हाथों में सौंप देते हैं और यह निर्णय स्वयं उसके लिए छोड़ देते हैं कि वह हमारे लिए जो ठीक समझे, हमारे साथ करे। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि एक विश्वास की विनीत और प्रत्यक्ष भावना के साथ आत्मसमपर्ण का सरल और तपस्यापूर्ण विशुद्ध सज्बन्ध स्थापित किया जाए। इसमें भक्ति के अनुशासन की तीव्रता की अपेक्षा आत्मसमर्पण की पूर्णता में वास्तविक धर्मनिष्ठा मानी गई है। हम स्वयं को अपनी आत्मा से रिक्त कर देते हैं और तब परमात्मा हम पर अधिकार कर लेता है। इस परमात्मा द्वारा अधिकार किए जाने के रास्ते में बाधाएं हमारे अपने गुण, अभिमान, ज्ञान, हमारी सूक्ष्म मांगें और हमारी अचेतन मान्यताएं और संस्कार है। हमें अपने-आपको सब इच्छाओं से रिक्त करना होगा और परम सत्ता में विश्वास रखते हुए प्रतीक्षा करनी होगी। परमात्मा की व्यवस्था में ठीक जमने के लिए हमें अपने सब दावों को त्याग देना होगा। भक्ति और पराभक्ति के मध्य का अन्तर वानर-पद्धति (मर्कटकिशोर न्याय) और बिड़ाल-पद्धति (मार्जारकिशोर न्याय) के प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया गया है। बन्दर का बच्चा अपनी मां से चिपट जाता है और इस प्रकार बचा रहता है। इसमें बच्चे की ओर से भी थोड़े से प्रयत्न की आवश्यकता होती है। बिल्ली अपने बच्चे को मुंह से उठाकर ले जाती है, बच्चा अपनी सुरक्षा के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करता। भक्ति में परमात्मा की दया किसी सीमा तक यत्न द्वारा प्राप्त की जाती है, पराभक्ति में यह मुक्त रूप से

प्रदान की जाती है। पराभक्ति में इस बात का कोई विचार नहीं रहता कि व्यक्ति दया पाने का पात्र है या नहीं, या उसने कितनी सेवा की है। इस दृष्टिकोण का समर्थन प्राचीनतर परज़्परा में प्राप्त होता है, जब यह परमात्मा स्वयं चुनता है, तभी यह उसके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और उसी को वह अपना रूप दिखाता है।[40] अर्जुन को बताया जाता है कि उसके सज़्मुख दिव्य रूप भगवान् की दया से ही प्रकट हुआ था।[41] फिर यह कहा गया है कि ''मुझसे ही स्मृति और ज्ञान उत्पन्न होते हैं और उनका क्षय भी मुझसे ही होता है।[42] पतित प्राणी के रूप में मनुष्य का उद्धार केवल भगवान् की दया से हो सकता है या मनुष्य स्वयं भी कुछ कर सकता है और अपनी मुक्ति के प्रयत्न में कुछ योग दे सकता है।

''**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसिमे**''[43] में भगवान् कहते हैं कि मेरा भक्त होने से मेरे मन वाला होने से मेरा पूजन करने वाला होने से तथा मुझे नमस्कार करने वाला होने से ही तू मुझे प्राप्त होगा अर्थात् मुझमें ही निवास करेगा। जीव मात्र भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। केवल जीव ही भगवान् से विमुख होकर प्रतिक्षण वियुक्त होने वाले संसार (धन-सज़्पत्ति, कुटुज़्बी, शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, प्राण आदि) को अपना मानने लगता है, जबकि संसार ने कभी जीव को अपना नहीं माना है। जीव ही प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले संसार से स्वयं को नित्य जोड़ता है। इस सज़्बन्ध का त्याग करके, जिनसे वास्तविक और नित्य सज़्बन्ध है, उन भगवान् की शरण में जाना चाहिए। ''**तमेव शरणंगच्छ।**''[44]

स्वयं भगवान् के शरणागत हो जाना ''**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**''[45] यह सज़्पूर्ण साधनों का सार है। इसमें शरणागत भक्त को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री घर, कुटुज़्ब, वस्तु, पुत्र-पुत्री और अपने कहलाने वाले शरीर को भी अपना नहीं मानती, प्रत्युत पति देव का ही मानकर पतिपरायण होकर पति के गोत्र में ही अपना गोत्र मिला देती है, पति के ही घर पर रहती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त भी शरीर को लेकर माने जाने वाले गोत्र, जाति, नाम आदि को भगवान् के चरणों में समर्पित करके निश्चिन्त, निर्भय, नि:शोक और नि:शंक हो जाता है।

भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण में भी मनुष्य का प्रयत्न रहता ही है। यह आत्मसमर्पण संकल्पहीन या प्रयत्नहीन नहीं हो सकता। दया के सिद्धान्त की व्याज़्या विशेष चुनाव के रूप में नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकार की धारणा गीता के इस सामान्य मत से उल्टी पड़ती है कि ''**सब प्राणियों में भगवान् वही एक है।**''[46]

श्रद्धा भक्ति का आधार है। इसलिए जिन देवताओं में लोगों की श्रद्धा है, उन सबको सहन कर लिया गया है। बिल्कुल प्रेम न होने से कुछ प्रेम होना अच्छा है, क्योंकि यदि हम प्रेम नहीं करते, तो हम अपने-आप में ही रूद्ध हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, निज़तर देवताओं को एक भगवान् के ही रूपों में स्वीकार किया गया है। इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि जब कि अन्य भक्त लोग अन्य लक्ष्यों तक पहुंचते हैं, केवल वह, जो भगवान् का भक्त होता है, परम आनन्द को प्राप्त करता है। जहां तक पूजा भक्ति के साथ की जाती है, वह हृदय को पवित्र करती है और मन को उच्चतर चेतना के लिए तैयार करती है। हर कोई भगवान् की मूर्ति अपनी इच्छाओं के अनुरूप ढाल लेता है। मरते हुए व्यक्ति के लिए परमात्मा शाश्वत जीवन है, जो लोग अन्धकार में भटक रहे हैं उनके लिए वह प्रकाश है। जिस प्रकार क्षितिज सदा हमारी आंखों के बराबर ऊंचाई पर ही रहता है, चाहे हम कितना ही ऊंचा क्यों न चढ़ते चले जाएं, उसी प्रकार परमात्मा का स्वभाव भी हमारी अपनी चेतना के स्तर से ऊंचा नहीं हो सकता। निज़तर स्थितियों में हम धन और जीवन के लिए प्रार्थना करते हैं, और भगवान् को भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाला माना जाता है। बाद में चलकर चिन्तन में हम अपने-आपको सत्प्रयोजनों के साथ, जो भगवान् के प्रयोजन हैं, एकात्म करते हैं। उच्चतम स्थितियों में परमात्मा एक अन्तिम सन्तुष्टि बन जाता है, वह अपर जो मानव आत्मा को पूर्ण कर देता है और भर देता है।

स्तुति और भक्ति

स्तुति और भक्ति में साधन साध्य भाव सज़्बन्ध है। उपास्य के गुण, महिमा गायन से उनके प्रति स्तोता की भक्ति दृढ़ हो जाती है, तो कभी उपास्य के विविध गुणों के प्रति, महान् कार्यों के कारण आश्चर्य, श्रद्धा, भय तो कभी उपकृत किए जाने पर भी भक्ति का उद्रेक हो जाता है। यदुनाथ श्रीकृष्ण के द्वारा बार-बार अपने वंशधरों पर उपकार किए जाने के कारण कुन्ती की भक्ति अचल हो जाती है, श्रीकृष्ण चरणों में उसकी निष्ठा अविचल हो जाती है-

विमोचिताहं च सहात्मजाविभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्।[47]

और

त्वयि में अनन्य विषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गंगेवौघमुदन्वति।।[48]

स्तुति से भक्ति पूर्ण हो जाती है और कभी भक्ति रस से सराबोर होने पर भक्त अपने उपास्य की महिमा का स्तुति के माध्यम से विज्ञप्ति करता है। भक्ति रस से सरावोर होने पर अनायास ही उसकी वाग्धारा स्फूर्त होने लगती है और वही वाग्धारा स्तुति संज्ञा से अभिहित होती है। भक्तराज हनुमान अन्य किन्नरों सहित भगवान् की भक्ति से विगलित होकर उनकी स्तुति करते हैं–

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।

प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये।।[49]

जल में भगवान् की मनोरम झांकी निरखकर भक्तराज अक्रूरजी का हृदय परमानन्द से लबालब भर गया। उन्हें परम भक्ति प्राप्त हो गयी, उनका हृदय प्रेमरस से सराबोर हो गया। हृदय की वीणा मधुर स्वरों में शब्द के माध्यम से झंकृत हो गयी, स्तुति की निर्मल सरिता बह चली–

नतोऽस्म्यहं त्वाखिल हेतुहेतुं नारायणं पुरुषमाद्यमव्ययम्।

यन्नाभिजातदरविन्दकोशात् ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः।।[50]

महाप्रस्थानिक वेला में महाभागवत भीष्म भक्तिभावित चित से प्रभु की स्तुति करते हैं। प्रभु की अलौकिक, त्रिभुवनकमनीय रूप सौन्दर्य को निहारकर पितामह शल्यजनित कष्ट से पूर्णतः स्वस्थ हो जाते हैं और विधूत–भेद मोह होकर जन्म–जन्मान्तर के आराध्य प्रभु श्रीकृष्ण के चरणों में शाश्वती गति को प्राप्त कर लेते है।

भगवद्गुण कथा, महिमा आदि रूप स्तुति के गायन या श्रवण से अचला भक्ति उत्पन्न होती है। स्तुति करते–करते पितामह भीष्म निश्चला भक्ति को एवं कुन्ती अखण्डात्मिका रति को प्राप्त करती है।[51] मैत्रेय द्वारा भगवान् के विविध लीला गुणों एवं ऐश्वर्य विभूतियों का वर्णन सुनकर भक्त–राज विदुर प्रेम मग्न हो गए तथा भक्तिभाव का उद्रेक होने से उनके आंखों से आंसुओं की धारा बह चली।[52] कुशल वक्ता निरोगी शुकदेव से कथा का श्रवण करने से परीक्षित को अचल भक्ति की प्राप्ति हुई, फलस्वरूप सर्पदंश के पहले ही ब्रह्ममय हो गए–

ब्रह्मभूतो महायोगी निस्सङ्गश्छिन्नसंशयः।[53]

भक्ति और ज्ञान वैराग्य

भक्ति और ज्ञान वैराग्य का जनक जन्यभाव सम्बन्ध है। भक्ति ज्ञान वैराग्य की जनयित्री शक्ति है। भागवत महात्म्य में भक्ति को ज्ञान वैराग्य की माता कहा गया है।[54] भक्ति हृदयस्थ अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर भक्त हृदय में आत्मज्ञान और संसार के प्रति वैराग्य–उत्पन्न करती

है। ज्ञान वैराग्ययुक्त जीव ब्रह्मदर्शन को प्राप्त करता है।[55] भक्ति के द्वारा तदाकार रूप ज्ञान की प्राप्ति होती है।[56] एकाग्र मन से भगवान में भक्ति करने पर ज्ञान और वैराग्य की उत्पत्ति होती है।[57] भक्तिजन्यज्ञान वैराग्य संयुक्त भक्त हेयोपादेय बुद्धि का परित्याग कर समदर्शन हो जाता है।[58] ज्ञान कर्म और भक्ति को छोड़कर जीव मात्र के लिए और कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं है।[59] भक्ति के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण में चरणरति, विरक्ति तथा भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है।[60]

भक्ति और मुक्ति

मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है, जिसके द्वारा जीव दुस्तर माया का संतरण कर मुक्ति प्राप्त करता है। भक्ति के अतिरिक्त[61] मुक्तिप्रापणार्थ अन्य कोई सुलभ मार्ग नहीं है। जो भगवान् अखिलानंद में दृढ़ाभक्ति करते है वे संगदोष रहित हो जाते हैं।[62] सांज्याचार्य कपिल अपनी माता देवहूति के प्रति उपदेश देते हैं-''जिसका मन भगवान् वसुदेव में एकाग्र रूप से रमण करता है तो भगवान् की अनिमिश्रा भक्ति की प्राप्ति होती है जो सिद्धि से भी श्रेष्ठ है।[63]

भक्ति का लक्ष्य

भगवान् सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही भक्ति के परम लक्ष्य हैं। एकांत भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। भक्ति आत्मविद्गतिदात्री है। भागवत भक्तों की यदि क्षणार्ध मात्र भी संगति हो जाती है तो वह संगति स्वर्ग, अपुनर्भव से भी श्रेष्ठ है, मर्त्यलोक के भोगों का तो कहना ही क्या। सभी कामनाओं को छोड़कर भागवत भक्त भगवान् वासुदेव का ही चरणरज प्राप्त करना चाहते हैं। भक्त जन वैसा कुछ भी नहीं चाहते जहां पर भगवच्चरणाज्ञुजासव की प्राप्ति न हो।[64] जैसे अजातपक्ष पक्षीशावक पक्षी को, सद्यः प्रसूत क्षुधार्त वत्स अपनी माता (गाय) को तथा प्रिय अपने प्रियतम को पाने के लिए लालायित रहता है उसी प्रकार भक्त भी अरविंदाक्ष को ही प्राप्त करना चाहता है।[65]

भक्ति द्वारा भक्त देहादि की उपाधि से निवृत्त होकर प्रत्यगात्मा में स्थिर हो जाता है।[66] भक्त विधूत भेदमोह होकर भगवान् स्वरूप ही हो जाता है।[67] भगवान् के निर्मल यश के संकीर्तन से उत्पन्न भक्ति द्वारा चित्तस्थित तमोगुण एवं रजोगुण का विनाश हो जाता है और तब भक्त परमानंद को प्राप्त करता है।

सांसारिक कामनाओं, भोग विलास ऐश्वर्य-विभूति, मोक्ष इत्यादि के स्थान पर विपत्ति की ही कामना करता है, क्योंकि विपत्तियों में प्रभु बार-बार दर्शन देते है।[68]

इस प्रकार भक्ति के परम लक्ष्य भगवान् ही होते हैं जिन्हें भक्तजन अपना सांसारिक पारमार्थिक सब कुछ त्याग कर सर्वात्मना प्राप्त करना चाहते हैं। भक्ति केवलानंद स्वरूपा है- जब भक्त हृदय में भक्ति उपचित होती है, उसके उपास्य के गुण, लीला के प्रति अखंडात्मिक रति उत्पन्न होती है, तब भक्त अतिशयानन्द के सागर में निमज्जित हो जाता है। उस अवस्था में आनन्द को छोड़कर और कोई पदार्थ नहीं रहता। वह प्रेमी भक्त उस महान् वस्तु को पा लेता है, जिसके पाने पर सारी इच्छाएं नष्ट हो जाती है, वह अमृत के समुद्र में क्रीडा करता है-

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः।।[69]

भगवान् चक्रपाणि के विविध लीला गुणों को सुनकर भक्त कभी हंसता है, कभी रोता है तो कभी नाचने लगता है। बाह्य व्यवहार से रहित कभी आनंद से परिपूर्ण होकर चुप हो जाता है। गीता में भक्ति बौद्धिक प्रेम नहीं है, जो कि अपेक्षाकृत अधिक चिन्तानात्मक और मननात्मक होता है। यह ज्ञान के आधार पर टिकी है, परन्तु स्वयं ज्ञान नहीं है। इसमें योग पद्धति का कोई निर्देश निहित नहीं है और न भगवान् का आनुमानिक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ही निहित है। शांडिल्य ने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यह भक्ति हमें ज्ञान के बिना भी आत्मिक शान्ति प्रदान करती है, जैसे गोपियों को प्राप्त हुई थी। भक्त में एक अतिशय विनय की भावना होती है। अपने आदर्श भगवान् की उपस्थिति में वह अपने-आपको कुछ भी नहीं समझता। परमात्मा विनम्रता से, जो कि आत्मा को पूर्ण आत्मसमर्पण है, प्रेम करता है।

गजेन्द्र मोक्ष में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का स्वरूप

गजेन्द्र मोक्ष में भगवान के भेदरहित निराकार स्वरूप का अत्यंत भक्तिभावमय वर्णन किया है। यह स्तवन बहुत ही उपादेय है। भाव के साथ स्तुति करते-करते मनुष्य तन्मय हो जाता है। गजेन्द्र कृत इस स्तवन का आर्तभाव से पाठ करने पर लौकिक-पारमार्थिक महान् संकटों और विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है और निष्काम भाव होने पर अज्ञान के बन्धन से छूटकर पुरुष भगवान् को प्राप्त हो जाता है। स्वयं भगवान् का वचन है कि 'जो रात्रि के शेष में (ब्राह्ममुहूर्त के प्रारम्भ में) जागकर इस स्तोत्र के द्वारा मेरा स्तवन करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु के समय निर्मल मति (अपनी स्मृति) प्रदान करता हूँ। और 'अन्ते मतिः सा गतिः' के अनुसार उसे निश्चय ही भगवान् की प्राप्त हो जाती है तथा इस प्रकार वह सदा के लिये जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है।

'गजेन्द्र मोक्ष' स्तवन में ईश्वर के विविध स्वरूपों का दार्शनिक विवेचन किया गया है। विपत्ति में गजेन्द्र मन को हृदय देश में स्थिर करके अपने पूर्व जन्म से सीखकर कण्ठस्थ किये हुए सर्वश्रेष्ठ एवं बार-बार दोहराने योग्य स्तोत्र का मन ही मन पाठ करने लगा। जिनके प्रवेश करने पर, जिनकी चेतना को पाकर ये जड शरीर और मन आदि भी चेतन बन जाते हैं, चेतन की भाँति व्यवहार करने लगते हैं। सञ्जूर्ण शरीर में प्रकृति एवं पुरुष रूप से प्रविष्ट हुए उन सर्व-समर्थ परमेश्वर का गजेन्द्र ने नमन किया।[70]

गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध संत्तात्मक बताया गया है। यह सञ्जूर्ण विश्व प्रपञ्च उन्हीं की माया से अध्यस्त है। कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। ईश्वर सबके मूल हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है।[71] गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को एक नट की भाँति बताया है। जिनके वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जान सकता।[72]

ईश्वर प्राप्ति के लिए समस्त आसक्तियों का परित्याग, ब्रह्मचर्य पालन तथा अलौकिक व्रतों का पालन आवश्यक माना गया है।[73] ईश्वर का कर्मवश ना तो जन्म होता है और न जिनके द्वारा अहंकार प्रेरित कर्म ही होते हैं। जिनके निर्गुण स्वरूप का न तो कोई नाम है न रूप है, फिर भी समयानुसार जगत की सृष्टि एवं प्रलय; संहार के लिये अपनी माया से स्वीकार करते हैं।[74]

गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर प्राप्ति के लिए कर्म-संन्यास और अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक मानी गई है। ईश्वर के लिए नित्यमुक्त, परमानन्द ज्ञानस्वरूप एवं कैवल्यप्रदाता आदि विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं।[75] ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों वाले स्वरूप को साधारण मनुष्यों, सत्व प्रधान देवताओं तथा ऋषियों के द्वारा भी जानना संभव नहीं है।[76]

ईश्वर सत्त्व, रज, तम-इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था को धारण करते हैं।[77] जैसे यज्ञ के काष्ठ अरणि में अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही ईश्वर ने अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढक रखा है। उन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने पर ईश्वर विविध प्रकार की सृष्टि की रचना करता है। और जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करके वेदशास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनकी आत्मा के रूप में स्वयं ईश्वर प्रकाशित हो उठते हैं।[78] जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सञ्जत्ति और स्वजनों में आसक्त हैं उनके लिए ईश्वर की प्राप्ति अत्यंत कठिन बतलाई गई हैं, क्योंकि ईश्वर स्वयं गुणों की आसक्ति से रहित है। जीव-मुक्ति पुरुष अपने हृदय में निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करते हैं[79] और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करते हैं।[80]

ईश्वर अविनाशी, सर्वशक्तिमान, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म है जो अत्यन्त निकट रहने पर जी बहुत दूर जान पड़ता है, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा प्राप्त होता है। वह ईश्वर आदि अनंत एवं परिपूर्ण है।[81] गजेन्द्र मोक्ष में ईश्वर को अनंत, सर्वैश्वर्यपूर्ण, करुणामय एवं भक्तों के कल्याण में कभी भी आलस्य न करने वाला बताया गया है।[82]

जिनकी अत्यन्त छोटी सी कला से अनेकों नाम-रूप के भेदभाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है।[83] जैसे धधकती हुई अग्नि की लपटों और प्रकाशमान सूर्य से उनकी किरणें बार-बार निकलती हैं और लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर-जो गुणों के प्रवाह रूप हैं-बार-बार प्रकट होते-रहते है तथा लीन हो जाते हैं[84] वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। सबका निषेध हो जाने पर जो कुछ शेष बचता है वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं।[85]

इस प्रकार ईश्वर का विविध प्रकार से स्मरण करते हुए हाथी ने अपने उद्धार हेतु प्रार्थना की कि मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी की योनि में बाहर-भीतर अज्ञान रूपी आवरण से ढकी हुई है। इसमें जीना व्यर्थ है। मैं इस आत्मप्रकाश को ढकने वाले उस अज्ञानरूप आवरण से मुक्त होना चाहता हूँ जो कालक्रम से स्वतः नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकता है।[86] इसलिए मैं उन परब्रह्म परमात्मा की शरण में हूँ जो विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वस्वरूप हैं। साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते है। योगी जन योग के द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफल को भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदय में जिनका साक्षात्कार करते हैं ऐसे प्रभु की मैं बारञ्बार स्तुति करता हूँ।[87]

जिसने पूर्वोक्त प्रकार से भगवान के भेदरहित निराकार स्वरूप का वर्णन किया था ऐसे उस गजराज के समीप जब ब्रह्मा आदि कोई भी देवता नहीं आये जो भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट विग्रहों को ही अपना स्वरूप मानते हैं तब साक्षात् श्री हरि, जो सबके आत्मा होने के कारण सर्वदेवस्वरूप हैं वहाँ प्रकट हो गये और गजेन्द्र के साथ ग्राह को सरोवर से शीघ्रता से निकाल लिया और चक्र से हरि ने ग्राह को मुँह फाड़ कर गजेन्द्र को मुक्त कराया।

इस प्रकार गजेन्द्र भगवान् का स्पर्श पाते ही अज्ञान के बन्धन से मुक्त हो गया। गजेन्द्र के समान भावमग्न अवस्था में गजेन्द्र कृत स्तवन का पाठ करने पर लौकिक और पारमार्थिक कष्टों और अज्ञान रूपी आवरण से मुक्ति मिलती है। जन्म-जन्मान्तरों के बंधन का नाश ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। ईश्वर भक्ति द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होने पर ही समस्त पापों से छुटकारा मिलता है तथा निर्मल बुद्धि की प्राप्ति होती है।[88]

जिनके अनन्य भक्त जो वस्तुत: एकमात्र उन भगवान के ही शरण है, धर्म, अर्थ आदि किसी भी पदार्थ को नही चाहते हुये अपितु उन्हीं के परम मंगलमय एवं अत्यन्त विलक्षण चरित्रों का गान करते हुए आनन्द के समुद्र में गोते लगाते रहते हैं। जिन्हे धर्म अभिलाषित भोग धन तथा मोक्ष की कामना से भजने वाले लोग अपनी मनचाही गति पा लेते हैं अपितु जो उन्हें अन्य प्रकार के अयाचित भोग एवं अविनाशी पार्षद शरीर भी देते हैं वे अतिशय दयालु प्रभु मुझे इस विपत्ति से सदा के लिये उबार लें।

इस प्रकार अनन्य भक्ति से भगवद् स्वरूप का ज्ञान, भगवत्प्राप्ति तथा भगवान से एकीकरण होता है। अत: भक्ति ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानु भूति में परिणत हो जाते है। परा भक्ति में भगवान और भक्त का द्वैत समाप्त हो जाता है और अखण्ड ज्ञानानन्द रूप भगवत स्वरूप में भक्त और भगवान एकाकार हो जाते हैं। गीता में भक्त चार प्रकार के कहे गये है- अर्थार्थी, आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें से ज्ञानी भक्त को भगवान ने स्वयं अपनी आत्मा से नित्य युक्त और सबसे प्रिय कहा है। भगवान श्रीकृष्ण का यह भी कथन है कि श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अत: यह श्रद्धा भक्ति का मूल है। इसी तरह गीता का यह भी कथन है कि कर्म से सत्वशुद्धि होती है, सत्व से ज्ञान होता है और ज्ञान के सतत् ध्यान से अनन्य भक्ति रूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ

1 शांडिल्य भक्ति सूत्र, 2

2 भक्ति रसायन, 1/3

3 मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्नबोधविना नैतस्वस्वप्ना हीयते यथा।। पञ्चदशी, 6/210

4 संस्कृत धातु कोष,युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 83

5 सर्वाणि नामानि आज्यातजानि। - निरूक्त, प्रथम अध्याय, पृ. 117

6 श्रीमद्भागवद्गीता, 13/10, 14/26

7 श्रीमद्भागवद्गीता, 7.5.23

8 श्रीमद्भागवत्गीता, 10.31.9

9 वही, 10.1.4

10 गौडीय कण्ठहार, पृ- 192

11 वि.भा. 2. 3.133

12 श्रीमद्भागवद्गीता, 12.3.52

13 श्रीमद्भागवद्गीता, 2.1.6

14 श्रीमद्भागवद्गीता, 2.8.6

15 श्रीमद्भागवद्गीता, 2.8.6

16 श्रीमद्भागवद्गीता, 2.8.6

17 श्रीमद्भागवद्गीता, 11.29.34

18 श्रीमद्भागवद्गीता, एकादश अध्याय, श्लोक 55

19 डॉ. राधाकृष्णन, श्रीमद्भागवद्गीता, पृ. 76

20 बालगंगाधर तिलक, गीतारहस्य, पृ. 477

21 श्रीमद्भागवद्गीता, एकादश अध्याय, श्लोक 54

22 महाभारत, शान्तिपर्व,राजधर्मानुशासनपर्व, भीष्मस्तवराज, अध्याय, 47, श्लोक 33-34

23 इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः।। महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय 149, श्लोक 132

24 पाणिनि अष्टाध्यायी, पृ. 125

25 हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 57

26 कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। - श्रीमद्भागवद्गीता, 2/47

27 ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। - श्रीमद्भागवद्गीता, 12/7

28 महाभारत, सभापर्व, 36/28,29

29 महाभारत, वनपर्व, 189/4,5,7,16

30 महाभारत, शान्तिपर्व, 43/4,5,8,10

31 श्रीमद्भागवद्गीता, 11/10,12,13

32 महाभारत, द्रोणपर्व, 201/73,74,76,78

33 श्रीमद्भागवद्गीता, 4/7

34 श्रीमद्भागवद्गीता, 11,54

35 श्रीमद्भागवद्गीता, 11,55

36 नारदभक्ति सूत्र, 54

37 सा परानुरक्तिरीश्वरे, 1,1,2
38 श्रीमद्भागवद्गीता, 12,5, 9,17—1
39 नारदसूत्र, 16.18
40 कठोपनिषद्, 2,23
41 कठोपनिषद्, 11,47
42 कठोपनिषद्, 15,15
43 श्रीमद्भागवद्गीता, 18,65
44 श्रीमद्भागवद्गीता, 18,62
45 श्रीमद्भागवद्गीता, 18.66
46 योगवशिष्ठ, 2,6,27
47 श्रीमद्भागवत महापुराण, 1.8.23
48 श्रीमद्भागवत महापुराण, 1.8.42
49 श्रीमद्भागवत महापुराण, 5.19.4
50 श्रीमद्भागवत महापुराण, 10.40.1
51 श्रीमद्भागवत महापुराण, 1.9.43, 1.8.42
52 श्रीमद्भागवत महापुराण, 4.31.28
53 श्रीमद्भागवत महापुराण, 12.6.10
54 भागवद्महात्म्य, 445
55 श्रीमद्भागवत, 3.32.23
56 श्रीमद्भागवत, 4.17.25
57 श्रीमद्भागवत, 4.29.37
58 श्रीमद्भागवत, 6.17.31
59 श्रीमद्भागवत, 11.20.6
60 श्रीमद्भागवत, 11.2.42
61 श्रीमद्भागवत, 3.25.19
62 श्रीमद्भागवत, 3.25.22,23
63 श्रीमद्भागवत, 3.25.33
64 श्रीमद्भागवत, 4.20.24
65 श्रीमद्भागवत, 6.11.26
66 श्रीमद्भागवत, 5.1.27
67 श्रीमद्भागवत, 1.9.42
68 श्रीमद्भागवत, 1.8.25
69 श्रीमद्भागवत महापुराण, 6.12.22
70 ऊँ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२

71 यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ४

72 न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ६

73 दिदृक्षवो यस्य पदं सुमंगलम विमुक्त सङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ७

74 न विद्यते यस्य न जन्म कर्म वा न नाम रूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसमभवाय यः स्वमायया तान्यनुकालकमृच्छति ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ८

75 नम आत्म प्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥
सत्त्वेन प्रतिलज्याय नैष्कर्ज्येण विपश्चिता ।
नमः केवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक १०, ११

76 न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥– – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ६

77 नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुण धर्मिणे ।
निर्विशेषाय साज्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ – श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.१२

78 गुणारणिच्छन्न चिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जित मानसाय।
नैष्कर्ज्यभावेन विवर्जितागम स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि॥
– श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.१६

79 आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥
– श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.१८

80 यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
– श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.१९

81 तमक्षरं ब्रह्म परं परेश मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगज्यम।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥
– श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२१

82 मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।

स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ -- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, श्लोक ३.१७

83 यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्व्या च कलया कृताः॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२२

84 यथार्चिषोग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२३

85 स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यंग न स्त्री न षण्ढो न पुमान न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन निषेधशेषो जयतादशेषः ॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२४

86 जिजीविषे नाहमिहामुया कि मन्तर्बहिश्चवृतयेभयोन्या।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम ॥
- श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२५

87 सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वम् विश्ववेदसम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥
योगरन्धित कर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्ज़्यहम् ॥ - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, ३.२६,२७

88 उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलम्।।
ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषा प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम्।। - श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम् स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, श्लोक २४-२५

चतुर्थ अध्याय

स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से पंचरत्नों का मूल्यांकन

स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से महाभारत के पंचरत्न भारतीय साहित्य के ही नहीं, विश्व साहित्य के एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता, लोकप्रियता आदि की दृष्टि से यह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। एक लाख श्लोकों की संज्या के कारण यह शतसाहस्त्री संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। आकार की विशालता और विषयों के महत्त्व दोनों ने इसे 'महाभारत' का नाम दिया। लगभग दो हजार वर्ष से भारतीय जनता इसे वेद के समान पवित्र और धर्मशास्त्रों के समान प्रामाणिक मानती रही है। आकार की विशालता भी उसके गौरव का एक कारण है। विषयों की महत्ता इस विशालता को अधिक गौरवपूर्ण बना देती है। महाभारत के पात्र भारतीय जनता के लिए जीवन के अमर नायक बन गये हैं। अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि को तो भौतिक दृष्टि से अमर माना जाता है। किन्तु भौतिक दृष्टि से अमर न होते हुए भी भीष्म, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि भारतीय जनमानस में अमर है। वे कुछ आदर्शों एवं प्रवृत्तियों के प्रतीकों के रूप में भी अमर है, किन्तु इसके अतिरिक्त वे इतिहास के जीवन्त पात्रों के रूप में भी भारतीय समाज के सजीव अंग बन गये हैं। भारतीय समाज में वे सदा चर्चा के सजीव विषय रहते हैं और जनमानस की कल्पना में आज भी मानों महाभारत की घटनायें वर्तमान के समान प्रत्यक्ष और सजीव प्रतीत होती है। घटना और पात्रों की शाश्वत सजीवता के अतिरिक्त उन पात्रों के चरित्र भारतीय आचार के आदर्श बन गये हैं। भीष्म का ब्रह्मचर्य और त्याग, युधिष्ठिर का सत्य, द्रौपदी का पातिव्रत, पाण्डवों का बन्धुभाव आदि भारतीय समाज के आदर्श हैं।

साहित्य वस्तुतः वाङ्मय के विशेष रूप में शब्द तथा अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है-'**सहितयोः भावः साहित्यम्**' अर्थात् शब्द और अर्थ का भाव। महाकवि भर्तृहरि का साहित्य से तात्पर्य उन सुकुमार काव्यों से है, जिनमें शब्द एवं अर्थ का समानानुरूप सन्निवेश है, जहाँ शास्त्र में अर्थ-प्रतीति के लिये ही शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों समान ही श्रेणी के होते हैं। एक दूसरे से न घटकर होता है और न बढ़कर ही -

'पञ्चमी साहित्य-विद्येति यायावरीयः।
सा हि च तिसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः।।'[1]

मानव जीवन के यथार्थ तथा आदर्श का समन्वित एवं संतुलित स्वरूप व्यक्त करने वाले इस अद्वितीय बोध-साधन को उपयोगी साहित्य की संज्ञा ठीक ही दी जाती है। आदर्श-वातावरण के साथ जीवन के यथार्थ का चित्रण ही सत्साहित्य का उद्देश्य है।

The purpose of the literature was the creation of an indealised atmosphere of idealised and objective reality."[2] इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य समष्टि रूप से '**सत्यं, शिवं, सुन्दरम्**' की समुन्नत भावना को समाहित किए सदुद्देश्य पूर्ण होने से सत्साहित्य की कोटि में आता है।

महाभारत के पंचरत्नों में श्रीमद्भगवद्गीता में भी भक्ति योग का वर्णन स्वयं कृष्ण के द्वारा किया गया है। अनुगीता में भी छोटे-छोटे उपाज़्यानों के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति व कर्म का महत्त्व बताया है। भीष्मस्तवराज में भी पितामह भीष्म के द्वारा भगवान कृष्ण की स्तुति की गई है। विष्णुसहस्रनाम में भगवान विष्णु के एक हजार नामों का स्मरण किया गया है। गजेन्द्रमोक्ष में गज के द्वारा विष्णु के नाम का स्मरण किया गया है। संसार के समस्त प्राणियों में मानव सर्वोत्तम माना गया है। 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' महाभारतकार महर्षि वेदव्यास की यह उक्ति इसी आशय को व्यक्त करती है। मानव की सर्वोत्तमता का आधार उसकी मननशीलता या चिन्तन का वैशिष्ट्य है जो अन्य प्राणियों में प्राप्त नहीं होता। अपनी इसी मननशीलता स्वाभाविक वृत्ति के कारण मानव में चिरकाल से यह अभीप्सा और जिज्ञासा रही है कि उसका जीवन शान्तिमय, सुखमय और श्रेयोमय हो। इसी दिशा में यह सतत गवेषणाशील रहा, जिसका परिणाम ज्ञान और साधना की अनेक विधाओं के रूप में प्रस्फुटित हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता में व्याज़्यात कर्मयोग, सांज़्योग-ज्ञानयोग तथा भक्तियोग के पथ इसी के परिचायक है। गीताकार ने इन तीनों का ही अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्व प्रकट किया है, किन्तु अन्ततः उन्होंने भक्तियोग अथवा भक्तिमूलक साधना को ही सर्वोपरि बताया है। भक्ति का उद्गम हृदय के उत्सर्ग से होता है। वह श्रद्धा और भावना से अनुस्यूत होती है। इसलिए संकल्प-विकल्प, शंका-आशंका के रूप में वहां कोई विचलन उपस्थित नहीं होता। यही कारण है कि ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग में विश्वास करने वाले आचार्यों, मनीषियों और साधकों ने भी भक्ति को बड़ा महत्त्व दिया है।

यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता कर्म-सिद्धान्त में अटूट विश्वास रखती है, किन्तु साथ ही साथ उसमें भक्तिमूलक साधना का भी अत्यधिक विस्तार हुआ, क्योंकि वह कर्मसिद्धान्त को ऐसा परिष्कार देती है जिससे प्रवृत्ति क्रमशः सत्प्रवृत्ति और अन्ततः निवृत्ति में परिणत हो जाती है।

स्तोत्र-रचना -भारतीय परम्परा में भक्ति-दर्शन अथवा भक्तिमूलक साधना के अन्तर्गत स्तोत्र-साहित्य का विपुल मात्रा में सृजन और संप्रसार हुआ। आराध्य, आराधक और आराधना की त्रिपदी को स्तोत्रात्मक रचनाओं ने ऐसा ऐक्य प्रदान किया, जिससे साधना को अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचने का सुयोग प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'स्तोत्र-साहित्य', भारतीय साहित्य का हृदय है। सभी धर्मानुयायियों ने भगवान् के चरणों में स्तुति-स्तोत्रों के पुष्प बिखेरे हैं। बौद्धों ने बुद्ध भगवान की, जैनों ने अर्हत् परमात्मा की तथा वैदिकों ने विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, गणपति आदि परब्रह्मा के परमेश्वर के अनेक रूपों की और इतर श्रद्धालुओं ने अपने-अपने इष्ट देवों की कोमल एवं ललित पदावली में स्तुति कर श्रद्धा के सुमन अर्पित किये हैं।

स्तोत्र का आशय -अमरकोष में स्तव, स्तुति, नुति आदि का प्रयोग स्तोत्र के पर्याय रूप में किया गया है।[3] 'स्तुति' शब्द 'ष्टुञ' (स्तु) स्तुतौ धातु से ष्ट्रन प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'स्तु' में 'अप्' प्रत्यय से 'स्तव' एवं 'णू स्तवने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर 'नुति' शब्द बना है। 'स्तोत्र' शब्द स्तुञ्+क्तिन् से बना है। शब्दकोष के अनुसार 'प्रशंसाकारक सूक्त अथवा गुण कीर्तन 'स्तुति' है।[4]

स्तोत्र अथवा स्तुति इष्टदेव के प्रति सर्वतोभावेनसमर्पण ज्ञापन अथवा आत्म-निवेदन का रूप है। इस बीच बहती हुई स्तोत्र-स्रोतस्विनी में स्तोतव्य के प्रशंसनीय गुणों का आख्यान ही स्तोत्र का रूप ले लेता है।[5] स्तोत्र स्तोतव्य आराध्यदेव के स्तुति करने योग्य गुणों का संकीर्त्तन है। **'प्रगीतमंत्रसाध्यं स्तोत्रम्'** किसी देवता का छन्दोबद्ध स्वरूपकथन या गुणकीर्त्तन स्तवन स्तोत्र कहलाता है।[6]

वस्तुतः स्तोत्र का आशय गुणमहिमा या गुणोत्कीर्त्तन है। आराध्य देव की स्तुति का संग्रह ही स्तोत्र कहलाता है। प्रधान रूप से स्तोत्र में गुण-गान एवं प्रार्थनाएँ रहती हैं।[7] यद्यपि स्तव, स्तुति आदि शब्द स्तोत्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं अथवा होते हैं तथापि इनमें आंशिक अन्तर देखा जाता है।

स्तुति और स्तोत्र में अन्तर -हिन्दी साहित्य कोष में 'स्तोत्र और स्तुति में अन्तर प्रदर्शित करते हुए स्तुति को स्तोत्रका लोकगीतात्मक रूप कहा है। स्तोत्र में जहाँ आराध्य विशेष की प्रशंसा और विरुदावलियाँ रहती हैं, वहाँ स्तुति गीत में इनके अतिरिक्त साधक-आराधक की दयनीयता, हीनता के प्रदर्शन द्वारा विशेष अनुकज़्पा के लिए प्रार्थना रहती है। अर्थात् स्तोत्र में आराध्य के रूप, गुण, और ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन रहता है। स्तुति गीत में प्रभु के रूप, गुण और ऐश्वर्य के साथ कृतित्व और कर्तृत्व का सविस्तार वर्णन, आत्म दैन्य कथन रहता है।[8]

स्तुति, स्तोत्र, स्तव आदि के भेदों की जो कल्पना की गई है, वह केवल व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर है। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा भेद से उनका भेद करना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता। भाषा तो केवल भावों की वाहिका है। स्तुत्यातमक या स्तवनात्मक अथवा स्तोत्रात्मक रचनाओं में भाषा का महत्त्व नहीं है, भावों का महत्त्व है। भाव जहाँ समर्पण, आत्मनिवेदन और आत्म-साक्षात्कार की भूमिका में जितने उच्च होंगे, स्तवनात्मकता उतने ही उत्कर्ष पर पहुँचेगी। आराध्य और आराधक का आराधना या स्तवना के माध्यम से उतना ही अधिक समीप्य फलित होगा। फलों की संज़्यात्मकता के आधार पर भेद परिकल्पना की भी कोई महत्ता प्रतीत नहीं होती।

स्तवन या स्तुति का आधार स्तोता है। स्तोताओं की अपनी-अपनी कोटियाँ होती हैं। उनमें चिन्तनशील विद्वान् भी होते हैं, प्रतिभाशाली शब्द-शिल्पी भी होते हैं और भक्ति भावानुभावित साधारण जन भी होते हैं। विशिष्ट विद्वज्जन रचित स्तवन भक्ति भाव के साथ तात्विक छटा लिए रहते हैं। कवि हृदय स्तोता की वाणी में उर्वर कल्पनामय भावना की सरिता संप्रवाहित होती है। साधारण आत्मनिवेदन प्रस्तुत करते हैं, वहाँ लोकसंस्कृति और लोकगीतात्मकता की विधाएँ जुड़ जाती हैं। मूलत: संस्तवनमूलक सभी शीर्षकों का भाव एक ही है, केवल व्यवहर्तृ भेद से बहिर्गत या कलेवरात्मक भिन्नता प्रतीत होती है।

स्तोत्र के प्रकार - मत्स्यपुराण में स्तोत्र के चार भेद किये हैं[9]-१. द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, ३. विधिस्तोत्र, ४. अभिजन स्तोत्र। आराध्य के द्रव्यात्मक स्वरूप-अंग, प्रत्यंग, परिवेश, तद्गृहीत उपादान-द्रव्य विशेष, साधन विशेष इत्यादि के माध्यम से उनकी स्तुति करना द्रव्यस्तोत्र है। कर्मस्तोत्रों में आराध्य के पुरुषार्थ, शौर्य, अलौकिक एवं लोककल्याणकारी कार्यों का वर्णन होता है। विधिस्तोत्र वे हैं जिनमें आराध्य की स्तुति के साथ-साथ आराधक के भक्तिमूलक कर्त्तव्यों की अभिव्यंजना होती है। इनके अतिरिक्त शेष सब अभिजन स्तोत्र कहलाते हैं।

डॉ. रुदद्रेव त्रिपाठी ने 'भक्तामर स्तोत्र की विविध पक्षीय दिव्यता' नामक अपने लेख में छः प्रकार के स्तोत्र की चर्चा की है। यथा- १. नमस्कारात्मक, २. आशीर्वादात्मक, ३. सिद्धान्त प्रतिपादनात्मक, ४. पराक्रम वर्णनात्मक, ५. विभूति स्मरणात्मक एवं ६. प्रार्थनामूलक।[10]

स्तोत्र के तीन भेद ये भी हैं- १. आराधना, २. अर्चना, ३. प्रार्थना। जिसमें आराध्य के रूप, गुण और ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन हो, वह आराधना स्तोत्र है। भाव-भक्ति मूलक द्रव्य पूजा के प्रकारों द्वारा ईश्वर के कर्त्तव्य और कृत्तित्व का जिसमें विश्लेषण हो, वह अर्चना-स्तोत्र तथा आराध्यविषयक प्रशंसा, प्रार्थी की दयनीयता और हीनता के प्रदर्शन के साथ अनुकज़्या प्राप्ति के लिए कहे गये वचनों का जिसमें संग्रह हो, वह प्रार्थना-स्तोत्र कहलाता है।

परमात्मा के अनन्त नामों के आधार पर भी स्तोत्रों की रचना की गई है। यथा- सहस्रनाम, अष्टोत्तरशतनाम्, नामाक्षरस्तोत्र आदि। ये सभी स्तोत्र की ही श्रेणी में आते हैं। अष्टक आदि संज़्याओं तथा अकारादि वर्णों के आधार पर छन्द, उत्सव, धर्म, अनुग्रह, निग्रह, विनय, काल, क्रिया और किसी अन्य विषय विशेष के आधार पर निर्मित होने से स्तोत्र अनेक प्रकारों में उपलब्ध होते हैं।

मंत्र, तंत्र और स्तोत्र : एक विवेचन

मंत्र - आराधक की कामना स्तुत्य में विद्यमान गुणों को आत्मसात् करने की होती है। इसके लिए वह आराध्य के गुणों का निरन्तर मनन करता है। यह मनन प्रक्रिया ही 'मंत्र' कहलाती है। १. जो अंतर से रहे सो मंतर २. जिससे मन तर जाय सो मंतर।

'मंत्र' शब्द का पूर्वार्द्ध 'मन्' मन अथवा मनन से सज़्बद्ध है और उत्तरार्द्ध 'त्र' का अर्थ है 'त्राण'। निरुक्तकार यास्कमुनि ने कहा है कि '**मंत्रो मननात्**' अर्थात् मंत्र का प्रयोग मनन के कारण हुआ है अर्थात् जिन वाक्य, पद अथवा वर्णों का बार-बार मनन किया जाता है और वैसा करने से जो इच्छित कार्य की पूर्ति करते हैं वे मंत्र कहलाते हैं।

वेदवाक्य बार-बार मनन करने योग्य होने से वे पद एवं वाक्य मंत्र कहलाये। बौद्ध धर्म की 'त्रिशारण पद' रचना भी इसी दृष्टि से उत्कृष्ट मंत्र के रूप में जानी जाती है। जैन धर्म के 'पंचमंगल' सूत्र ने इसी कारण महामंत्र नवकार का रूप ग्रहण कर लिया।

'मंत्र' की शास्त्रीय परिभाषा है- '**मननात् त्रायते इति मंत्र**' जिसका मनन-चिन्तन करने से सभी संकटों से रक्षा हो, वह मंत्र है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'मंत्र' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ लेकर उसके तीन लक्षण दिये हैं-

१. मंत्र शब्द 'मन्' धातु (दिवादि गुण) से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होता है- **'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मंत्रः'** अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा-निजानुभव जाना जाये, वह मंत्र है।

२. तनादि गणीय 'मन्' धातु से (तनादि अवबोधे) ष्ट्रन्, प्रत्यय लगाकर मंत्र शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार - **'मन्यते विचार्यते आत्मादेशे येन स मंत्रः'** अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाय, वह मंत्र है।

३. सज्ञानार्थक 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर मंत्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्ति जनित अर्थ है- **'मन्यते सत्क्रियते परमपदे स्थिताः आत्मानः वा यक्षादिशासन देवता अनेन इति मंत्रः।'** अर्थात् जिसके द्वारा परम पद में स्थित उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवताओं का सत्कार (मान्यता) किया जाय वह मंत्र है।[11]

तंत्र - मंत्र के साथ-साथ तंत्र भी जुडे हैं। मंत्र जिस अधिष्ठात्री शक्ति के नाम हैं 'तंत्र' उसी के रूप में हैं। मंत्र का जप और यंत्र की पूजा जिस विधि से होती है- वह तंत्र है। इस प्रक्रिया से वांछित शक्ति का आयत्तीकरण होता है। श्री शुकदेव चतुर्वेदी 'मंत्र महोदधि' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं - 'मंत्र, तंत्र एवं यंत्र तात्त्विक रूप से भिन्न वस्तु नहीं हैं, अपितु एक ही सत्य के तीन प्रकार हैं या एक ही शक्ति के तीन रूप हैं। व्यक्ति की शक्ति को उद्दीप्त कर उसमें गुरुत्तर शक्ति का संचार करने वाला गूढ़ रहस्य मंत्र कहलाता है। मंत्र का चित्रात्मक रूप यंत्र तथा क्रियात्मक रूप तंत्र है, अर्थात् मंत्र के जौतिक साधनों द्वारा स्थूल-पदार्थों की प्राप्ति का प्रकार तंत्र है।' 'तंत्र' शब्द 'तन्' और 'त्रा' धातुओं से बना है, अतः विस्तार-पूर्वक तत्त्व को अपने अधीन करना, यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से स्पष्ट होता है, जबकि 'तत्' पद से प्रकृति और परमात्मा तथा 'त्र' से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर 'तंत्र' का अर्थ-देवताओं के पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाना होता है तथा परमेश्वर की उपासना के लिए जो उपयोगी साधन हैं वे भी 'तंत्र' कहलाते हैं।[12] इन्हीं के अर्थों को ध्यान में रखकर शास्त्रकारों ने तंत्र की परिभाषा दी है-

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनान्।

इति तंत्रस्य तन्त्रत्वं तंत्रज्ञाः परिचक्षते।।

अर्थात् जिसके द्वारा सभी मन्त्रार्थों–अनुष्ठानों का विस्तार–पूर्वक विचार ज्ञात हो तथा जिसके अनुसार कर्म करने पर लोगों की भय से रक्षा हो वही 'तंत्र' है, तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञों का यही कथन है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि तंत्र एक स्वतंत्र शास्त्र है, जो पूजा और आचार–पद्धति का परिचय देते हुए इच्छित तत्त्वों को अपने अधीन बनाने का मार्ग दिखलाता है।

संक्षेप में सरलतम शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनेक बीजाक्षरों का समूह मंत्र है और इसके मूल में मननात्मकता है। मननपूर्वक आविष्कृत संक्षिप्ततम अक्षर समवाय मंत्र का रूप ले लेता है, जब मननशील विशिष्ट साधक की जागृत अनुभूति संकलित शक्ति उसके साथ जुड़ जाती है। इसलिए मंत्र का व्याज़्यात्मक विश्लेषण नहीं होता उसका स्मरण, मनन, जप ही होता है।

स्तोत्रों का वैशिष्ट्य

मानव–जीवन हृदय–पक्ष और बुद्धि–पक्ष पर टिका है। हृदय–पक्ष भावनामूलक है और बुद्धि–पक्ष चिन्तन, विमर्श और विश्लेषण पर आधारित है। स्तोत्रों का सज़्बन्ध हृदय–पक्ष के साथ है। इसलिए उनके अन्त:स्थल में भावों की स्रोतस्विनी सज़्रवाहित होती है। यद्यपि स्तोत्रों में स्तोताओं की वैयक्तिक अनुभूति की ही अभिव्यक्ति अधिक होती है, किन्तु स्तोत्रों में निहित समर्पण, विनय, प्रेम, स्नेह आदि भावों की प्रवणता इन्हें मानव मात्र से जोड़ देती है।

स्तोत्रों से निवेदक के चित्त की एकाग्रता की अभिव्यक्ति होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने उत्तम स्तोत्र के लक्षण की चर्चा करते हुए कहा है कि वह भगवान् के शरीर, क्रियाओं व गुणों को बताने वाला, गज़्भीर, विविध वर्णों से गुज़्फ़ित, निर्मल आशय का उत्पादक, संवेगवर्द्धक, पवित्र एवं अपने पापनिवेदनपरक चित्त को एकाग्र कर देने वाला आश्चर्यकारी अर्थयुक्त, अस्खलित आदि गुणों से युक्त, महाबुद्धिशाली कवियों द्वारा रचित हो।[13]

स्तोता एवं स्तुत्य को स्तोत्र एक सूत्र में बाँध देते हैं। जन–मानस को भावात्मक एकता से जोड़ने का कार्य भी स्तोत्रों ने किया है। इसमें श्रद्धा और गुणानुवाद की प्रधानता होती है। प्रकृति से स्पन्दित उपकृत मनुष्य के मन में एक स्फोट आता है, जिससे वह स्तुत्य को अपना आराध्य बना लेता है और अपने चुने हुए श्रद्धा के शब्द–पुष्पों से गुणानुवाद करता हुआ उन्हें अर्चना में अर्पित करता है, अत: स्तुत्य की प्रतिदिन की अर्चना आराधक की प्रतिदिन की प्रक्रिया अथवा आचरण बन जाती है।[14]

स्तोत्र में हृदय की सघन मधुर अनुभूतियाँ होती हैं जो मधुमय शब्दों में रससंचार करती हुई आराध्य के चरणों में स्वत: निवेदित हो जाती हैं। इस विषय में महोपाध्याय विनयसागर का कथन है- 'स्तोत्रों की एक और भी विशेषता है जो उन्हें साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् स्थान प्रदान करती है। स्तोत्र द्वारा भक्त हृदय स्वच्छंदतापूर्वक अपने भावों को इष्टदेव के सञ्मुख प्रस्तुत करता है। हृदय का आत्मनिवेदन ऐसी भाषा में अभिव्यक्त होता है, जिसे भाषा न जानने वाला भी किसी न किसी तरह समझ लेता है। स्तोता की भाषा विशुद्ध मानव हृदय की भाषा होती है, जिस पर बुद्धि व तज्जन्य प्रपंचों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्तोता की मधुर अनुभूतियों को स्वत: ही मधुरतम शब्द मिल जाते हैं जिसके लिए रचना-कौशल की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अनुभूति की सघनता की। पावस ऋतु में जैसे जीवनदायक मेघों की फुहार पड़ते ही बीजों में अंकुर उत्पन्न होने लगते हैं, उसी तरह सघन अनुभूतियाँ मधुरतम शब्दों में मूर्त्त होने लगती हैं। इस कार्य में किसी तरह के प्रयत्नों का कोई हाथ नहीं होता। साहित्य लोकमानस की अनुभूतियों का संचित रूप है, किन्तु लोकमानस की अनुभूतियों का सच्चा दर्शन हमें स्तोत्रों में मिलता है। उनमें स्तोता का हृदय लोकमंगल के लिए क्रन्दन करता है और उसी के लिए हँसता है। उसके हृदय कास्पंदन स्तोत्र को अनुप्राणित करता है। इसीलिए साहित्य की अन्यतम विद्या के रूप में स्तोत्रों का महत्त्व सर्वोपरि है।'[15]

यदि मानव-जीवन की क्रिया-प्रक्रियात्मक सूक्ष्मता में जाये तो यह प्रतीत होगा, उसकी दैनंदिन गतिविधि एक सुनिबद्ध कर्मभूमि के साथ जुडी है, जिसका सञ्बन्ध ऐहिक जीवन की परिपूरकता के साथ है। भोजन, आवास, परिवार आदि के परिवेश के इर्द-गिर्द उसके कार्यकलाप का संसार चलता है, किन्तु मानव को इसमें जीवन की पर्याप्तता का भाव-बोध नहीं होता। वह अपने आपमें अपूर्णता का अनुभव करता है क्योंकि अपने क्रियाकलाप, में जितना जो वह उपलब्ध कर पाता है, उससे आत्म-परितोष या शान्त विश्रान्ति प्राप्त नहीं हो पाती। वह कुछ और चाहता है, जिसके साथ अशुभ या असत् की निवृत्ति तथा शुभ या सत् की उपलब्धि संयुक्त होती है। उसके लिए उसे अपने आराध्य या इष्टदेव का अवलञ्बन, अनुग्रह आवश्यक प्रतीत होता है। मानव की इस अतिरिक्त पिपासा में- उसे आराध्य की सन्निधि में पहुँचने में स्तोत्र एक ऐसे यान या वाहन का रूप ले लेता है जिससे मानव अपनी आकांक्षा की पूर्ति में एक अनूठा सहारा प्राप्त करता है। आराध्य के संस्तवन के अतिरिक्त ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे वह अपना प्राप्य

हस्तगत कर सके, वैसा किये बिना वह सदा अपरितुष्ट बना रहता है। स्तोत्रों या स्तवनों का यह अपना असाधारण वैशिष्ट्य है।

स्तोत्र-साहित्य का उद्‌भव एवं विकास

मानव-जीवन का प्रासाद हृदय-पक्ष एवं बुद्धि-पक्ष के स्तम्भों पर अवस्थित है, उसके सभी कार्यकलापों का संचालन इन्हीं दो के आधार पर होता है। बुद्धि-पक्ष तर्कयुक्त और न्याय के आधार पर उपयोगी-अनुपयोगी का निर्णय कर गंतव्य की ओर संकेत करता है। वहाँ लाभ और अलाभ की तुला पर तोलते हुए मानव करणीय एवं अकरणीय में भेद करता है। हृदय-पक्ष भावबहुल होता है। श्रद्धा और विश्वास के भावों की चादर बुद्धि के सहारे नहीं फहराती, नहीं चलती। क्योंकि हृदय प्रसूत प्रेषणीयता का माध्यम प्रज्ञा नहीं है, नैसर्गिकभावाभिनिवेशिता है। जब मानव मन भावों की सघनता से आप्लुत होता है, ऐहिक भूमिका से ऊँचा उठ जाता है, लौकिक आश्रयों से जब उसे सारवत्ता का भान नहीं होता, तब एक अपराजेय विशिष्ट आराध्य तत्त्व, देव या इष्ट की ओर उसकी विनत अभिनत भाव राशि शब्दों के रूप में प्रस्फुटित होने लगती है, जो स्तोत्र या स्तवन का रूप ले लेती है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म का हो और किसी को भी अपना आराध्य मानता हो, स्तोत्र द्वारा अपने हृदय के भावों को उसके सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। प्राचीनतम साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद को स्तुतियों का प्रमुख एवं प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रत्येक सूक्त स्तवन या स्तोत्र है।

वैदिक संस्कृत साहित्य में स्तुति

ऋग्वेद में ऋषियों ने इन्द्र, वरुण, अग्नि, उषा आदि देवताओं के साथ प्राकृतिक शक्तियों की महत्ता अवगत कर अर्थात् प्रकृति की शक्तियों में देवत्व का दर्शन कर उनके वैशिष्ट्य की स्तुति की है।

वैदिक कवि प्रकृति के चतुर्दिक् फैले हुए राशि सौन्दर्य को विमुग्ध एवं चमत्कृत दृष्टि से देखता और आनन्द तथा कौतूहल से विभोर होता था। प्रकृति की गति और क्षण-क्षण बदलने वाले रूपों में किसी व्यापक ओर नियामक शक्ति का आह्वान करता हुआ उल्लसित होता था। वह प्रकृति के बिखेरे हुए सौन्दर्य और चैतन्य में अपने जीवन की अनुरूपता पाता और उसमें आह्लाद के साथ प्राण-प्रतिष्ठा करता था।

ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि, उषस्, मित्र आदि देवताओं का भी अनेक रूपों में आह्वान और स्तवन किया गया है। इसमें सर्वाधिक स्तुतियाँ इन्द्र को समर्पित है। इन्द्र वीर योद्धाओं को विजय प्रदान करने वाला और शत्रुओं को पर्वत की गुफाओं में खदेड़ने वाला पराक्रमशाली, बलिष्ठ और तेजस्वी देव के रूप में स्तुत्य है।[16] उक्त देवताओं से सज़्बद्ध सूक्त या स्तुतियाँ तत्कालीन मानव मस्तिष्क की उदात्त अनुभूतियों के साथ-साथ अभिव्यक्ति कौशल का भी जीता-जागता स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं।

सहज, सरल, प्रसादगुण पूर्ण इन स्तुतियों में सुकुमार और मनोहर कल्पनाएँ तो हैं ही पर कोमलकान्त पदावली में निबद्ध हृदयस्पर्शिनी भावनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि देवों की शक्तियाँ अनेक रूपों में स्तुतियों के द्वारा ऋग्वेद में वर्णित की गई हैं।

सामवेद को गेय स्तोत्रों का संकलन कह सकते हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी अनेक स्तोत्र उपलब्ध हैं। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का ४१वाँ अध्याय ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। यह स्तुति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त एक राष्ट्रीय स्तोत्र है। लौकिक दृष्टि से अथर्ववेद की स्तुतियाँ अधिक उपयोगी हैं। वैदिक काल का स्तुति-साहित्य बहुविषयक है। देवताओं की शक्ति के निरूपण के साथ संस्कृति एवं समाज सज़्बन्धी मान्यताओं का भी निरूपण किया गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है- 'सबसे सरल और प्राचीन पूजा-पद्धति प्रार्थना थी, जो सबके लिए सुलभ थी। वेदों के सूक्त और उनके मंत्र वास्तव में प्रार्थनाओं के संग्रह हैं। सूक्त, स्तुति, स्तवन, आशंसा आदि से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था और पार्थिव सुखों की प्राप्ति की आशा उनसे की जाती थी।[17]

वेदों की यह स्तोत्र-परज़्परा आगे के साहित्य में प्रभूत रूपेण विकसित हुई। वैदिक स्तुतियों के आधार पर लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी स्तोत्रों का प्रणयन हुआ। महाकाव्य काल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिदेव से सज़्बन्धित स्तुतियाँ रची गईं। यही नहीं, अदृश्य शक्तियों के देवत्व के साथ मानवीय शक्तियों का भी महत्त्व स्थापित हुआ। महान् तपस्वी, ज्ञानी, विवेकी, आत्मार्थी, ऋषि-मुनियों की भी स्तुतियाँ की गई। मानव का प्रकृति से अत्यधिक प्रेम होने के कारण गीतों, मुक्तकों एवं स्तोत्रों में प्रकृति के रज़्य रूपों को उद्घाटित किया गया। इसके लिए समुद्र स्रोतस्विनी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य एवं ऋतु विशेषों की स्तुतियाँ की गई। इस प्रकार स्तुति का धरातल विकसित होता गया।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में स्तुतिपरक रचनाएँ

लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रथमतः रामायण व महाभारत जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों में अनेक स्तोत्र प्राप्त होते हैं। आदिकवि वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण में दो चार स्तुतिपरक पद्य तो सैंकड़ों स्थलों पर उपलब्ध हैं। बालकाण्ड के आरम्भ में देवता ब्रह्मा की स्तुति की गई[18] तो पीताम्बरधारी, शंख-चक्र एवं गदा से सुशोभित विष्णु की स्तुति भी सम्प्राप्त होती है-

वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह।

सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः।

त्वं गतिः परमा देव! सर्वेषां नः परंतप।

वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु।।[19]

युद्धकाण्ड के कतिपय पद्य भी स्तोत्र की श्रेणी में आते हैं। जहाँ 'आदित्यस्तोत्र' में सूर्य की स्तुति की गई है[20] वहीं ब्रह्मा के द्वारा बीस श्लोकों में 'श्रीराम' का स्तवन किया गया है।[21] उत्तरकाण्ड में ही रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण आदि के द्वारा ब्रह्मा की स्तुति कर वृत्रासुर के वध की याचना की गई है।[22] हनुमान द्वारा वायु के रोके जाने पर समस्त देववर्ग ने ब्रह्मा से वायुमुक्ति के लिए स्तुति की है।[23] उत्तरकाण्ड में भी रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण आदि के द्वारा ब्रह्मा की स्तुति की गई-

भगवन्! प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद् भयम्।

नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे।।[24]

स्तुतियों के उक्त उद्धहरणों से स्पष्ट होता है कि स्तोताओं ने अपने कार्य को सम्पन्न कराने के लिए देवों की स्तुति की है। इस प्रकार रामायण में अनेक स्थलों पर स्तुतियाँ दृष्टिगत होती है। इन स्तुतियों में भक्तों की दीनता, लघुता, असीमता, अल्पज्ञता और इष्टदेवों की उदारता, प्रभुता, असीमता, सर्वज्ञता आदि का मुक्त कण्ठ से गान किया गया है।

महाभारत के कथानकों में भी अनेक स्थलों पर स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं।[25] विष्णुपुराण, शिवसहस्रनाम[26] आदि स्तोत्र इसी काव्य के अंश हैं। युद्धस्थल में भीष्म द्वारा की गई स्तुति 'भीष्मस्तवराज' नाम से प्रसिद्ध है। अश्वत्थामा ने भी भगवान् शिव के विभिन्न नामों से अनेक रूपों में स्तुति करते हुए उन्हें त्रिकाल में स्तुत्य बताया है।[27] यही नहीं, महाभारत में तो नारी-स्तुतियों को भी महत्त्व दिया गया है। कौरवों की विशाल सेना और शक्ति को देखकर अर्जुन जब

हतोत्साह सा हो जाता है, तब भगवान श्रीकृष्ण के परामर्श से शक्ति प्राप्ति के लिए दुर्गा की स्तुति करता है।[28] इस प्रकार महाभारत में अनेक प्रकार की स्तुतियों का समावेश है।

पौराणिक युग में अनेक सरस भावपूर्ण, दार्शनिक चिन्तनधाराओं से युक्त स्तोत्र सञ्प्राप्त होते हैं। इस युग में स्तुतियों में लौकिक सुख की अपेक्षा पारलौकिक सुख की याचना को महत्त्व दिया गया। विष्णुपुराण में पृथ्वी, पराशर, प्रह्लाद, कालयानाग, नागपत्नी, इन्द्र आदि की गई स्तुतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।[29] श्रीमद्भागवत में बाधाओं से मुक्त होने के लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कृष्ण, राम आदि की स्तुतियाँ की गई हैं। एक ओर इसमें दैहिक, दैविक स्तुतियाँ की गई तो दूसरी ओर स्तुति द्वारा तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा करना एवं साधना प्रधान स्तुतियाँ रूप निष्काम स्तुतियाँ भी रची गईं। सञ्पूर्ण भागवत में १३८ स्तुतियाँ हैं जिनमें कुन्ती की भगवत्स्तुति, [30] भीष्मकृत कृष्णस्तुति, [31] शुकदेव कृत भगवत् स्तुति, [32] ब्रह्मा जी द्वारा की गई भगवान् की स्तुति, [33] शिव कृत भगवत्स्तुति, [34] देवताओं द्वारा गर्भस्तुति, [35] नारद द्वारा भगवत् स्तुति, [36] अक्रूरजी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति[37] आदि उल्लेखनीय है। वस्तुतः ये सुकुमार एवं मनोहर स्तुतियाँ प्रत्येक सहृदय पाठक के हृदय में रसानुभूति का संचार करने में सक्षम हैं।

प्रारञ्भ में स्तवन, गुणकीर्त्तन, रूपकथन और प्रशंसात्मक वर्णन की प्रधानता थी। उत्तरकाल में स्तुत्य देवता के विरोधियों की निन्दा द्वारा भी स्तुति की जाने लगी। संस्कृत के महाकाव्य रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीयम्, नैषधीयचरितम् आदि में भी स्तोत्र-साहित्य के बीज निहित हैं। कालिदास विरचित 'रघुवंश' एवं 'कुमारसंभव' में देवों द्वारा कृत क्रमशः विष्णु स्तुति[38] एवं ब्रह्मा स्तुति, [39] माघ कृत 'शिशुपालवध' में भीष्म पितामह द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति,[40] एवं कवि भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' में अर्जुन कृत शिव-स्तुति, [41] कवि श्रीहर्ष रचित 'नैषधीयचरितम्' में नल कृत मत्स्यावतार स्तुति व कच्छपावतार की स्तुति[42] आदि उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार रत्नाकर कवि रचित 'हरविजय' महाकाव्य के 47 वें सर्ग में देवी चण्डी की 167 श्लोकों में स्तुति की गई है। लगभग सभी संस्कृत नाटकों की नान्दी, भगवान् की स्तुति रूप ही है। यथा- 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'विक्रमोर्वशीयम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' आदि में मंगलाचरण (नान्दी)में शिव की प्रत्यक्षसिद्ध अष्टमूर्ति या माता-पिता रूप अथवा शिव के अन्य रूप की महिमा गाई गई है।

स्तोत्र-साहित्य परञ्परा को अक्षुण्ण रखते हुए स्वतंत्र रूप से भी स्तोत्र-ग्रन्थ रचे गये। यथा-बाणभट्टकृत 'चण्डीशतक', मयूरभट्टकृतकृत 'सूर्यशतक' मूककवि की 'पंचशती',[43]

शंकराचार्यकृत 'शिवपराधक्षमापणस्तोत्र', 'द्वादशपञ्जरिकास्तोत्र', 'देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र', 'आनन्दलहरी', 'सौन्दर्यलहरी', 'चर्पटपंजरिकास्तोत्र', उत्पलदेवकृत 'शिवस्तोत्रावली', राजा कुलशेखर का 'मुकुन्दमाला', यमुनाचार्यकृत 'आलबन्दार स्तोत्र', लीलाशुककृत 'कृष्णकर्णामृत', जगद्धरभट्ट का स्तोत्रकाव्य 'स्तुतिकुसुमांजलि' आदि प्रसिद्ध स्तोत्र-ग्रन्थ हैं। इन प्रसिद्ध स्तोत्रग्रन्थ के अतिरिक्त भी अनेकानेक स्तोत्रकाव्य उपलब्ध होते हैं।[44]

जैसे-जैसे स्तुति-साहित्य का विकास होता गया, वैसे-वैसे विभिन्न सञ्प्रदायोंके भक्तजनों द्वारा अपने-अपने आराध्य के चरणों में स्तोत्र रूप शब्द-सुमन अर्पित किये जाते रहे। विभिन्न सञ्प्रदायों के स्तुति-साहित्य को निञ्लिखित परञ्पराओं में विभक्त किया जा सकता है- १. शैव परञ्परा, २. वैष्णव परञ्परा।

शैव परञ्परा - संस्कृत साहित्य में 'शिव' का बड़े व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। पाशुपत सञ्प्रदाय या शैव सञ्प्रदाय के रूप में वैदिक परञ्परा के अन्तर्गत शिव को परम देव या परब्रह्मा स्वीकार कर एक स्वतंत्र दर्शन का प्रचलन हुआ। वेद से लेकर अर्वाचीन काल तक शिव को लेकर बहुत कुछ लिखा गया। शिव को आधार मानकर अनेक शैव स्तोत्रों की रचनाएँ हुईं। यहाँ प्रमुख शैव स्तोत्रों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

शिवमहिञ्न स्तोत्र - यह शिव स्तुतियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं। 'शिखरिणी' छन्द में लिखित यह स्तोत्र ललित, सरस एवं भावपूर्ण काव्य है। इसमें शिव की विश्व-व्यापिनी महिमा का दिग्दर्शन कराया गया है। इस स्तोत्र में ईश्वर की सत्ता जैसे दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसी कारण इसकी महिमा में कहा गया है कि 'महेशान्नापरो देवो महिञ्नो नापरा स्तुतिः।' इस पर अनेक विद्वानों द्वारा लिखी गई टीकाएँ इसकी लोकप्रियता को सिद्ध करती हैं।

दुर्वासा द्वारा रचित 'परशञ्भुमहिञ्न स्तव'[45] भी एक दार्शनिक भावों से युक्त शैव-स्तोत्र है। इसके तेरह प्रकरण हैं। इसमें तान्त्रिकतथ्य की बहुलता है। केवल दस पद्यों में रचित 'शिव-स्तुति'[46] का साहित्यिक दृष्टि से अपना महत्त्व है। इसके रचयिता लंकापति रावण हैं।

अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक आद्य शंकराचार्य के अनेक स्तोत्र मिलते हैं। यथा- **'शिवपाददिकेशान्तवर्णनस्तोत्र'** स्रग्धरा छन्द में रचित शैव स्तोत्र है। इसमें ४१ पद्यों में शिव के अवयवों का सुन्दर एवं ललित शब्दों में चित्रण किया गया है। इसी प्रकार स्रग्धरा छन्द में ही

रचित '**शिवकेशादिपादान्तवर्णनस्तोत्र**'[47] में भी शिव के लावण्यमय अंगों का वर्णन अंकित है। २९ पद्यों में निबद्ध इस स्तोत्र का नाम स्वयं ही उसके वर्ण्य विषय को प्रदर्शित करता है। '**शिवमानसपूजा**'[48] स्तोत्र में आदि जगद् गुरु शंकराचार्य अपने आराध्य देव शिव की स्तुति करते हुए उन्हें मानसिक पूजोपहार समर्पित करते हैं। इस स्तोत्र में उनकी विनम्रता और आराध्य देव के प्रति अप्रतिम आस्था द्रष्टव्य है। '**शिवापराधक्षमापणस्तोत्र**' में भक्त कवि ने जीवन के विविध सोपानों पर बढ़ती हुई आसक्ति और इन्द्रियों की क्षीणता के कारण स्तुति न कर पाने की क्षमायाचना व्यक्त की है। अन्ततः वह क्षणभंगुर एवं नश्वर जीवन का त्याग करते हुए भगवान् शंकर से शरण प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। '**विश्वनाथाष्टकम्षस्तोत्र**' के आठ श्लोकों में आराध्य विश्वनाथ का स्तवन '**द्वादशज्योतिर्लिंगस्तोत्र**' में शिव पुराण में वर्णित द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग का महात्ज्य प्रगट किया गया है। इसके सविधि उच्चारण एवं नित्य पाठ से सात जन्म तक के पाप क्षय होने की मान्यता है। '**दारिद्रयदहनशिवस्तोत्रम्**' में श्री वशिष्ठ ने शंकर की विभिन्न विशेषणों से स्तुति करते हुए दरिद्रता के विनाश हेतु निवेदन किया है। श्री रावणकृत '**शिवताण्डवस्तोत्रम्**'[49] में ओजस्वी शैली में शंकर की भक्ति की गई की गई है। शिव का सज्यक् चिन्तन-मनन, प्राणी वर्ग के मोह को नष्ट करता है- यही स्तोत्र के सविधि पाठ का प्रतिफल बताया गया है। पृथ्वीपतिसूरि द्वारा विरचित '**पशुपत्यष्टकम्**' में ब्रह्मा, इन्द्र द्वारा पूजित शिव की स्तुति की गई है। इसमें कवि ने क्षणभंगुर सज्बन्धों से मुक्त शंकर पार्वती वल्लभ की स्तुति करने की प्रेरणा दी है।

कवि रत्नाकर प्रणीत 'वक्रोक्ति पंचाशिका' में ५० पद्यों में शिव एवं पार्वती के प्रणय विषय को संवाद के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इसमें वक्रोक्ति अलंकार का सुन्दर परिपाक हुआ हैं। शिव-पार्वती का संवाद श्लेषालंकार द्वारा द्वयार्थक होने से अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। '**शिवस्तोत्रावली**' का काश्मीरी शैव भक्तों में आदरणीय स्थान है। अभिनवगुप्तचार्य के गुरु उत्पलदेव ने इस स्तोत्र ग्रन्थ में २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह किया है। इनमें शंकर के अलौकिक रूप एवं उनके अनन्त गुणों का भावपूर्ण वर्णन किया गया है। कवि कल्हण द्वारा '**अर्द्धनारीश्वर स्तोत्र**'[50] का प्रणयन किया गया, जिसमें शिव के अर्द्धांग में समाहित पार्वती सहित अर्द्धनारीश्वर रूप का सरस एवं भक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है। यद्यपि यह १८ पद्यों में निबद्ध एक लघुकाय स्तोत्र है तथापि शैव-स्तोत्रों में यह महनीय है। अभिनवगुप्त के अनेक शैव स्तोत्रों में यह महनीय है। अभिनवगुप्त के अनेक शैव स्तोत्रों में '**ईश्वर स्तोत्र**' उल्लेखनीय है। इसका अपर नाम '**भैरव**

स्तोत्र' है। '**स्तुतिकुसुमांजलि**'[51] भक्तिरस से परिपूर्ण एक श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ है। इसके प्रणेता जगद्धरभट्ट, शंकर के अनन्य उपासक थे। इसमें १४२५ पद्यों[52] में निबद्ध ३८ स्तोत्र हैं और प्रत्येक स्तोत्र अपने आराध्य शंकर की स्तुति में समर्पित है। समस्त स्तुतियाँ इतनी सरस एवं आनन्दपूर्ण है कि भक्त हृदय उनमें तल्लीन हो जाता है। दार्शनिकता की दृष्टि से तो यह स्तोत्रग्रन्थ ओत-प्रोत है ही साथ ही आलंकारिक शैली में हृदय के भावों का अभिव्यक्तिकरण भी बेजोड़ है। इस स्तोत्र ग्रन्थ पर 'मगध विश्वविद्यालय' से शोध कार्य भी सज़्पन्न हुआ है।[53]

अप्पयदीक्षित ने भी शैव स्तोत्रों की रचना की है। उनके '**ब्रह्मतर्कस्तव**' '**पंचरत्नस्तुति**' और '**आत्मार्पणस्तुति**' नामक स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। अप्पयदीक्षित शिव एवं विष्णु में कोई भेद नहीं मानकर परब्रह्मा को स्वीकार करते हैं। नीलकण्ठ दीक्षित ने '**आनन्दसागरस्तव**' की रचना की है, जिसमें प्रपत्ति भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताया गया है। इनका एक अन्य स्तोत्र '**शिवोत्कर्षमंजरी**' है।

इस प्रकार विभिन्न स्तोत्रों में शिव के नाना रूपों का वर्णन मिलता है। वे एक ओर भयंकर रौद्ररूप हैं तो दूसरी ओर अत्यन्त सौज़्य भावापन्न हैं। दुष्ट दैत्यों के संहार करने में वे कालरूप हैं, तो दु:खियों, अनाथ, दरिद्रों, भयभीत-संकट-ग्रस्त प्राणियों की रक्षा करने में वैसे ही अनुग्रह, करुणा और उत्साह से अनुप्राणित हैं।

इस प्रकार शैव-स्तोत्र परज़्परा का विकास क्रम चलता रहा। शिव के साथ-साथ शक्ति के रूप में देवी की उपासना का भी विकास होने लगा था। शिव शब्द में शकार के साथ जो इकार जुड़ा हुआ है, वह शैव दर्शन वेत्ता विद्वानों के अनुसार शक्ति का द्योतक है। यदि इकार निकल जाये तो शिव का 'शव' रह जाता है, जो निष्प्राण देह का सूचक है। शक्ति ही देवत्व में दिव्यता और ओजस्विता का संचार करती है। प्रज्ञा-मेधा, विभूति, ओज या शक्ति आदि के आधार पर देवी की सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, कात्यायनी या चमुण्डा आदि अनेक रूपों में स्तवना की गई है। विभिन्न स्थितियों तथा प्रसंगों के अनुरूप उनका पार्वती, अज़्बिका, जगदज़्बा, काली, महिषासुरमर्दिनी इत्यादि रूपों में वर्णन किया गया है। संस्कृत में तन्मूलक विपुल साहित्य उपलब्ध है। 'त्रिपुरसुन्दरी', 'सौन्दर्यलहरी' या 'आनन्दलहरी' आदि में शाक्त कवियों की अलौकिक प्रतिभा का परिचय मिलता है।

वैष्णव-परज़्परा - विष्णु की अज़्यर्थना में भी महत्त्वपूर्ण स्तोत्र साहित्य उपलब्ध है। जहाँ एक ओर भक्त कवियों ने विष्णु की स्तुति करते हुए उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का महत्त्व

मुक्त कण्ठ से स्वीकारा है वहीं दूसरी ओर विष्णु के विविध आयुधों को लेकर भी स्वतंत्र रूप से स्तुतियाँ रची गई हैं। श्रीकृष्ण, राम, परब्रह्मा आदि विष्णु के ही अवतारी रूप हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि वैष्णव-भक्ति का विकास महाभारत काल से ही होने लगा था। महाभारत में भीष्म श्रीकृष्ण की ईश्वर के रूप में स्तुति करते हैं। वैष्णव धर्म के प्रचार की दृष्टि से भगवान् के नाम, रूप, लीला और धाम आदि का विवेचन किया गया। परिणामस्वरूप विपुल मात्रा में वैष्णव स्तोत्रों का प्रणयन हुआ। कुछ प्रमुख वैष्णव स्तोत्रों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है-

मुकुन्दमाला[54]- वैष्णव स्तोत्रों में श्रेष्ठ माना जाने वाला यह स्तोत्र केरल के राजा कुलशेखर द्वारा रचित है। इसमें 'मुकुन्द' अर्थात् विष्णु के अन्य रूप श्रीकृष्ण की आराधना की गई है। अत्यन्त सरसपूर्ण शैली में भक्त ने भगवान् के चरणों में आत्मनिवेदन प्रस्तुत किया है। इसकी श्लोक सं. के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं।[55] '**आलबन्दार स्तोत्र**'[56] यमुनाचार्य प्रणीत इस स्तोत्र को वैष्णव स्तोत्रों में मुकुट-मणि की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। कवि का तमिल नाम 'आलबन्दार' होने से इनके स्तोत्र को 'आलबन्दार स्तोत्र' कहा गया। इसका अपर नाम 'स्तोत्ररत्न' है। अनुपम आन्तरिक सुषमा के कारण यह भक्तजनों के बीच इस नाम से विश्रुत हुआ। इसमें कवि ने दैन्यपूर्ण शब्दों में अपने भक्तिभावित हृदय को प्रभु के चरणों में समर्पित किया है।[57] साथ ही संसार के लौकिक सञ्बन्धों को प्रभु में ही समाहित किया है।[58] कृष्णकर्णामृतस्तोत्र-लीलांशुक अपर नाम 'बिल्वमंगल' द्वारा रचित इस स्तोत्र में विष्णु और कृष्ण का एकत्व प्रतिपादित किया गया है। भक्ति-रस से पूरित होने के कारण यह कृष्णभक्तों के लिए तो प्रिय है ही, साथ ही साहित्यिक सौन्दर्य से युक्त होने से यह काव्य रसिकों में भी वांछनीय है। ११० पद्यों से युक्त एवं तीन भागों में विभक्त, इस स्तोत्र में श्रीकृष्ण के बालरूप का सुन्दर चित्रण है। ऐसी मान्यता है कि बंगाल के चैतन्य सञ्प्रदाय की उत्पत्ति एवं प्रगति पर इस स्तोत्र का गहरा प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि महाप्रभु चैतन्य को यह स्तोत्र बहुत प्रिय था। **लक्ष्मीसहस्रस्तोत्र**- महाकवि वेंकटाध्वरि द्वारा विरचित है। एक ही रात्रि में रचे गये इस स्तोत्र में भगवती लक्ष्मी की स्तुति में एक हजार श्लोक उपलब्ध हैं। महाकाव्यात्मक शैली में संगुज़्फ़त इस स्तोत्र में कवि ने लक्ष्मी के समग्र अंगों का सुन्दर वर्णन कर अपनी प्रौढ़ता एवं पाण्डित्य का सुन्दर परिचय दिया है। इस स्तोत्र रचना का प्रेरणास्रोत वेंकटाध्वरि रचित 'पादुकासहस्र' है।, जो स्तोत्र साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस स्तोत्र में रंगनाथ की पादुका की प्रशस्ति की गयी है। कूरनारायण प्रणीत '**सुदर्शन शतक**' में स्रग्धरा छन्द में नारायण के विशिष्ट आयुध सुदर्शन चक्र

का वर्णन किया गया है। मधुसूदन सरस्वती कृत '**आनन्द-मन्दाकिनी स्तोत्र**' के १०२ श्लोकों में स्तुति की गई है। साथ ही '**अच्युत शतक**' में अच्युत (विष्णु) देव की १०२ प्राकृत गाथाओं में स्तुति है। '**नारायणीय**' केरल देश का सर्वाधिक प्रज़्यात स्तोत्र ग्रन्थ है। नारायण भट्ट कवि द्वारा नारायण की स्तुति में रचित होने से इसका 'नारायणीय' नाम सार्थक हो गया है। श्रीकृष्ण की इस स्तुति द्वारा भक्त कवि के रोगमुक्त होने की मान्यता है। '**अच्युताष्टकम्**' में श्री शंकराचार्य ने विभिन्न सज़्बोधनों के द्वारा विष्णु की स्तुति करते हुए सन्तापों से मुक्ति की प्रार्थना की है। '**श्रीविष्णुषोडश स्तोत्र**' में विष्णु के सोलह नामों का महात्ज़्य निर्दिष्ट है। '**श्रीनारायणाष्टकम्**' में श्री कुरेशस्वामी ने विष्णु का स्तवन करते हुए उनके द्वारा रक्षित भक्तों का उल्लेख किया है। श्री '**कमलापत्याष्टकम्**' में दास परमहंस ने कमलापति विष्णु के बाह्य एवं अन्त: सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्हें जन्म, जरा, मरण के त्रास दिलाने वाला माना है। वैष्णव स्तोत्रों के सुप्रसिद्ध प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ परमवैष्णव थे। स्तोत्रकाव्य की दृष्टि से इनके '**लहरी पंचक**' अर्थात् पाँच स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं- ३० श्लोकों में निबद्ध '**सुधालहरी**' (लक्ष्मी की स्तुति) १० पद्ययुक्त '**अमृतलहरी**' (यमुना की स्तुति) ५२ पद्यों की '**गंगालहरी**' (लक्ष्मी स्तुति) ४३ पद्यों में निर्मित '**करुणलहरी**' (भक्तों पर निरन्तर करुणा करने वाले विष्णु की स्तुति)। वैष्णव स्तोत्रों में वल्लभाचार्य के यमुनाष्टक, मधुराष्टक, नन्दकुमाराष्टक, कृष्णाष्टक एवं परिरवृढाष्टक आदि भी प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वैष्णव स्तोत्र-परज़्परा की गतिशीलता अक्षुण्ण है।

संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने महाभारत से प्रेरित होकर तथा महाभारत के आज़्यानों का आश्रय ग्रहण करके काव्यों और नाटकों की रचना की है। संस्कृत-साहित्य के विद्वान् इतिहासकार वरदाचारी ने अपने संस्कृत साहित्य के परिशिष्ट में ऐसे लगभग चालीस ग्रंथों की सूची दी है, जिनके प्रबंध का स्रोत महाभारत में है।[59] महाभारत पर आधृत संस्कृत महाकाव्य-परज़्परा में उपलब्ध सर्वप्रथम कृति भारवि (६वीं शती वि.) का 'किरातार्जुनीयम्' है। इस महाकाव्य की कथावस्तु मूलत: इन्द्र तथा शिव को प्रसन्न करने के लिये और दिव्याशस्त्र पाने के लिये की गई अर्जुन की तपस्या की घटना और किरातवेशधारी शिव के साथ उसके युद्ध तथा प्रसन्न शिव से पाशुपतास्त्रप्राप्ति से सज़्बद्ध है। सर्ग १३ से १८ तक भारवि ने महाभारत के वनपर्व के अध्याय ३८ से ४० तक के कथा-प्रसङ्ग को काव्यबद्ध किया है।

भारवि ने वनपर्व के अध्याय २७ से लेकर अध्याय ४० तक की कथा को अपने काव्य का आधार बनाया है। महाभारत में यहां द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास आकर जासूस बनेचर द्वारा दुर्योधन की गतिविधि की खबर देने का प्रसंग[60] नहीं है। महाभारत में द्रौपदी युधिष्ठिर के शत्रुविषयक क्रोध को उभारने के लिये संतापपूर्ण वचन (वनपर्व २७,१३-४०) अवश्य कहती है। इस अंश की स्पष्ट छाप किरातार्जुनीय में परिलक्षित है। (किरात.१.२८-४९) यहां वह महाभारत की द्रौपदी की अपेक्षा कहीं अधिक तीखे वचन है, यथा-

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।

परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्।।[61]

इस उक्ति में द्रौपदी ने युधिष्ठिर द्वारा द्रौपदी को द्यूत में हार जाने की घटना की व्यंजना कराकर उसकी भर्त्सना की है। वह यहाँ तक कहती है कि वे कापुरुष की तरह क्षमा को ही सुख साधन मानते हैं तो फिर धनुष त्यागकर तपस्वी क्यों नहीं बन जाते? महाभारत में भीम द्वारा भी युधिष्ठिर को उत्साहित करने के प्रसङ्ग को तथा युधिष्ठिर द्वारा भीम को समझाने के प्रसङ्ग को भारवि के किरातार्जुनीयम् में भी लिया गया है, जहाँ क्रोधी भीम को वह दुष्टगज की तरह शान्त करने का प्रयत्न करता है। इसी समय दोनों में व्यास का आगमन होता है, जो पाण्डवों को इन्द्र से मिलकर दिव्यास्त्र प्राप्त करने की सलाह देते हैं।

महाभारत से वनपर्व में उपलब्ध[62] कथानक को लेकर भारवि ने १८ सर्गों में काव्य की रचना करते हुए दूसरे सर्ग के राजनीतिपरक उपदेश के साथ-साथ वीररस प्रधान काव्य में आठवें, नवें तथा दसवें सर्ग में इन्द्र द्वारा अर्जुन की तपस्या भंग करने को भेजी अप्सराओं के वन-विहार, पुष्पावचय, जलक्रीडा तथा प्रणय आदि का वर्णन कर काव्य को सरस बनाने का प्रयत्न किया है। यह अवश्य है कि कवि की अतिशय वर्णनशैलीयुक्त प्रबन्ध-कौशल के कारण काव्य के कथा-प्रवाह में शैथिल्य आ जाना स्वाभाविक है। पर फिर भी कवित्व की दृष्टि से किरातार्जुनीय में अर्थगांभीर्य के साथ अभिव्यंजना-शैली सुन्दर बन पड़ी है। द्रौपदी, भीम तथा युधिष्ठिर की उक्तियाँ तथा किरात तथा अर्जुन के वाद-विवाद और युद्ध के साथ , चतुर्थ सर्ग में प्रकृति का रमणीय चित्रण भारवि की प्रौढ़ कला-विदग्धता के प्रमाण है। भारवि के काव्य-सौन्दर्य के उदाहरण के रूप में निज़लिखित पद्य द्रष्टव्य है-

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पद्म।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः।।[63]

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदिकाव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकी 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौंच के लिये विलाप करने वाली क्रौंची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस कौंच पक्षी को मारा है। अत: तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो।

महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था। वर्तमान महाभारत रामकथा ही से परिचित नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाज़्यान (अध्याय २७३-९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सज़्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं।

ततो गच्छेत राजेन्द्र शृंगवेरपुरं महत्।
यत्र तीणों महाराज! रामो दाशरथि: पुरा।।
तस्मिन् तीर्णों महाबाहो सर्वपापै: प्रमुच्यते।।[64]

(सिंगरौर ज़ प्रयाग) तथा गोप्रसार

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरस्वास्तीर्थमुत्तमम्।।
यत्र रामो गत: स्वर्ग सभृत्यबलवाहन:।
देह त्यक्त्वा महाराज! तस्य तीर्थस्य तेजसा।।71।[65]

(फैजाबाद में गुप्ता घाट) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अत: महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रन्थों की तुलना आगे की जायेगी। महाभारत को वर्तमानरूप ईस्वी के आरज़्भ में प्राप्त हुआ है। अत: रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

महाभारत भारतीय सज़्यता का भव्य ग्रन्थ है। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ

रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन पाठन, श्रवण मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण 'महाभारत' पंचम वेद के नाम से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत के कवियों के लिये उपजीव्य है। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नानाप्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों? जावा सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव चरित के अभिनय से उसी प्रकार अपना मनोरंजन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है— इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। प्राचीन राजनीति जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति जिसमें आचार तथा लोक व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण हैं महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं इसलिए इसे '**शत साहस्री संहिता**' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है क्योंकि गुप्तकालीन एक शिलालेख में यह 'शतसाहस्री' संहिता के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती है। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने साहित्य का रूप दिया और वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। ग्रन्थ के आरम्भ में नारायणनर, सरस्वती देवी को

नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया प्रतीत होता है।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।

देवीं सरस्वती चैव ततो जयमुदीरयेत्।।[66]

(2) भारत—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाज़्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का विस्तृत वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशज़्ायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।

उपाज़्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः।।[67]

(३) महाभारत —इस ग्रन्थ का यही अन्तिम रूप है। इसमें एक लाज़ श्लोक बतलाये जाते हैँ। यह श्लोक संज़्या अठारह 'पर्वों' की ही नहीं है, किन्तु 'हरिवंश' के मिलाने से ही एक लाख तक पहुँचती है। यह विकसित रूप भी बड़ा प्राचीन है। विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के दो प्रधान पाठ सज़्प्रदाय हैं, एक उत्तर भारत का दूसरा दक्षिण भारत का।

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वार्चयेत् इति तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्रामि प्रयतात्मनः।।[68]

इन दोनों ग्रन्थकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचन रूप से जानते हैं। ययाति के उपाज़्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (400 ई.पू.) कम से कम दो सौ पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है। परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय संगत है।

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संज़्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक

(११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेघ (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराट् पर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बन कर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरज़्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना, द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध, कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में वन में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप, शान्ति पर्व में भीष्मपितामह का युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेघ युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिकं पर्व में पाण्डवों की हिमालय यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाज़्यान भी है जिनमें निज़्नलिखित आज़्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

(१) शकुन्तलोपाज़्यान—यह उपाज़्यान महाभारत के आदि पर्व में है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक का आधार यही आज़्यान है।

(२) मत्स्योपाज़्यान—यह वन पर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है, तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) रामोपाज़्यान—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गंगावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया।

(४) शिवि उपाज़्यान—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आये हुए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) सावित्री उपाज़्यान—भारतीय ललनाओं के लिए आदर्श रूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् तथा सावित्री का उपाज़्यान पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) नलोपाज़्यान—महाभारत में 'नलोपाज़्यान' को लेकर तीन रचनायें मिलती है- श्रीहर्ष का नैषधीयचरित (१३वीं शती वि.) कृष्णानन्द (१४वीं शती) 'सहृदयानन्द' तथा वामनभट्ट बाण (१५वीं शती) का 'नलाज़्युदय' महाकाव्य। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित तथा कवि श्रीहर्ष (१३वीं शती वि.) की रचना २२ सर्गों में निबद्ध 'नैषधीयचरित्र' की गणना पंच महाकाव्यों में की जाती है। श्रीहर्ष हीर पण्डित तथा मामल्लदेवी के पुत्र थे। यह बहुत बड़ा काव्य है, जिसके अधिकांश सर्गों में सौ से ऊपर पद्य हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह काव्य सौ सर्गों में निबद्ध था जिसमें पूरी नलकथा थी, पर यह मात्र किंवदन्ती है। प्रस्तुत काव्य नल और दमयन्ती के परस्पर आकर्षण[69] दमयन्ती द्वारा स्वयंवर में नल बनकर आये राजाओं और चारों दिक्पालों को छोड़कर वास्तविक नल को सरस्वती की सहायता से पहचानकर वरण करने[70] और उनके विवाह के बाद स्वर्ग लौटते समय देवताओं द्वारा नास्तिकवाद की प्रतिकल्पना करते कलि की मान्यताओं का खण्डन वर्णित है। इसके पश्चात् सर्ग १८ से २२ तक राजा तथा रानी के क्रमशः समागम, दैनंदिनचर्या, देवस्तुति तथा सूर्योदय का वर्णन है। काव्य में अधूरी नलदमयन्ती कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधारभूत है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिनमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है (२) विष्णुपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण की लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य नाटकों की रचना की गई, उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुज़्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की नि:सारता दिखलाकर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुज़्य रस शान्त है।

महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसान-वैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननं तात्पर्य प्रधान्येन प्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुज़्यतया सूचितः।[71]

वीर तो अंगीभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिससे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना आवश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मंजुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्त है।

यो विद्याच्चुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः।
न चाज़्यानमिदं विद्यान्नैव सयाद् विचक्षणः।।[72]

क्योंकि वह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है।

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।।[73]

जिसने इस आज़्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है।

श्रुत्वा त्विदमुपाज़्यानं श्राव्यमन्यत्र रोचते।

पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्याक्षस्य वागिव।।[74]

महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अज़्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरश: सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धय:।

पंचज़्य इव भूतेज़्यो लोकसविधयस्त्रय:।।

इदं कविवरै : सर्वैराज़्यानमुपजीव्यते।

उदयेप्प्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वर:।।[75]

महाभारत का प्रधान उद्देश्य संसार की अनित्यता दिखलाकर मोक्ष का प्रतिपादन करना है। महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्‌भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है और वस्तुत: वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए इस सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया **है।** यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्त्तव्य धर्म का सेवन है। इसी धर्म से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो जाते हैं। महाभारत का वास्तविक संदेश यही है।

ऊर्ध्वबाहुविरौज़्येष, न च कश्चित् श्रृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते।।[76]

अन्ततोगत्वा अनेक सोच विचार के पश्चात् हनुमान संस्कृत भाषा में वार्तालाप करने का ही निश्चय करते हैं। प्रथम शती ईस्वी में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं कवि हुए। बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। किन्तु अश्वघोष ने बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जिन महाकाव्यों का प्रणयन किया, उनमें प्राकृत भाषा का अवलज़्बन न करके संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया। जिससे सामान्यजन एवं शिष्टवर्ग सभी में उन सिद्धान्तों का एक सा प्रचार-प्रसार हो सके।

संस्कृत के नाट्यों में आचार्यों ने भाषा सज़्बन्धी जो विधान प्रस्तुत किया है वह भी इस मत का ही समर्थक है। नाट्यगत भाषाविधान के अन्तर्गत उत्तम पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं, किन्तु अन्य पात्र विभिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते हैं। किन्तु सज़ी पात्र संस्कृत एवं प्राकृत दोनों

को ही भली भाँति समझते हैं। दर्शकवृन्द ज़ी सरल किंवा कठिन सज़ी प्रकार से प्रयुक्त संस्कृत भाषा को समझने में पूर्णतया समर्थ थे, तभी नाट्य देखकर उन्हें रसग्रहण हो पाता था। यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती तो सामान्य दर्शक नाट्य में भी संस्कृत भाषा न समझ पाता और नाट्य की ओर प्रवृत्त ही न होता। तब नाट्यरचना अथवा भाषाविधान का प्रयोजन ही ध्वस्त हो जाता।

प्रोफेसर मैक्डॉनल के समय भारतीय जनता संस्कृत भाषा में ही अपने भावों को प्रकट करती थी। क्रमशः भाषागत परिवर्तनों से प्राकृत का उदय एवं प्रसार होने से संस्कृत का व्यवहार क्षेत्र बोलचाल के माध्यम के रूप में कम होता गया। किन्तु ईस्वी शती के प्रारज़्भ तक शिष्टजनों में संस्कृत का प्रचलन एवं व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा। इस सज़्बन्ध में प्रोफेसर मैक्डॉनल का मत दृष्टव्य है। उनका कथन है–

लौकिक संस्कृत प्रारज़्भ से ही एक साहित्यिक, अथवा यों कहिए, एक कृत्रिम नियमबद्ध भाषा क्यों न रही हो, वह लोकव्यवहार की भाषा नहीं थी– यह उक्ति सर्वथा प्रमादपूर्ण है। संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव–जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत–साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया। इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिक तथा सज़्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए, जिनकी वर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्ण लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक हुए, जिन्होंने अपने सरस काव्य से त्रिलोक सुन्दरी कादज़्बरी की कमनीय कथा सुना–सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया, जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी मधुर कोमलकान्त पदावली के द्वारा विद्वानों के चित्त में मधुररस की वर्षा की। श्रीहर्ष जैसे पण्डित कवि हुए, जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सज़्मिलन प्रस्तुत किया। उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?

पुराणों में महाभारत

पुराणों में भी महाभारत–कथा संक्षिप्त रूप से उपलब्ध है। प्राचीनतम पुराणों– विष्णुपुराण तथा वायुपुराण में यह नहीं मिलती। विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के बीसवें अध्याय के कुरुवंश–

वर्णन में संक्षेप में शान्तनु से परीक्षित तक की वंशावली अवश्य वर्णित है, किन्तु महाभारत युद्ध की घटना का संकेत एक गद्य-वाक्य में मिलता है।[77]

बृहन्नारदीयपुराण (जो नारद-उपपुराण) से भिन्न है, में महाभारत कथा तो नहीं मिलती है, किन्तु व्यास-शिष्य जैमिनि द्वारा मार्कण्डेय के पास महाभारत के विषय में चार जिज्ञासाओं के समाधान की प्रार्थना करने का प्रसंग है क्योंकि ये प्रश्न महाभारत में अनुत्तरित हैं। इनमें से दो प्रश्न हैं- द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की एक साथ पत्नी क्यों बनी? द्रौपदी के पुत्र बाल्यावस्था में ही क्यों मारे गये? मार्कण्डेय जैमिनि को स्वयं उत्तर न देकर पक्षियों के पास भेज देते हैं, जो शापभ्रष्ट विद्वान् ब्राह्मण हैं।[78] मत्स्यपुराण में महाभारत के ययाति (अध्याय २४-४२) तथा सावित्री (अ. २०३-२१४) के उपाज़्यान विस्तार से वर्णित हैं। अग्निपुराण तथा गरुड़पुराण में महाभारत तथा हरिवंशपुराण की घटनायें संक्षेप में अवश्य मिलती है।

अग्निपुराण में बारहवें अध्याय में हरिवंश और तेरहवें, चौदहवें एवं पन्द्रहवें अध्याय में महाभारत की घटनाओं का उल्लेख है।[79] यथा-

कृष्णाष्टज़्यां च नभसि अर्धरात्रे चतुर्भुजः,

वसुदेवः कंसभयाद् यशोदाशयनेऽनयत्।। १२.२४

मथुराधिपतिं कंसं हत्वा तत्पितरं हरिः, चक्रे यादवराजानं....। १२.२४

यहाँ पन्द्रहवें अध्याय में मौसलपर्व तथा स्वर्गारोहणपर्व की कथा का भी संक्षेप है। श्रीमद्भागवतपुराण में अवश्य महाभारत कथा के प्रसंग कुछ विस्तार से ललित काव्यशैली में निबद्ध है। प्रथम स्कन्ध में महाभारत युद्ध के बाद की घटनाओं का वर्णन है, जो मुज़्यतः सौप्तिक, मौसल तथा स्वार्गारोहणपर्व से सज़्बद्ध है। यहाँ यह प्रसंग सप्तम अध्याय से आरज़्भ होता है।

यदा मृधे कौरवसृंजयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।

वृकोदराविद्धगदाभिमर्षभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे।।

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वप्तां शिरांसि।

उपाहरत् विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति।।[80]

इसी अध्याय में अर्जुन और कृष्ण के द्वारा अश्वत्थामा को मणिहीन बनाकर द्रौपदी के कहने पर छोड़ देना वर्णित है। अगले अध्याय में अश्वत्थामा के अस्त्र से गर्भस्थ परीक्षित की कृष्ण द्वारा रक्षा, कुन्ती-स्तुति, भीष्म स्तुति, परीक्षित-जन्म, गान्धारी तथा कुन्ती के साथ धृतराष्ट्र

का वन में जाना, अर्जुन का यादवों के संहार के बाद उसकी स्त्रियों और बचे हुए यादव-कुमार वज्र को लेकर आने और कृष्ण के चले जाने से शोक प्रदर्शित करने और पाण्डवस्वर्गारोहण का प्रसंग वर्णित है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों नाम मिलते हैं। आकार की विशालता के कारण ही इसको 'महाभारत' का नाम मिला है। यदि एक लाख श्लोक संज़्या के कारण इसे 'महाभारत' का नाम मिला हो, तब तो ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व इसका अस्तित्व मानना होगा। महाभारत में चन्द्रगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं है, इससे संपूर्ण महाभारत का ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले होने का संकेत मिलता है। अनेक प्राचीन ग्रंथों के परिवर्धित रूपों में अर्वाचीन प्रसंग मिलते हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि मूल रूप में प्राचीन होते हुए भी आगे चलकर इन ग्रंथों का परिवर्धन उन कालों में हुआ है, जिनका संकेत अर्वाचीन संदर्भों से मिलता है।

निष्कर्षत: महाभारत का सनातन महत्त्व महाभारत के स्वरूप, उसकी सामग्री, उसकी रचना और उसके काल के संबंध में विवेचन किया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर महाभारत के अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत की गई है। इनमें विशेष महत्वपूर्ण ग्रंथ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। इन विद्वानों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक अवश्य है, किंतु प्राचीन भारतीय साहित्य की ओर अधिक आदरपूर्ण नहीं। प्राय: पश्चिमी विद्वानों के इन अध्ययनों में भारतीय साहित्य के प्रति तिरस्कार का भाव पाया जाता है। पश्चिमी विद्वानों के अधिकांश अध्ययन ऐतिहासिक ही हैं। वे प्राचीन ग्रंथों की सामग्री, संस्करण, समय आदि के विवेचन को ही अधिक महत्व देते हैं।

महाभारत को एक काव्य भी माना जाता है। काव्य होने के नाते महाभारत का साहित्यिक महत्त्व भी विचारणीय है। ग्रंथ के आरंभ में वेदव्यास ने इसे काव्य ही बताया है।[81] आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में भी महाभारत को काव्य के अंतर्गत माना है।[82] श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य ने कहा है कि 'महाभारत न केवल इतिहास और धर्म का ही ग्रंथ है, किन्तु वह एक उत्तम महाकाव्य भी है।'[83] महाभारत के अधिकारी विद्वान् सुकथनकर ने उसके साहित्यिक सौन्दर्य की बहुत सराहना की है और अपने महाभारत संबंधी ग्रंथ में उसके काव्य-सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण आदि के मर्मस्पर्शी उदाहरण दिये हैं।[84] शैली की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से एक काव्य है। जिस अनुष्टुप के सुन्दर छन्द में वाल्मीकि रामायण की रचना हुई है, उसी अनुष्टुप छन्द में महाभारत का विशाल काव्य भी रचा गया है। यद्यपि महाभारत में काव्य का सौन्दर्य वाल्मीकि रामायण के

समान नहीं है, फिर भी अनेक स्थलों में पर्याप्त काव्य-सौंदर्य मिलता है। ***नववर्ष में हिमालय पर्वत पर गन्धमादन पर्वत के सुंदर वर्णन मिलते हैं। वृक्ष, सीक आदि के वर्णन बड़े सजीव और प्रभावशाली हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, अज्ञातवास, स्वर्गारोहण आदि के स्थल बड़े मार्मिक हैं। इस विशाल काव्य में मंत्रों और अलंकारों का सौंदर्य भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है। ग्रंथ के उपक्रम में महाभारत को सौति ने सुंदर शब्दों और विविध छन्दों से अलंकृत काव्य बताया है।***[85] ***वरदाचारी ने महाभारत की भाषा को सरल, गंभीर और प्रभावशाली बताया है।***[86] ***सुकथनकर ने महाभारत में प्रयुक्त संस्कृत भाषा और अनुष्टुप छन्द को महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपर्युक्त बताया है। शब्दों की विविधता और छन्द की सरल गति उनकी वृद्धि में ऐसे विशाल महाकाव्य के सौन्दर्य के अनुरूप हैं।***[87] ***विन्टरनित्स ने भी अनुष्टुप छन्द को सर्वोत्तम छन्द माना है।***[88] ***सरल, गंभीर और सजीव शैली में लिखित विशाल महाभारत विश्व का एक अद्‌भुत महाकाव्य है। एक महान् प्रबन्ध के आधार ने इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया है। भरतवंशी वीरों के संघर्ष और युद्ध की कथा विशाल होने के साथ-साथ अत्यन्त रोमहर्षक है।***

महाभारत के पात्रों के अद्भुत चरित्र और महाभारत की मार्मिक घटनायें प्रभावशाली काव्य का उपकरण बन गई है। इस विशाल प्रबन्ध काव्य में कथा की विशालता के कारण एक दीर्घ प्रवाह है, जो एक महान् प्रबंधकाव्य के अनुरूप है। बीच में आने वाले उपाज़्यानों से तथा प्रासंगिक धर्मोपदेशों से कथा और काव्य के सौंदर्य में कुछ शिथिलता अवश्य आ जाती है, किन्तु यह विक्षेप भी महाभारत के विशाल प्रवाह में भ्रमरों के समान है। सुकथनकर ने महाभारत के प्रबंध और लक्ष्य की कलात्मक एकता का समर्थन किया है।[89] सामान्य रूप से महाभारत का विशाल प्रबंध काव्य छन्द, अलंकार, भाषा, वर्णन, चरित्र-चित्रण, मार्मिक भाव आदि अनेक काव्य गुणों से परिपूर्ण हैं। आलंकारिक काव्यों की तुलना में सरल और गंभीर शैली के इस महान् काव्य को एक निसर्ग काव्य कहा जा सकता है। यदि आलंकारिक काव्यों की उपमा हम एक सुरचित उद्यान से दें, तो महाभारत को निसर्ग काव्य का एक विशाल वन कहना होगा। विन्टरनित्स ने प्रबंध की अस्तव्यस्तता की दृष्टि से इसे काव्य का वन कहा है।[90] किन्तु उनके इस व्यंग्यपूर्ण आक्षेप को हम एक दूसरे अर्थ में महाभारत के निसर्ग काव्य का निर्देश मान सकते हैं। महाभारत के इस विशाल काव्य-वन में कुछ गहन वीथियाँ भी हैं, जो इसे कालान्तर के निकट ले आती हैं। ये गहन वीथियाँ महाभारत के वे आठ हजार आठ सौ (8800) कूट श्लोक हैं, जिनके

संबंध में व्यास जी ने यह कहा है कि इनका अर्थ केवल मैं समझता हूँ और शुकदेव समझते हैं तथा जिनको समझने के लिए बुद्धिनिधान गणेश को भी क्षण भर ठहरना पड़ता था।[91] यदि सरलता और सौन्दर्य में महाभारत वाल्मीकि रामायण के समान है, तो उसके यह कूट अंश गंभीरता में 'नैषध' और 'शिशुपालवध' के निकट हैं। कथा की विशालता और चरित्रों की अद्भुतता की दृष्टि से महाभारत का काव्य अतुलनीय है। ब्रह्माजी का यह वरदान सत्य ही है कि इससे बढ़कर काव्य कोई भी कवि न लिख सकेंगे।[92]

सन्दर्भ

1 राजशेखर, काव्य मीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण, १/१६

2 डॉ. दास गुप्ता, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ. ५८

3 स्तवः स्तोत्रः नुतिः स्तुतिः - अमरकोष, चौखज़्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1/1/11, पृ. 61

4 संस्कृत हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे,
स्तुतिज़्य व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते - रघुवंश, पृ. 1136

5 गुणकथनं हि स्तुतित्वं, गुणानामसद्भावे स्तुतित्वमेव हीयते। - शास्त्रमुक्तावली, 1-2-7

6 हिन्दी साहित्य कोष, भाग-1, पृ. 945

7 डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, तन्त्र शक्ति, रंजन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ. 16

8 हिन्दी साहित्य कोष, पृ. 944

9 द्रव्यस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम्।। - मत्स्यपुराण, अध्याय 121

10 नमस्कारस्तथाऽऽशीश्च सिद्धान्तोरक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्रलक्षणम्।। - मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 239

11 मंगलमंत्र ण्मोकार : एक अनुचिन्तन, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 11

12 तंत्र शक्ति, डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, पृ. 12-13

13 योगशास्त्र, पृ. 334-335

14 तीर्थंकर : भक्तामर विशेषांक, पृ. 11

15 जैनस्तोत्र साहित्य, महोपाध्याय विनयसागर

16 ऋग्वेद, 2/12/4

17 हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास प्रथम भाग, खण्ड-3, अध्याय 1, पृ. 426

18 रामायण, बालकाण्ड, 15.6-11

19 वही, 15.24-25

20 रामायण, युद्धकाण्ड, 105वाँ सर्ग

21 वही, 117वाँ सर्ग

22 रामायण, उत्तरकाण्ड, 84वां सर्ग

23 वही, उत्तरकाण्ड, 35वां सर्ग

24 वही, 10वाँ सर्ग, श्लोक 16

25 महाभारत, अनुशासन पर्व, 16/12-21, 40-43, 57-60

26 महाभारत, अनुशासन पर्व, 17वें अध्याय में

27 महाभारत सौप्तिक पर्व, 7/6-11

28 महाभारत, भीष्मपर्व, 23/6-9,13-14

29 विष्णुपुराण, 1/4/12, 17,18, 23,ज़ 31-37

30 श्रीमद्भागवतमहापुराण, स्कंध 1/8 अध्याय

31 वही, स्कंध 1/9 अध्याय

32 वही, स्कंध, 2/4 अध्याय

33 वही, स्कंध, 2/9, 3/9, 10/14

34 वही, स्कंध, 5/17

35 वही, स्कंध, 10/02

36 वही, स्कंध, 10/37

37 वही, स्कंध, 10/40

38 रघुवंश, 10/16-22

39 कुमारसंभव, 2/4-15

40 शिशुपालवध, 14/60-69

41 किरातार्जुनीयम्, 18/23-35

42 नैषधीयचरितम्, 21/43-54

43 कटाक्षशतक, मन्दहास्यशतक, पादारविन्दशतक, आर्याशतक तथा स्तुतिशतक - ये पाँचों मिलकर पंचशती रूप में प्रसिद्ध हैं।

44 संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय

45 मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित, चौखज़्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1966, पृ. 220-240

46 काव्यमाला, प्रथम गुच्छक

47 वही

48 बृहत्स्तोत्ररत्नाकर

49 बृहत्स्तोत्ररत्नाकर

50 काव्यमाला 14 वें गुच्छक

51 काव्यमाला में राजानक रत्नकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित

52 कल्याण, श्री शिवाङ्क में आचार्य पं. श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा लिखित लेख जगद्दरभट्ट की स्तुतिकुसुमांजलि में श्लोक सं. 1409 बताई गई है। पृ. 319

53 स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, डॉ. विद्यारानी अग्रवाल।

54 वृन्दावन से श्रीस्तवकल्पद्रुम में प्रकाशित।

55 संस्कृत साहित्य के इतिहास में श्लोक सं. 34 बताई गई है तथा डॉ. पुष्करदत्त शर्मा के संस्कृत साहित्य के इतिहास में 60 पद्यों की संज्या लिखित है।

56 वृन्दावन से श्रीस्तवकल्पद्रुम में तथा सूक्ति सुधाकर, गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित।

57 आलबन्दार स्तोत्र, श्लोक सं. 30

58 आलबन्दार स्तोत्र, श्लोक सं. 63

59 वरदाचारी: ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ. 265, महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 1, श्लोक 383

60 विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः।। - किरातार्जुनीय, 1.7.24

61 अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सन् जुहुधीह पावकम्।। - किरात.1.44

62 महाभारत, वनपर्व, अध्याय 27-40

63 किरातार्जुनीय, 2.30

64 महाभारत, वनपर्व 85/65

65 महाभारत, वनपर्व अ. 84

66 ध्वन्यालोक, पृ. 148

67 महाभारत, सुभाषितावली, 158, 163/165

68 गीता 9/26

69 नैषधीयचरित सर्ग, 1 से 4 तक

70 वही, सर्ग 11-14 तक

71 ध्वन्यालोक 4 उद्योग

72 महा. , आदिपर्व 2.282

73 महा. , आदिपर्व 2.383

74 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 2.384

75 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 2.385, 2.389

76 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 2

77 अभिमन्योरुत्तरायां परिक्षीणेषु कुरुष्वत्थामप्रयुक्तब्रह्मास्त्रेण गर्भ एव ..परीक्षिज्ञज्ञे। -विष्णुपुराण 4.20, 33.53

78 विंटरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर खण्ड-11, पृ. 535

79 अग्निपुराण, 12.1-55

80 श्रीमद्भागवतपुराण, 1.7.13-14

81 आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका 1

82 सी.वी. वैद्य, महाभारत मीमांसा, पृ. 26

83 सुकथनकर, मीनिंग ऑफ दी महाभारत, पृ. 34–37

84 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 1, श्लोक 28

85 वरदाचारी, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ. 49

86 सुकथनकर, मीनिंग ऑफ दी महाभारत, पृ. 42

87 विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, भाग 1, पृ. 461

88 सुकथनकर, मीनिंग ऑफ महाभारत, पृ. 20

89 विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, भाग 1, पृ. 326

90 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 1, श्लोक 81–83; वही, आदिपर्व, अध्याय 1, श्लोक 73

91 वही, आदिपर्व, अध्याय 2, श्लोक 390

92 विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग 1, पृ. 326

पंचम अध्याय

समाजशास्त्रीय दृष्टि से पंचरत्नों का विश्लेषण

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अत: मानव जीवन में सामाजिक विज्ञान का विशेष महत्त्व है। इसके द्वारा पारिवारिक, धार्मिक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन को उत्तम बनाया जा सकता है तथा यह विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में भी सहायक है। सामाजिक विज्ञान का तात्पर्य-समाज की व्यवस्था से है। 'समाज' का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करने वाले विज्ञान का नाम हैं - समाजशास्त्र (Sociology)। वार्ड (Ward) के अनुसार - समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।[1] जार्ज सिज़्मेल (George Simmel) के अनुसार- समाजशास्त्र मनुष्य के अन्त: सज़्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।[2]समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के निज़्नलिखित कारण हैं, यथा -

1. इसमें वैज्ञानिक पद्धतियों जैसे - निरीक्षण (Observation) सामाजिक सर्वेक्षण (Social Survey) जीवन अध्ययन पद्धति (Case Study Method), साक्षात्कार (Interview) आदि का प्रयोग किया जाता है।

2. इसमें तथ्यों का विश्लेषण (Interpretation), वर्गीकरण (Classification), कार्य-कारण सज़्बन्धों (Cause-effect relationships) का अध्ययन किया जाता है।

सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है फिर भी इसके प्रमुख क्षेत्रों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -(1) समाज व्यवस्था - इसमें समाज की वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा पद्धति, सामाजिक परिस्थितियों आदि का अध्ययन किया जाता है। (2) धर्म व्यवस्था - इसमें दान, पूजा, देवता, श्राद्ध आदि का अध्ययन किया जाता है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है।[3] इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मनुष्य' है अत: यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज में मनुष्य के महत्व को निर्धारित करते हुए सामाजिक विज्ञान की नींव डाली है। महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण-

व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था के रूप में दान, संस्कार, देवपूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है।

महाभारत में चित्रित समाज

महाभारत एक आकर ग्रन्थ है। इस महान ग्रन्थ के प्रणेता महर्षि कृष्णद्वैपायन (व्यास) ने इसे पञ्चम वेद कहा है। वैदिक (सनातन) धर्म का सर्वांगीण प्रतिपादन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता हैं उपनिषदों एवं विभिन्न दर्शनों के चरम तत्त्वों का मूल्यांकन महाभारत में हुआ है। अध्यात्मशास्त्र के रूप में इसकी अद्वितीयता कहीं से भी संदिग्ध नहीं है। यह साहित्य का अक्षुण्ण उत्सर्ग और कवियों का प्रेरणा स्रोत आर्ष महाकाव्य है, जिसकी उपजीव्यता स्वयं महर्षि व्यास ने तो घोषित की ही है, परवर्ती सारस्वत सृष्टि प्रमाणित भी करती है। महाभारत केवल प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास ही नहीं प्रस्तुत करता, अपितु यह उस काल के समाज और संस्कृति का एकान्त निदर्शन भी है। विषयवस्तु की व्यापकता और आकार की विशालता का गौरव, महाभारत को विश्व की महनीय कृतियों के शीर्ष पर प्रतिष्ठित करता है जिसकी उपमा कहीं नहीं मिलती। अगाध-अपार उदधि के समान यह ग्रन्थ स्वयं ही अपनी उपमा बना हुआ है। विश्वज्ञान का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं और मानव जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं, जहाँ महाभारतकार की दृष्टि न पहुँची हो-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षम।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[4]

इसीलिए महाभारत का आदर सर्वत्र है और यह सबके लिए उपादेय है। हो सकता है कि महाभारत का प्रारञ्भिक स्वरूप केवल कौरव-पाण्डवों के मध्य युद्ध वर्णन तक ही सीमित रहा हो किन्तु महाभारत के वर्तमान स्वरूप को देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि इसका युद्ध वर्णन गौण हो गया और सत्योन्मीलन तथा मानव-पथ-प्रदर्शन ही इसका प्रधान उद्देश्य हो गया। इस कालजयी ग्रन्थ की महनीयता और सौन्दर्य से मुग्ध तथा विस्मित होकर सभी नतमस्तक हो जाते हैं- **नमः सर्वविदै तस्मै व्यासाय कविवेधसे।**[5]

अंग्रेजी की एक उक्ति का अनुवाद है- मनुष्य एक बुद्धिमान पशु है[6]। जीव विकास की अवधारण के अनुसार ज़ी मनुष्य मूलत: पशु ही है। आज ज़ी इसकी सहज प्रवृत्तियों में इसका पशुत्व सदैव परिलक्षित होता है।

क्रोधावेग में दाँतों और नाखूनों का आयुध के रूप में प्रयोग करना, आज भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। इसमें नीतिकारों ने मनुष्य और पशु के ज़ेदक तत्व को धर्म कहा है अन्यथा आहार, निद्रा, भय और मैथुन- ये चारों सहज प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु में समान रूप से पायी जाती है।[7] बुद्धि के सात्त्विक रूपों में धर्म भी एक है।[8]

अत: उक्त अंग्रेजी कहावत का हमारा शास्त्रानुमोदित अनुवाद होगा- मनुष्य एक धर्मवान् पशु है। इस प्रकार मनुष्य को पशु से श्रेष्ठतर बनाने में बुद्धितत्व या धर्मतत्त्व ही प्रमुख कारण है। महाभारतकार की दृष्टि में भी इस संसार में मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ ज़ी नहीं है:- गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।[9]

संस्कृत कोशकारों ने समूह की दृष्टि से भी मनुष्य और पशु में अन्तर स्पष्ट किया है। पशुओं के समूह को 'समाज' और मनुष्यों के संघ को 'समाज' कहते हैं।[10] इसलिये मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। मनुष्य 'व्यष्टि' है और समाज 'समष्टि'। मनुष्य और समाज का अन्योन्याश्रित सज़्बन्ध है। मनुष्य के बिना समाज का अस्तित्व नहीं है और समाज से पृथक् मनुष्य, मनुष्य होकर नहीं जी सकता। अत: वे एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हैं तथा प्रभावित करते हैं।

मनुष्य का वास्तविक परिचय उसके समाज द्वारा ही होता है। समाज परज़्पराओं और मर्यादाओं से बँधा होता है। समाज में रहने वालों को न केवल उनका पालन करना होता है अपितु उन्हें आगे बढ़ाने, उन्हें सुदृढ़ करने का नैतिक दायित्व भी उन्हीं पर होता है। मनुष्य की जीवन पद्धति, उसका स्वभाव, उसकी रुचियाँ समाज के ही माध्यम से उचित रीति से विकसित होती है और ये समष्टिरूप में नियमित होकर उस समाज की संस्कृति का निर्माण करते हैं। सज़्यता समाज का बाह्य कलेवर और संस्कृति उसका अन्त:करण है। संस्कृति के बिना कोई भी समाज चिरञ्जीवी नहीं होता। अत: समाज की प्राणवत्ता के लिए संस्कृति की भूमिका अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण होती है।

महाभारतकार ने मानवता का विशद-निरूपण किया है। उन्होंने हर दृष्टि से मानवीय पक्षों का सूक्ष्म आलोचन किया है। मनुष्य को प्रत्येक स्तर से जाँचा परखा है और नि:सन्देह, मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखा है न तो इसे देवत्व कोटि में उन्नत किया है और न ही उसे दानव कोटि में अवनत किया है। मानव को मानवेतर दृष्टि से देखने की तनिक भी चेष्टा नहीं हुई है। मानवमात्र के स्वभाव का समुचित मूल्यांकन करने में महाभारतकार ने किसी भी प्रकार का न तो

पक्षपात किया है और न ही पूर्वाग्रह प्रदर्शित किया है। महाभारत में स्वाभाविक और अस्वाभाविक व्यवहार, वृत्तान्तादि का विचित्र समावेश है। महाभारत के स्त्री-पुरुष पात्रों के चरित और चरित्र दोनों ही विचित्र हैं। उनका सामाजिक आचार-व्यवहार और भी विस्मयकारी है। तथापि तत्कालीन अनेक सामाजिक और धार्मिक आचार आज भी भारतीय समाज में यथावत् विद्यमान है। आचार-परज़्परा का अनुशीलन करके हम तत्कालीन मनुष्य के बारे में अच्छी तरह समझ सकते हैं। हम उस काल के समाज को रेखांकित कर सकते हैं, और संस्कृति को भी चित्रित कर सकते हैं। महाभारतकार तो महाकाल की महिमामयी विज़ूति का निर्विकार साक्षी है और अपने इस स्वरूप की रक्षा करते हुए ही उसने इस अद्‌भुत महाकाय ग्रन्थ की रचना की है। उसकी यह महाभारत संहिता वैचित्र्यरस से अत्यन्त समृद्ध है। महाभारतकार अनासक्त भाव से यथार्थ को साहित्य के चौखटे में मढ़कर प्रस्तुत करता है।

महाभारत के पात्रों का संसार, इस संसार से पृथक नहीं है। उनके जीवन की गति भी आम आदमी के जीवन से कोई विशेष भिन्न नहीं है। श्रीकृष्ण (वासुदेव) को भगवदवतार की महिमा से मण्डित करता हुआ भी महाभारतकार अवसर आने पर उनके चरित्र में भी मानवीयता प्रदर्शित करने से नहीं चूकता। महाभारत के पात्रों में, एक महामति महात्मा विदुर को छोड़कर शेष सभी पात्रों के चरित्र में दो-चार दुर्बलतायें अवश्य दृष्टिगोचर होती है। भीष्म, द्रोण, गान्धारी, युधिष्ठिर के चरित्र का अनुशीलन करने से इनमें भी मानवीय दोष स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं, अन्य पात्रों का तो कहना ही क्या, हम वासुदेव श्रीकृष्ण को ज़ी इस श्रेणी में कुछ देर के लिये निश्चय ही खड़ा कर सकते हैं और श्रीकृष्णद्वैपायन, उन्होंने तो बिना किसी झिझक या संकोच या लाग-लपेट के अपने जन्म का वर्णन कर डाला। ऐसा करने में इस सत्यनिष्ठ महर्षि व्यास का कण्ठ तनिक भी नहीं काँपा। स्पष्टवादिता का इससे बढ़कर खरा उदाहरण कहीं ढूँढे न मिलेगा। उस युग में भी समाज कानीन पुत्र को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था और न ही समाज में कोई महत्त्व दिया जाता था तथापि महर्षि व्यास ने अपने जीवन के सत्य पर किसी प्रकार के छलावे का आवरण डालने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया और ऐसा करके उन्होंने जीवन में आडज़्बरहीनता को प्रोत्साहित किया। महर्षि व्यास की यह अपूर्व सत्यनिष्ठापूर्व अभिव्यक्ति की भावना महाभारत में पदे पदे दिखाई पड़ती है। जो जैसा था, ग्रन्थकार ने उसे वैसा ही प्रस्तुत किया है। इसलिये महाभारत के स्वच्छ दर्पण में तात्कालिक समाज और संस्कृति का अनवद्य

प्रतिबिज़्ब स्पष्टतया देखने को मिलता है। महाभारतकार द्वारा सङ्केतित समकालिक समाज और संस्कृति को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है।

महाभारत में वर्णित सामाजिक संरचना तथा व्यवहार

यद्यपि समाज की इकाई व्यक्ति है तथापि सामाजिक संरचना की दृष्टि से 'परिवार' को समाज का इकाई मानना अधिक उपयुक्त होगा। किसी भी समाज के लिये अपने घटक के रूप में 'परिवार' का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। कोई भी समाज तभी उन्नत और सुखी रह सकता है जब उस समाज के परिवारों में सुख-शान्ति और समृद्धि हो। परिवार के बौद्धिक स्तर और संस्कारों के आधार पर ही समाज के भी स्तर और संस्कृति का निर्माण होता है। अत: समाजिक संरचना के मेरुदण्ड परिवार की आन्तरिक संरचना और व्यवहार की जानकारी करना अति आवश्यक है। महाभारत में वर्णित परिवार भी प्राय: भारतीय परिवार से बहुत भिन्न न था। यद्यपि इधर कुछ दशकों से पाश्चात्य प्रभाव से भारत में भी परिवार की परिभाषा कुछ-कुछ बदल रही है; पारिवारिक मर्यादा संकुचित हो रही है और एतत्सज़्बन्धी अवधारणायें भी परिवर्तन के दौर से गुजर रही है तथापि आज भी अधिकांश पारज़्परिक परिवार महाभारत काल के परिवार जैसे ही हैं। उनमें अभी भी वंश की मान-मर्यादा और कुल के गौरव का भाव विराजमान है। वे परिवार सनातन काल से चले आ रहे व्यवहारों का अनुपालन करने में तत्पर हैं।

नियत सज़्बन्ध के फलस्वरूप, परस्पर सहयोग कर भावना से वंशानुगत रूप से मनुष्यों का एक समूह 'परिवार' कहलाता है। परिवार का एक मुज़्य पुरुष होता है जिसे हम प्रधान गृहस्थ कह सकते हैं। गृहस्थ की पत्नी, सन्तान, भाई और उससे सज़्बद्ध जन तथा उस गृहस्थ की पूर्व पीढ़ियों के जीवित सदस्य (यथा प्रपितामह, प्रपितामही, पितामह, पिता और माता आदि) परिवार में रहते हैं। अविवाहिता बहनें और पुत्रियाँ, पौत्रियाँ भी परिवार की सदस्या होती है और विवाह के पश्चात् वे दूसरे परिवार का अंग बन जाती हैं। एकल और संयुक्त परिवार दोनों प्रकार के परिवार परज़्परा से प्राप्त होते हैं। संयुक्त परिवार आकार में बड़ा होता है और उसके सदस्यों की संज़्या अधिक होती है। इसे अविभाजित परिवार भी कह सकते हैं इसके सदस्य कई पीढ़ियों से सज़्बद्ध होते हैं (यथा प्रपितामह, पितामह और पिता के भाइयों के परिवार) परिस्थिति विशेष अथवा व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण जब संयुक्त परिवार टूटते हैं (विभक्त होते हैं) तब एकल परिवार अस्तित्व में आते हैं। व्यावहारिक रूप से परिवार को समाज की इकाई मानना उचित है।

परिवार संगठित रूप से अपने हित में तो कार्य करता ही है, वह समाज के हित में भी कार्य करता है। परिवार के श्रेष्ठजन, परिवार की परज़रा और मर्यादा का ध्यान रखते हुए परिवार का उचित संचालन करते हैं। परिवार के श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं, शेष सदस्य भी उसी का अनुसरण करते हैं।[11] महाभारत काल में परिवार की मर्यादा अक्षुण्ण थी। परिवार के माता-पिता आदि गुरुजन परम श्रद्धा के पात्र थे। वे तीर्थ के समान पूज्य थे।[12] माता-पिता का आशीर्वाद उसकी सन्तान के अज़्युदय मार्ग का पाथेय होता है। अत: पुत्र अपने गुरजन का स्नेह अर्जित करने का प्रयत्न करते थे। जो अपने सुन्दर आचरण और कर्म से माता-पिता को प्रसन्न रखे, वही वास्तव में पुत्र है।[13] अत: यथार्थत: पुत्र वही है जो माता-पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए सदैव तत्पर रहे। महाभारतकार की यह मान्य धारणा थी।[14] पुत्र के लिये माता-पिता ईश्वर ही होते हैं। नौ मास तक गर्भ में धारण कर असाध्य पीड़ाओं को सहन कर माता, सन्तान को जन्म देती है। सन्तान की प्राप्ति के लिये माता-पिता क्या-क्या नहीं करते। तपश्चर्या, पूजा, व्रत मनौतियाँ और न जाने कितने दुष्कर सत्कर्म। सन्तान योग्य और गुणाढ्य हो तो माता-पिता को भी यश-सज़्मान के साथ-साथ अपार परितोष और आह्लाद होता है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। शास्त्रों के कथनानुसार, पवित्र वंश में उत्पन्न सन्तान इहलोक और परलोक में कल्याण के लिए होती है।[15] वे पुत्र ज़ी इहलोक और परलोक में सदैव सुख के भाजन बनते है जो माता-पिता की आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। अतएव पुत्र का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह सर्वतोभावेन अपने गुरुजन अर्थात् माता-पिता की सेवा करे।[16]

सन्तान के लिए माता-पिता में से कौन श्रेष्ठतर है- इस सज़्बन्ध में महाभारत में विचार प्राप्त होते हैं किन्तु उन विचारों में एकमत्य नहीं है। गर्भधारण, प्रसव और पालनपोषण करने के कारण माता सबसे श्रेष्ठ है।[17] पुत्र की इच्छा, तन्निमित्त व्रतादि पालन और सभी संस्कारों को संपन्न करने के कारण पिता श्रेष्ठ कहा गया है। वस्तुत: सन्तान और पिता माता से बढ़कर है।[18]

परिवार में यदि सन्तान को माता-पिता का स्नेह प्राप्त होता है तो वहाँ सुख-समृद्धि सदैव विराजमान रहती है। अत: पुत्र को चाहिए कि वह अपनी शुश्रूषा और आचारण से माता-पिता का प्रीतिभाजन बने। गन्धमादन पर्वत पर महर्षि आर्ष्टिसेण ने इस सज़्बन्ध में युधिष्ठिर से पूछा था- ''पार्थ, तुम माता-पिता की आज्ञा का भली-भाँति पालन करते हो न? गुरुओं और वृद्ध पण्डितों की यथायोग्य पूजा करते हो न?[19] जो गृहस्थ माता-पिता अग्नि, गुरु और आत्मा- इन पाँचों की नित्य पूजा करता है, वह इहलोक-परलोक में सर्वत्र विजयी होता है।[20] पुत्र की हितकामना से

सदैव लगे रहने वाले माता-पिता को सन्तुष्ट रखना, पुत्र का परम कर्तव्य है,[21]। जो पुत्र सत्यनिष्ठा और सदाचारपूर्वक माता-पिता की सेवा और सम्मान करते हैं वे मातृपितृ ऋण से मुक्त हो जाते हैं।[22] माता पिता की आज्ञा का पालन बेहिचक करना चाहिए।[23] माता-पिता की सेवा धर्मबुद्धि से करने के कारण ही 'धर्मव्याध' श्रेष्ठ योगी बनने में समर्थ हुए। सत्यव्रत, पितृभक्त भीष्म, पिता के आर्शीवाद से ही मृत्यु को वश में करने में समर्थ हुए थे।[24] इसके विपरीत माता-पिता का भरण-पोषण न करने वाले, उन्हें त्याग देने वाले और उन्हें अपमानित करने वाले पुत्र शास्त्र और लोक दोनों की दृष्टि में पतित होते हैं और मृत्यु के बाद गर्दभादि निकृष्ट योनि में जन्म लेते हैं।[25] प्रत्येक कार्य के लिये (अच्छे से अच्छा कार्य करने के लिये भी) माता-पिता की अनुमति अवश्य लेनी चाहिए। माता-पिता के दोष पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। पिता की अध्ययन तिथि में गर्भस्थ होते हुए भी दोष देखने के कारण ही ऋषि अष्टावक्र का शरीर आठ जगह से टेढ़ा हो गया था।[26] महाभारत के चिरकारिकोपाज़्यान[27] में माता-पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्यों का विशद निर्देश प्राप्त होता है। जो पुत्र पिता को सन्तुष्ट रखता है वह निखिल ब्राह्माण्ड को सन्तुष्ट रख सकता है।[28] यद्यपि माता-पिता का अपनी सन्तानों पर समान स्नेह होता है किन्तु यदि उनमें से कोई दयनीय स्थिति में है तो माता-पिता का स्नेह उसके प्रति कुछ अधिक होना स्वाभाविक ही है।[29]

महाभारत में 'पितृत्रय' की अवधारणा भी समाज में आदरपूर्वक गृहीत थी। उत्पन्न करने वाला, अन्नादि के द्वारा पोषण करने वाला और भय से मुक्ति दिलाने वाला- ये तीनों ही 'पिता' कहे गये हैं।[30] महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में इसी मान्यता को पुष्ट किया है कि दिलीप, प्रजा की शिक्षा, रक्षण और पोषण के कारण उसके पिता थे। उनके वास्तविक पिता तो मात्र जन्म के हेतु थे।[31]

परिवार में बड़े भाई और बड़ी बहन, अपने छोटे भाई बहनों के श्रद्धेय और पूज्य थे। बड़े भाई को पितृतुल्य कहा गया है और उसका अनुगमन करने का उपदेश दिया गया है। जैसे रामायण में श्रीरामादि चारों भाइयों का वैसे ही महाभारत में युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों का आदर्श भ्रातृप्रेम चित्रित है। भीम आदि उचित-अनुचित का विचार न करके सदैव युधिष्ठिर का अनुसरण करते थे। भ्रातृप्रेम की आदर्श मर्यादा का पालन करते हुए वे युधिष्ठिर के अनुचित कार्यों या निर्णयों का भी विरोध नहीं करते थे, यद्यपि वे अपने अग्रज से बल-बुद्धि में अधिक थे। उन्होंने कहीं भी बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया और दुःख-सुख में सदैव साथ

रहे। भाइयों को छोड़कर युधिष्ठिर ने स्वर्ग में जाना भी अच्छा न समझा।[32] महाभारत में विदुर का भी आदर्श भ्रातृप्रेम प्रदर्शित है। भ्रातृप्रेम की दृष्टि से दुर्योधन के भाइयों को ज़ी प्रशंसनीय कहा जा सकता है। केवल उसके एक भाई ने उसका विरोध किया था। परिवार में बड़े और छोटे भाई का परस्पर व्यवहार कैसा हो? इस विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है। अनुशासनपर्व के इस अध्याय का नाम ही 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ'-वृत्ति है। इसमें भीष्म के उपदेश का सारांश यह है कि बड़े भाई को अपनी ज्येष्ठता का ज़्याल करके अपने छोटे भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि वे बड़े भाई का यथोचित सज़्मान करें। उसमें दीर्घदर्शिता का होना आवश्यक है। यदि बड़ा भाई बुद्धिमान् है तो वह सदा छोटे भाई में दोष नहीं ढूँढा करता। यदि छोटी-छोटी बातों में भी सदैव छोटे भाई में दोष निकाला जायगा तो उसका मन विक्षुब्ध होकर विद्रोह कर सकता है। छोटों का दोष दृष्टि में आने पर कुशलतापूर्वक उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि परायों के बीच छोटा भाई तिरस्कृत किया जायगा तो ईर्ष्यालु शत्रु उसे फोड़कर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार पारिवारिक सज़्बन्धों में दरार पड़ने की सज़्भावना प्रबल हो जाती है। वंश में श्रेष्ठ व्यक्ति के सद्व्यवहार से कुल उज्जवल होता है और उसके असद् आचरण से वंश का गौरव गिरता है। जो बड़ा भाई अपने छोटे भाई का तिरस्कार करता था वह पैतृक सज़्पत्ति के बँटवारे में ज्येष्ठांश पाने का अधिकारी नहीं रह जाता। यदि छोटा भाई कुमार्गगामी हो तो उसे पैतृकधन से वंचित किया जा सकता है। बड़ा भाई पितृतुल्य होता है। छोटे भाइयों को चाहिए कि वे बड़े भाई की आज्ञा का पालन करें और पिता के समान आदर करें।[33] पाण्डवों के परस्पर व्यवहार से हमें उस समय भाईयों के परस्पर व्यवहार का आदर्श रूप देखने को मिलता है। बड़ा भाई अपने छोटे भाइयों से भी परामर्श करके किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता था। छोटे भाई भी बड़े भाई को उचित सलाह देते थे। युधिष्ठिर और उनके अनुजों का व्यवहार भी ऐसा ही था। दुर्योधन भी दु:शासन आदि भाइयों, शकुनि मामा और मित्र कर्ण से सलाह लेता था। विदुर (छोटे भाई) उनके प्रधानमंत्री भी थे यदि कभी धृतराष्ट्र विदुर की सलाह नहीं माँगते थे तो भी अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए विदुर बेझिझक उन्हें उचित परामर्श देते थे। विदुर भीष्म से भी सलाह लेते थे और अपने हितैषी कृष्ण से भी परामर्श करते थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव विदुर का सज़्मान करते थे और दुर्योधनादि कौरव विदुर से कुढ़ते थे किन्तु विदुर का व्यवहार पक्षपातरहित और कल्याणकारी था। विदुर और धृतराष्ट्र का भ्रातृप्रेम किसी माने में कम न था। कभी-कभी पुत्रमोहवश, धृतराष्ट्र को विदुर की सलाह अच्छी नहीं लगती थी, किन्तु धृतराष्ट्र यह अच्छी तरह

जानते थे कि विदुर एक मात्र उनके शुभाकांक्षी है। राजा नल का भी भ्रातृप्रेम आदर्श था। उनका छोटा भाई पुष्कर यद्यपि उन्हें लांछित करता था तथापि उन्होंने उसके द्वारा जीती गई सारी सज़्पत्ति उसे लौटा दी और उसे क्षमा कर दिया।[34]

महाभारत में परिवार के सभी भाइयों को परस्पर मिलजुलकर रहने की शिक्षा दी गई है। भाइयों के बीच पैतृक सज़्पत्ति का विभाजन अनर्थ का हेतु बनता है। कौरव-पाण्डव युद्ध इसका प्रबल उदाहरण है। विभावसु और सुप्रतीक नामक ऋषि भ्राताओं का उपाज़्यान भी इस सज़्बन्ध में प्राप्त होता है। सुप्रतीक अपने बड़े भाई विभावसु के क्रोधी स्वभाव के कारण हमेशा उनसे अलग करने के लिये कहा करता था। इस पर बड़े भाई ने छोटे भाई को समझाया- ''भाइयों का अलग-अलग रहना मूर्खों को ही अच्छा लगता है। अलग होकर भाई धन के मद में अन्धे होकर कलह करते हैं इसलिए कोई भी विवेकशील पुरुष भाइयों के बँटवारे का अनुमोदन नहीं करता। उस समय मीठे मुँह वाले कपटी शत्रु उस कलहाग्नि के लिए ईंधन का काम करते हैं, फलत: दोनों ही पक्ष भस्म (विनष्ट) हो जाते हैं।[35]

महाभारत से उस समय परिवार में बहन की स्थिति के सज़्बन्ध में भी जानकारी मिलती है। बड़ी बहन को माता के समान सज़्मान दिया जाता था।[36] जो व्यक्ति अपनी बहन के साथ शत्रुवत् आचरण करता था वह नरकगामी होता था। बड़े भाई अपनी छोटी बहन के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते थे और उन्हें बहुत मानते थे। श्रीकृष्ण और सुभद्रा का उदाहरण इस विषय में आदर्श व्यवहार का था।

महाभारत काल में पतिहीना (विधवा) बहन के भरण-पोषण का भार भाई भी उठाते थे। भाई के कर्तव्यों में यह भी गिना जाता था।[37] भाई-बहन का मधुर सज़्बन्ध सदा की भाँति महाभारत काल में भी आदर्श माना जाता था किन्तु समाज में ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इसका पालन नहीं भी हुआ है। कद्रू और विनता का वैर प्रसिद्ध ही है। इन दोनों के परस्पर वैर और सौतेले भाई गरुड़ और नागों के वैर का उल्लेख महाभारत में हुआ है।[38]

महाभारत में बड़े भाई की पत्नी को भी माता के समान मानना एक आदर्श व्यवहार था। आज भी समाज में यह आदर्श-परज़्परा विद्यमान है। पाण्डव जब वनवास के लिए गए तब माता कुन्ती को अपने चाचा विदुर के यहाँ छोड़ गए। साधु पुरुष विदुर ने अपनी भाभी कुन्ती को तेरह वर्ष तक अत्यनत सज़्मानपूर्वक अपने यहाँ रखा।[39]

भाभी और देवर का स्निग्ध सम्बन्ध महाभारत काल में भी आज जैसा ही था। छोटा भाई अपनी पत्नी के साथ बड़े भाई के शयनकक्ष में जाता था तो यह अनुचित न था किन्तु बड़े भाई को छोटे भाई के शयनकक्ष में नहीं जाना चाहिए।[40] छोटे भाई की पत्नी के साथ जेठ का व्यवहार शालीन हुआ करता था। आश्रमवासिकपर्व के अनुसर धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी और कुन्ती प्रव्रजित हुई थी और कुन्ती के प्रति धृतराष्ट्र का व्यवहार सदैव स्निग्ध और शालीन रहा। किन्तु स्वार्थान्ध व्यक्तियों द्वारा इस मर्यादा के प्रतिकूल भी आचरण करने के दृष्टान्त महाभारत में प्राप्त होते हैं। दुर्योधन और दु:शासन का द्रौपदी के प्रति दुर्व्यवहार प्रसिद्ध ही है।

महाभारत काल में जामाता (दामाद अथवा जमाई) का भी पर्याप्त आदर होता था। माताओं का कन्याओं के प्रति कुछ विशेष ही स्नेह होता है। इसी कारण स्त्रियों को उनका दामाद कुछ अधिक ही प्रिय होता था।[41] वैसे अभी ज़ी सामान्यतया भारतीय समाज में दामाद का विशेष सम्मान करने की परम्परा है।

परिवार के हर सदस्य के साथ उचित व्यवहार करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति 'मुनि' कहा जाता है।[42] परिवार के प्रति कठोर व्यवहार करने वाला व्यक्ति यदि विशुद्धप्रवृत्ति से जीविकोपार्जन करता है तो भी पाप का भागी होता है। इसकी सारी तपस्यायें व्यर्थ होती है।[43] साधु गृहस्थ परिवार के पोष्य वर्ग के भरण-पोषण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह अतिथि एवं पोष्य वर्ग को भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन करता है। ऐसे भोजन को 'अमृतभोजन' कहा जाता है और ऐसे गृहस्थ को 'अमृताशी' या 'अमृतभोगी' कहा जाता है। गृहस्थ द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले पंचमहायज्ञों में से एक प्रमुख यज्ञ है अतिथि को भोजन कराना। यज्ञ में अवशिष्ट भोज्य वस्तु को 'हवि' अथवा 'अमृत' कहा जाता है। भृत्यवर्ग द्वारा भोजन करने के पश्चात् रसोई में जो भोज्य पदार्थ शेष रहता है उसे 'विधस' कहा जाता है। भृत्यवर्ग के भोजन करके तृप्त हो जाने के पश्चात् भोजन करने वाला सद्गृहस्थ 'विधसाशी' संज्ञक होता है। 'अमृत' और 'विधस' भोजन करना गृहस्थ के लिये वांछनीय होता है। गृहस्थ को ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य, अतिथि, आश्रित वृद्ध-शिशु रुग्ण, मूर्ख, विद्वान्, ज्ञाति एवं दूसरे कुटुम्बीजनों तथा सम्बन्धियों के साथ रहना पड़ता है। परस्पर मैत्री और प्रेम का व्यवहर करना चाहिए। परस्पर द्वेष और कलह से दूर ही रहना चाहिए। परिवार में माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, सगोत्र स्त्री-पुरुष तथा भृत्यों के साथ उदार और सद्व्यवहार करना चाहिए। कृपण नहीं होना चाहिए। जो सद्गृहस्थ अपने परिवार के भरण-पोषण में सदैव सतर्क रहता है, अपने कर्तव्य से

प्रमाद नहीं करता वह कभी जी विरक्ति का अनुभव न करता हुआ सबका सम्मान्य होता है और लोक में महापुरुष कहा जाता है। वह पुरुष श्रेष्ठ तीनों लोकों को जीतने में समर्थ होता है। आचार्य की पूजा से ब्रह्मलोक, माता-पिता की भक्ति से प्रजापतिलोक, अतिथि-सेवा से इन्द्रलोक तथा ऋत्विक् की पूजा करने से देवलोक का अधिकार प्राप्त होता है। बड़ा भाई पिता के समान, पत्नी और पुत्र स्वशरीर, भृत्यवर्ग अपनी छाया और पुत्री करुणा की मूर्ति होती है। इनके अपराध (अनुचित कर्म) को क्षमा करना सद्गृहस्थ का धर्म कहा गया है। धर्मपरायण गृहस्थ द्वारा अविश्रान्त परिश्रम करके उपार्जित शुद्ध आजीविका द्वारा परिवार की हित कामना करना ही उसकी श्रेष्ठ तपस्या है। साधु गृहस्थ सदैव मनोवांछित सुख का उपभोग कर सकता है। परिवार एवं सगे सम्बन्धियों के भरण-पोषण से मिलने वाले आनन्द की तुलना में गृहस्थ के लिए स्वर्ग सुख भी तुच्छ होता है।[44]

महाभारत में ज्ञाति वर्ग के गुण-दोष का वर्णन विशद से हुआ है। ज्ञाति का अर्थ है पितृवंश में उत्पन्न मनुष्य। किसी गृहस्थ के बृहत्कुटुम्ब के अन्तर्गत ज्ञाति जन आते हैं। आज के समाज में इन्हें 'दायाद' या 'पट्टीदार' के रूप में जाना जाता है। ज्ञाति के दोषों के विषय में महाभारतकार का कथन है कि ज्ञातिजनों से उसी प्रकार भय होता है जैसे भय मृत्यु से होता है। ज्ञाति के समान सम्पत्ति का लोभी कोई अन्य नहीं होता। जिस प्रकार अपने पड़ौसी राज से एक सामन्ती राजा ऐश्वर्य-बल-बुद्धि देखकर कुढ़ता है, उसी तरह एक ज्ञातिजन दूसरे ज्ञातिजन की समृद्धि और सुख से ईर्ष्या करता है। किसी उदार, सरल, मृदुभाषी, सुशील और सत्यवादी मनुष्य के विनाश की इच्छा उसका ज्ञातिजन ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं।[45]

ज्ञाति में केवल दोष ही नहीं होता, गुण भी होता है। महाभारत में ज्ञाति के दोष के तत्काल बाद गुण का भी कथन किया गया है। जिसके सम्बन्धियों में ज्ञाति नहीं होता, वह कभी सुखी नहीं रहता। ज्ञातिविहीन मनुष्य की लोग अवज्ञा करते हैं। शत्रु उसे सरलतया पराभूत कर देते हैं। जो मनुष्य सबसे उपेक्षित और परित्यक्त हो जाता है उसे ज्ञाति ही आश्रय देते हैं। ज्ञातिजन अपने सम्बद्ध लोगों का अपमान नहीं सहन कर पाते।[46] असहाय वृद्ध ज्ञाति को आश्रय देना सभी कल्याणकामी मनुष्यों का कर्तव्य है।[47] महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि गुणहीन ज्ञातियों पर भी दया करनी चाहिए। ज्ञातियों में परस्पर मधुर-सम्बन्ध होना चाहिए और यह सम्बन्ध सहभोज और आपसी बोल-चाल से होता है। सज्जन ज्ञाति दूसरे ज्ञाति का विपत्ति से उद्धार करता है और दुर्जन ज्ञाति उसे विपत्ति में डालता है। यदि वैभवशाली ज्ञाति के आश्रय में

रहकर कोई ज्ञाति कष्ट पाता है तो आश्रयदाता निश्चय ही पाप का भागी होता है।[48] जो व्यक्ति अपने गुणसज़्पन्न ज्ञाति से ईर्ष्या करता है, लक्ष्मी उसका परित्याग कर देती है।[49]

जिन ज्ञातियों में सदैव परस्पर विरोध रहता है, शत्रु उन्हें आसानी से पराभूत कर देते हैं। आपसी कलह से कौटुज़्बिक शक्ति का क्षय होता है। मिलकर रहने, परामर्शादि करने से ज्ञातिवर्ग को लाभ पहुँचता है। परस्पर सहानुभूति और सद्व्यवहार रखने से ज्ञातियों की शक्ति विकसित होती है।[50] वचन और व्यवहार से ज्ञातियों का यथोचित सज़्मान करना चाहिए। दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। ज्ञाति पर मन से भले ही विश्वास न हो किन्तु प्रत्यक्षत: तो विश्वस्त के समान व्यवहार करना वाँछनीय है। जो मनुष्य ज्ञाति की भावनाओं को समझकर अच्छी तरह सोच-विचार कर उसके साथ व्यवहार करता है, वह शत्रु को भी मित्र बना सकता है।[51] ज्ञाति सज़्बन्ध के मूल में व्यवहार ही प्रधान होता है।

यदि ज्ञाति पर विपत्ति पड़ी हो तो ज्ञाति-बन्धु का कर्तव्य है[52] कि विपत्ति से उसका उद्धार करे। महाभारत में इस सज़्बन्ध में कौरवों के साथ हुयी एक घटना का वर्णन प्राप्त होता है।[53] गन्धर्वो द्वारा दुर्योधन को पराजित करके बन्दी बना लेने के पश्चात् जब इसका पता वनवासी पाण्डवों को लगा तो भीम परम प्रसन्न होकर कहने लगे- ''चलो अच्छा हुआ। हम लोगों के लिए जो कार्य कठिन था, उसे गन्धर्वों ने कर ही डाला। गन्धर्वों ने वस्तुत: हमारे मित्र जैसा कार्य किया है।'' भीम के मुख से ऐसा सुनकर युधिष्ठिर को खेद और क्रोध हुआ। उन्होंने भीम को फटकारते हुए कहा- ''यह आनन्द का समय नहीं है ज्ञातियों के आपसी कलह के कारण कुल मर्यादा को नष्ट होने देना उचित नहीं है। हमारे ज्ञाति पर आक्रमण की दशा में हम प्रसन्न होकर चुप बैठे रहें- यह कैसे हो सकता है?'' इस प्रकार नीतियुक्त वचनों से भीम को समझाकर युधिष्ठिर ने भीम और अर्जुन को दुर्योधन के उद्धार के लिए भेजा और उन दोनों ने जाकर दुर्योधन को गन्धर्वों से मुक्त कराया।[54] टीकाकार नीलकंठ ने युधिष्ठिर की एक उक्ति (अन्यत्र से) उद्धृत की है जिसका अर्थ है कि आपसी विरोध के समय हम पाँच भाई एक ओर और दुर्योधनादि सौ भाई दूसरी ओर किन्तु बाहरी विरोध होने पर हम सब मिलकर एक सौ पाँच भाई हैं।[55] बाह्य आक्रमणों के समय भारत में भी परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त वाले राजनैतिक दलों द्वारा इसी प्रकार की एकजुटता दिखाई गई है।

महाभारत कालीन समाज में ज़ी, आज की ही तरह, ज्ञाति (जाति-विरादरी) के लोगों के आपसी कलह को मिटाने के लिए मध्यस्थता की जाती थी। दोनों पक्ष के मानिन्द लोग दोनों पक्षों

को समझा-बुझाकर विवाद की जड़ नष्ट करने की चेष्टा करते थे। कौरवों-पाण्डवों के मध्य उत्पन्न राज्य के बँटवारे के विवाद का निपटारा करने का प्रयत्न श्रीकृष्ण ने दूत बनना स्वीकार किया था। उन्होंने अपने दौत्य कर्म के सज़्बन्ध में विदुर से कहा- ''महात्मा विदुर! मैं इस विवाद को सुलझाने का पूरा प्रयत्न करूँगा। मित्रों के संकट में जो सहायक बनकर नहीं पहुँचते, विद्वान् उसे 'नृशंस' कहते हैं। ज्ञाति-कलह में जो दोनों पक्षों को समझा-बुझाकर शान्त नहीं करते, वे मैत्री के योग्य नहीं होते। यदि मैं ऐसा नहीं करूँगा तो लोग मुझे लांछित करेंगे कि कृष्ण ने समर्थ होते हुए पहल नहीं की।[56] समाज में मैं कलंकित न होऊँ- ऐसा ही सोचकर मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ। कहना न होगा कि मात्र दुर्योधन के दृढ़ और दुराग्रह के कारण श्रीकृष्ण का शान्ति प्रयत्न सफल न हुआ। उस काल में समाज में दुर्योधन जैसे लोग भी थे जो अपने स्वार्थ, लोभ और व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से न केवल अपने आदरणीय जनों का अपमान करते थे अपितु समूचे समाज को भीषण कलह (युद्ध) की आग में झोंक कर सर्वनाश तक करा डालते थे।

अन्य सामाजिक व्यवहार

महाभारत में कौटुज़्बिक व्यवहारों के अतिरिक्त उस समय समाज में प्रचलित उन व्यवहारों और रीतिरिवाजों का भी उल्लेख मिलता है जो आज भी समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

महाभारतकाल में भी मनुष्य के श्रेष्ठ गुणों में अभिवादनशीलता गिनी जाती थी और अभिवादन का फल भी उत्तम था।[57] गुरुजनों का अभिवादन करना नित्य कर्म था। प्रातः काल शय्यात्याग करते ही गुरुजनों का अज़िवादन करने की परज़रा थी।[58] घर से बाहर अथवा परदेश जाते समय बड़ों के चरण छूकर प्रणाम करने और आशीर्वाद लेने की प्रथा उस युग में भी थी। देव, विप्र और उपस्थित गुरुजनों को प्रणाम किए बिना कोई भी यात्रा प्रारज़्भ नहीं करता था।[59] कहीं बाहर से आने पर भी ऐसा ही करने का रिवाज था।[60] अभिवादन के अनेक प्रकार मिलते हैं। अभिवादन करते समय अपने नाम का का उच्चारण करने अथवा परिचय देने की प्रथा भी थी।[61] बड़ों के पाँवों में सिर नवाकर अथवा चरण स्पर्श करके प्रणाम किया जाता था और बड़े लोग सिर सूँघकर अथवा कर स्पर्श कर अथवा आलिंगन करके आशीर्वाद देते थे अथवा अपना स्नेह प्रकट करते थे। लोग कुशल-क्षेम के साथ-साथ शील-वान व्यवहार-विषयक ज़ी प्रश्न करते थे और यथोचित उत्तर पाकर प्रीति व्यक्त करते थे।[62] अन्य लोगों के माध्यम से भी अभिवादन (प्रणाम आशीर्वाद) प्रेषित किया जाता था।[63]

खाई जाती थी। भीम ने जटासुरवध के विषय में इसी प्रकार की सौगन्ध खाई थी- ''राजन्, मैं आत्मा, भ्रातृगण, धर्म, सुकृत और इष्ट की शपथ खा कर कहता हूँ कि इस राक्षस का वध अवश्य करूँगा।''[64] कुरुसभा में दुर्योधन के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध ज़ीमसेन ने क्रोधपूर्वक शपथ ली थी- ''युद्ध में यदि तुज्हारी जाँघे न चीरूँ तो मुझे पितरलोक में स्थान न मिले।[65] अर्जुन-वध के विषय में सप्तममहारथियों की शपथ ''आज यदि अर्जुन का वध किए बिना लौटूँ तो अव्रती, ब्रह्मघाती, शराबी, गुरुदाररत आदि पापियों की गति हमें भी मिले।''[66] अभिमन्यु ने युद्ध में जाते समय कसम खाई थी= ''यदि आज मुझसे कोई भी शत्रु बच जाय तो अर्जुन मेरे पिता नहीं और सुभद्रा मेरी माता नहीं।[67] जयद्रथ-वध के लिए अर्जुन की भी शपथ- ''यदि कल सायंकाल तक मैं युद्ध में जयद्रथ को न मार डालूँ तो मुझे वीरगति न मिले, मैं मातृपितृघाती आदि की गति पाऊँ।[68] महाभारत में भीष्म-प्रतिज्ञा प्रसिद्ध ही है। भीष्म ने दुर्योधन को भीषण युद्ध करने का वचन दिया। भीष्म द्वारा पाण्डव सेना का संहार और अर्जुन पर प्राणघाती प्रहार देखकर श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते हुए भीष्म से युद्ध करने के लिए रथ से उतर कर आगे बढ़े। अर्जुन ने उन्हें भी उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर युद्ध से विरत किया और स्वयं भीष्म को मारने की शपथ खाई।[69] वितस्तैन्योपाज़्यान में अनेक प्रकार की शपथों का उल्लेख मिलता है- जिसने चोरी की हो, वह गाय को पैर लगाये, सूर्य की ओर मुँह करके मूत्र विसर्जन करे, अनध्याय के दिन अध्ययन करे, शरणागत की हत्या करे, झूठी गवाही दे, पानी में मलमूत्र का विसर्जन करे[70] इत्यादि। अर्थात् इन सब कार्यों को करने से जो पाप लगता है, वह चोरी करने वाले को लगे।

महाभारत में प्रतिज्ञाओं, शपथों, कसमों और सौगन्धों के उल्लेखों तथा प्रकारों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में शपथ लेने या कसम खाने का व्यापक प्रचलन था और किसी कार्य को अच्छी तरह अंजाम देने के लिए ही इस प्रकार की शपथ ली जाती थी। किसी को उत्तेजित करने के लिए ज़ी शपथ दिलाई जाती थी। दुर्योधन ने अर्जुन से कहा था कि यदि तुम पाण्डु के पुत्र हो तो अपने सभी दिव्यास्त्रों का मुझ पर प्रयोग कर डालो।[71]

सगे-सज़्बन्धी जब कहीं रिश्तेदारी-नातेदारी में जाते थे तब उन्हें वहाँ से जाने के लिए कहना शिष्टाचार के विरुद्ध था, कई-कई दिन बीत जाने पर भी 'अब जाइए' या 'अब आपका यहाँ से जाना उचित है' इत्यादि कहकर किसी को अपने घर से विदा नहीं किया जाता था। आए हुए सज़्बन्धी का वापस जाना किसी प्रयोजनवश अनिवार्य होते हुए भी अपने मुँह से कहकर भेजना उचित नहीं समझा जाता था। द्रौपदी के विवाह के बाद भी द्रुपद के यहाँ रुके पाण्डवों को

लाने के लिए जब धृतराष्ट्र ने विदुर को भेजा तब राजाद्रुपद ने विदुर से कहा था कि यद्यपि इनका जाना अति आवश्यक है किन्तु जाने के लिये मेरा कहना तो उचित नहीं था।[72] सगे सज़्बन्धियों के यहाँ जाने पर जब वहाँ से विदा लेने का समय होता था तो वहाँ सबसे मिलकर यथायोग्य अभिवादन करके प्रस्थान करने की परज़्परा थी।[73] भारतीय समाज में आज भी विदाई की यह रीति प्रचलित है।

आर्यजन अर्थात् शिक्षित, सज़्य और वैदिक आचार का पालन करने वाले लोग अपशब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। व्यवहार में ऐसे लोग गाली-गलौज या कपट (छल प्रपंच) का आश्रय नहीं लेते थे। परस्पर सज़्भाषण में भाषा के विशुद्ध शब्दों का प्रयोग होता था। प्रादेशिक या अस्पष्ट और असंगत शब्दों को ज़्लेच्छ शब्द कहा जाता था। जो व्यक्ति इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते थे उन्हें समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[74]

कभी किसी विशेष अवसर पर यदि किसी को अन्त:पुर में प्रवेश करना होता था तो वह व्यक्ति दोनों हाथ जोड़े हुए नजरें अपने पैरों पर गड़ाये हुए अन्दर जाता था। ऐसा नियम प्रवेशकर्ता के शुद्ध संयत भाव को बनाये रखते के लिए आचरण के अन्तर्गत था।[75]

अपने से बड़ो को 'तुम' कहने के बहुत से उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। यदि 'तुम' का सज़्बोधन अपमान करने के उद्देश्य सेथा तो यह गर्हित था। एक बार युधिष्ठिर द्वारा गाण्डीव की निन्दा कर दिये जाने पर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के कारण युधिष्ठिर का वध करने के लिये उद्यत हो गये। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि युधिष्ठिर को 'तुम' कहकर सज़्बोधित कर दो। सज़्मानित व्यक्ति को जब तक सज़्मान मिलता रह तभी तक वह जीवित रहता है, अपमान ही उसकी मृत्यु होती है। युधिष्ठिर को 'तुम' कहने मात्र से उनकी मृत्यु हो जायेगी। क्योंकि अपने से बड़ों को 'तुम' कहकर उनकी अवज्ञा करना उनकी हत्या करने के समान है।[76] यदि 'तुम' कहने में अवज्ञा का भाव न हो तो तुम कहना कोई अपराध नहीं है। बड़े भाई का नाम लेकर भी पुकारा जाता था। अर्जुन कभी-कभी ज़ीम को उनका नाम लेकर पुकारते थे। किन्तु उसमें अवज्ञा का ज़ाव नहीं होता था। श्रद्धेय व्यक्ति के साथ अवज्ञा का व्यवहार कथमपि उचित नहीं माना जाता था।[77] सामाजिक व्यवहार की यह मर्यादा आज भी सुरक्षित है।

किसी को अपमानित करने अथवा अपराधी को दण्ड देने के लिये उसके सिर के बाल पाँच स्थानों पर थोड़ा थोड़ा छोड़कर शेष काट दिया जाता था या मूड़ दिया जाता था। भीमसेन ने द्रौपदी का अपहरण करने के अपराध में जयद्रथ को यही दण्ड दिया था।[78] क्षमा चाहने वाला

विजित व्यक्ति विजेता से ''मैं आपका दास हूँ'' कहकर ही क्षमा पा सकता था सार्वजनिक रूप से इस प्रकार की स्वीकारोक्ति अत्यन्त अपमानजनक समझी जाती थी।[79] महाभारतकाल में भी अपमानित करने के लिए धक्का देने का प्रचलन था किन्तु बहुत प्रभावशाली व्यक्ति ही किसी को धक्का या गर्दनियाँ (अर्द्धचन्द्र) देने का साहस करते थे।[80]

किसी व्यक्ति के हास्यास्पद आचरण को देखकर अट्टहास करना उसका उपहास माना जाता था। पुरुषों के अस्वाभाविक आचरण पर स्त्रियाँ भी अट्टहास करती थीं।[81]

महाभारतकालिक समाज में नारी

भारतीय समाज में नारी का स्थान सदैव से सम्मानित और गौरवपूर्ण रहा है- ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।'' यदि उसका मातृत्व महनीय और अतिश्रद्धेय है[82] तो कन्यात्व, भगिनीत्व और भार्यात्व भी कम सम्मान्य नहीं। इन मान्यताओं से परे कहीं नारी निन्दित भी है और उसे नरक का द्वार भी कहा गया है। किन्तु यह सर्वमान्य आदर्श नहीं है। आचरण और चरित्र की भ्रष्टता नारी ही नहीं नर को भी हेय और निन्द्य बना देती है और उस स्थिति में वे दोनों ही समाज के लिये अभिशाप बन जाता है। यह बात अलग है कि पुरुष प्रधान समाज अपनी कमजोरी भी नारी के मत्थे मढ़ दे। आज भी स्त्रियों पर पुरुषों के आधिपत्य और अत्याचार के वृतान्त ही अधिक मिलते हैं। समाज के बराबर की हिस्सेदारी वाली स्त्री आज भी ''न स्वातन्त्र्यमर्हति'' के शिकंजे में कसी हुई है। महाभारत के अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाज नारी के प्रति आज की अपेक्षा कहीं अधिक उदार था।

स्त्री-पुरुष का मेल ही गार्हस्थ्य है। गार्हस्थ्य-निर्वाह में नारी का विशिष्ट स्थान है। महाभारत में उसके अधिकार का क्षेत्र प्रशस्त है। महाभारत में जिन नारियों का उल्लेख हुआ है, उनमें दायित्वबोध और अधिकार-अनुकूलन की क्षमता विद्यमान थी। द्रौपदी द्वारा राजकोष का दायित्व संभालना और गान्धारी का मन्त्रणा-सभा में साहयर्च- इसी तथ्य को प्रकाशित करता है। उस काल की नारियाँ पूर्ण अर्थों में पुरुष की कर्मसंगिनी थीं। महाभारत में जिन नारी-चरित्रों से हमारा परिचय होता है,[83] उनका स्वरूप केवल नारीत्व तक ही सीमित नहीं है अपितु उनका पुरुषत्व भी पूर्णत: प्रकाशित है। अपने नारीत्व और पौरुष से वे समाज को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं। उनकी महिमा और पूर्णता बहुत ही उच्चकोटि की है।

भारतीय समाज में कन्या का जन्म सुखद नहीं माना जाता है क्योंकि वधू को पुत्र-प्राप्ति के अतिरिक्त कन्या-प्राप्ति का आशीर्वाद देने की न तो परम्परा ज्ञात है और न उल्लेख ही। अपितु

'कन्यापितृत्व' को दु:खरूप माना गया है।[84] किन्तु महाभारतकालिक समाज में सम्भवत: कन्या को लेकर इस प्रकार की कोई दुश्चिन्ता नहीं थी। कन्या का जन्म पिता के लिये भार मानने का कोई उदाहरण महाभारत में नहीं प्राप्त होता। पुत्र और कन्या में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं माना जाता था। महाराज शान्तनु ने वन में पड़े कृप और कृपी का तथा महाराज अश्वपति ने सावित्री के सभी संस्कार कराये थे।[85] विवाह के पूर्व कन्या को पिता के घर में ही अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कुमारियाँ पूजा-अर्चना जी करती थीं और अतिथि सेवा में भी नियुक्त होती थी।[86] सन्तानहीन व्यक्ति पुत्र के समान कन्या को भी दत्तक सन्तान के रूप में लेते थे।[87] वे अपनी कन्या के समान लालन-पालन करते थे।

कन्यायें पिता के घर के काम-काज में पर्याप्त सहायता करती थीं। पिता के आदर्श से धीवर कन्या सत्यवती नाव द्वारा यात्रियों को नदी पार कराती थी।[88] कुन्ती और शकुन्तला अतिथिसपर्या में नियुक्त थीं।

कन्या के अभिभावक उसका विवाह किसी उपयुक्त वर के साथ करते थे। वय: प्राप्ता कन्या के विवाह का प्रस्ताव प्राय: वरपक्ष से आता था। कन्यापक्ष द्वारा वरान्वेषण की प्रथा थी। स्वयंवर जी आयोजित किया जाता था और वर ढूँढने या वर-चयन करने में कन्या को भी स्वतन्त्रता थी। प्राय: कन्यायें विवाहित होकर घर-गृहस्थी चलाती थीं किन्तु कोई-कोई कन्या आजीवन कुमारी रहकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का भी पालन करती थी। योगिनी सुलभा नामक कन्या का वृत्तान्त महाभारत में विशदतया वर्णित है।[89] नारी के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के विरोध में महाभारत में मात्र एक उदाहरण मिलता है जहाँ देवर्षि नारद ने कुणिगर्ग की कन्या (वृद्धा तपस्विनी) से कहा कि विवाहिता न होने से तुझें अच्छे लोक की प्राप्ति न होगी।[90] फलत: उस कुमारी वृद्धा तपस्विनी ने प्राक्श्रृगवान् नामक ऋषिकुमार से विवाह करने के बाद परलोकगामिनी हुयी।

महाभारत काल में स्त्रियाँ स्वायत्त या स्वतन्त्र न थीं। वे बाल्यावस्था में पिता, यौवन में पति और वार्धक्य में पुत्र के अधीन रहती थीं।[91] विवाहित स्त्रियों का पिता के घर बहुत अधिक समय तक रहना अच्छा नहीं माना जाता था।[92] किन्तु सन्तानविहीन निराश्रित विधवायें पिता के घर भी रहती थीं।[93] विवाहिता स्त्रियों के लिए पति का घर ही उनका अपना घर होता है और वे अपना जीवन उसी घर को सजाने-सँवारने में बिताती हैं, किन्तु प्रयोजनवश वे कुछ काल के लिये समय-समय पर पिता या अन्य सम्बन्धियों के घर भी जाती हैं। ऐसा महाभारतकाल में भी

प्रचलित था। पाण्डव जब वनवास के लिये चले गए तो सुभद्रा आदि स्त्रियाँ अपने-अपने बच्चों के साथ पितृगृह चली गई थीं। उनके भाई आकर लिवा गये थे।[94]

महाभारत में पातिव्रत धर्म पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। विवाहित स्त्री का परमधर्म पतिभक्ति था। पति के साथ ही उसके कुटुज्ब की देखभाल करना और सबको सन्तुष्ट रखना एक सद्गृहिणी का प्रधान कार्य माना जाता था।[95] घर-बाहर, सर्वत्र नारी अपने पति की परम सहायिका और सहधर्मिणी मानी जाती है। वह गृहलक्ष्मी के रूप में प्रतिष्ठित है। महाभारत में नारी के उत्कर्ष के लिए सतीत्व की रक्षा को मुज़्य स्थान दिया गया है। पत्नी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह पुरुष की अर्धांगिनी, श्रेष्ठ मित्र और त्रिवर्ग की मूल है।[96] जो मनुष्य साध्वी प्रियंवदा भार्या से रहित है उसके लिये घर और वन समान है।[97] पत्नी की साधुता से जीवन मधुर होता है धर्मार्थ काम, सन्तान और पितृतृप्ति पत्नी के ही अधीन है। पत्नी के साथ सद्व्यवहार करना चाहिए।[98]

स्त्री जाति सर्वदा- सर्वथा पूज्य है। जिस परिवार में स्त्रियों को मन:क्लेश होता है उस परिवार में शुभकार्य विफल हो जाते हैं।[99] परिवार में भार्या के पति किस प्रकार का आदर होना चाहिए यह हमें युधिष्ठिर के वचन से ज्ञात होता है ''यह द्रौपदी हमारी प्रिया पत्नी, प्राणधिक प्रियतमा है, माता की तरह परिपाल्या है और ज्येष्ठा भगिनी के समान पूज्या है।[100]

धीरता, कोमलता और प्रियजन के प्रति व्याकुलता नारी के स्वभावगत गुण हैं।[101] नारी का स्वभाव मधुर होना चाहिए। अनन्यचित से पति की सेवा करने मात्र से साधारण स्त्री ज़ी असाधरण सिद्धि प्राप्त कर सकती है।[102] जो पत्नी पति के कठोर वचन से भी विचलित न होकर प्रसन्नमुखी और सद्व्यवहारकारिणी बनी रहे वही सच्ची पतिव्रता है।[103] दीन, दरिद्र, रोगी और श्रान्तक्लान्त पति की सेवा पुत्र की तरह करने वाली नारी ही धर्मचारिणी कही गई है।[104] उस काल में पतिव्रता एवं उत्तम गृहिणी होना समाज का आदर्श था।

महाभारत में सामान्य गृहिणी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह गृहिणी तपस्विनी है तो प्रात: अंधेरे उठकर गृहकार्यों में लग जाती है, गोबर से लीप-पोतकर घर को साफ सुथरा करती है। भोजन बनाती है। देवकार्य और अतिथिसेवा में सहायता करती है। परिवार के सदस्यों को खिलाकर तब खाती है और सास-ससुर के प्रति भक्ति रखती है।[105] सास की बुराई करते फिरना, सास से सदा घर के काम कराना और पति से दुर्व्यवहार करना- अत्यन्त गर्हित कहा गया है।[106] परिवार की जिज़्मेदारी अच्छी तरह सज़्भालना गृहिणी का कर्तव्य है।[107] भोजन के

सम्बन्ध में सबकी खोज-खबर लेना स्त्रियों का ही कार्य था। विशेष प्रयोजन के अवसरों पर स्वयं भूखी रहकर अन्य सबका ख़्याल रखने और बड़े तरतीब और तरकीब से सारा कार्य सम्भालने में महाभारतकाल की स्त्रियाँ निपुण थीं।[108] बड़े घरों की स्त्रियाँ पालकी में बाहर जाती-आती थी।[109] महिलाओं को घर से बाहर जाने के लिए बड़ों की अनुमति लेनी पड़ती थी।[110] सभा-समितियों में स्त्रियों के बैठने की पृथक् व्यवस्था होती थी।[111] विवाह में दहेज के रूप में अथवा उपहार के रूप में नारियाँ प्रदान की जाती थीं।[112]

महाभारतकालिक समाज भी लम्पट मनुष्यों से रहित न था और वे स्त्रियों के साथ दुराचार से बाज न आते थे।[113] बलात्कार से पीड़ित महिलाओं की समाज निन्दा न करता था अपितु उसके साथ सहानुभूति ही रखता था।[114] अभिजात कुलों में विधवाओं की स्थिति अच्छी थी किन्तु सामान्य घरों की विधवायें बड़ा ही दीन-हीन उपेक्षित जीवन बिताती थीं।[115]

कुछ सती स्त्रियाँ पति की मृत्यु के बाद उसके साथ ही चितारोहण कर जाती थी।[116] पति के सामने अपनी मृत्यु हो जाने को महिलायें अपना सौभाग्य समझती थीं।[117]

महाभारतकाल में भी बहुपत्नी प्रथा विद्यमान थी। ऐसे सपत्नियों (सौतों) का होना स्वाभाविक ही है। सपत्नियों में परस्पर सौहार्द की बात किसी भी काल में प्रायः नहीं सुनाई पड़ती। महाभारत में ही सपत्नीविद्वेष की अनेक घटनायें वर्णित हैं। कश्यप की पत्नी कद्रू का विनता के साथ सौतिया डाह अति प्रसिद्ध है। विनता को दासी बनाने के लिए कद्रू ने अत्यन्त जघन्य कार्य किया था।[118] महाराज पाण्डु की पत्नियों कुन्ती और माद्री में ज़ी कोई विशेष स्नेह न था। महाभारत में कई स्थलों पर उनके आपसी द्वेष की झलक मिलती है। कुन्ती के पुत्रवती हो जाने पर माद्री को अपुत्रा होने का अतिशय सन्ताप था और वह कुन्ती के प्रति ईर्ष्यालु हो चली थी। सपत्नी होने के कारण वह स्वयं कुन्ती से नहीं कह सकी और उसने पाण्डु से ही कुन्ती को मन्त्रविधि बता देने के लिए कहलवाया। तब कुन्ती द्वारा आवाहन मंत्र बतलाने पर माद्री ने भी उस मन्त्रप्रयोग से दो पुत्रों को जन्म दिया। माद्री ने जब दूसरी बार पुनः मन्त्र बतलाने का आग्रह किया तब कुन्ती ने उसे साफ मना कर दिया क्योंकि उसे आशंका हो गयी कि यदि इस बार भी माद्री ने दो पुत्रों को जन्म दिया तो उसके पुत्रों की संख़्या उससे अधिक हो जायेगी।[119] अर्जुन ने जब सुभद्रा से विवाह किया द्रौपदी अत्यन्त क्रुद्ध हुई थी।[120] मन्दपाल की पत्नियों-जरिता और लपिता में भी सद्भाव न था। वे अपनी पत्नियों के कटुवचनों से अत्यन्त दुःखी होते थे।[121] विदुर ने कहा है कि जिन स्त्रियों की सौत होती है वे अत्यन्त दुःखमय जीवनयापन करती है।[122]

सपत्नी के अतिरिक्त भी यदि समान श्रेणी या अवस्था वाला कोई व्यक्ति अधिक रूप, गुण, शोभा या समृद्धि वाला हो जाता है तो वह उसके लिए असह्य हो जाता है। ऐसी ईर्ष्या-प्रवृत्ति, स्त्री-पुरुष दोनों में समान रूप से पायी जाती है। द्रौपदी जब इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर आई तो उसके बहुमूल्य आभूषण देखकर धृतराष्ट्र की पुत्र वधूएँ प्रसन्न नहीं हुई उल्टे जल-भुन गईं।[123]

शिक्षा-व्यवस्था

महाभारतकाल में शिक्षाव्यवस्था दो प्रकार की थी- विद्यार्थी गुरुकुल में जाकर विद्याग्रहण करते थे अथवा परिवारों में बच्चों को शिक्षा देने के लिए गुरु नियुक्त होते थे। दूसरा प्रकार राजाओं अथवा समृद्धिशाली परिवारों में प्रचलित था। ब्राह्मणादि तीन वर्णों की शिक्षा की बात महाभारत में उपलब्ध होती है किन्तु शूद्र की शिक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। शिक्षक (गुरु) प्राय: ब्राह्मण (आचार्य अथवा ऋषि) ही होते थे। द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य को शिष्य न बनाने की कथा प्रसिद्ध है तथापि उसने आचार्य द्रोण को ही गुरु मान कर स्वयं शस्त्रविद्या (धनुर्विद्या) का अज़्यास किया। इसी प्रकार दासी गर्भ-जात विदुर महाज्ञानी थे और लोहमर्षक, सञ्जय और सौति ज़ी शूद्र (सूत जातीय) भी कम पण्डित न थे।

महाभारतकाल में शिक्षा के प्रमुख विषय थे- आन्वीक्षिकी (तर्कविद्या), वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) दण्डनीति और आयुर्वेद भी शिक्षणीय विषय माने जाते थे। युक्तिशास्त्र, शब्दशास्त्र, गान्धर्व शास्त्र, पुराणेतिहास, कला, वास्तुशास्त्रादि ज़ी पढ़ाये जाते थे।[124] क्षत्रियों के लिए शासन और सैन्य से सज़्बद्ध विषय पठनीय होते थे। स्त्रियों को कला, नृत्यादि की शिक्षा दी जाती थी यह आवश्यक नहीं था कि सभी लोग सभी विषय पढ़ें ही। वर्ण अथवा प्रयोजन के अनुसार जिसकी जैसी रुचि थी वह वैसा विषय पढ़ता था।[125] ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य था।

विद्यार्थी बाल्यकाल में ही विद्यारज़्भ करते थे। अध्ययन का आरज़्भ उपनयन संस्कार से हो जाता था। अत: ब्राह्मण बालक पाँच से आठ, क्षत्रिय दस से ग्यारह और वैश्य का ग्यारह से बारह वर्ष की अवस्था में विद्यारज़्भ हो जाता था। शूद्र का न तो उपनयन होता था और न ही वेदाध्ययन में उसका अधिकार था।[126] तथापि शूद्र (यदि कोई) का भी विद्यारज़्भ तेरह वर्ष की आयु में हो सकता था।

गुरुकृपा या गुरुगृह या गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करने वाले छात्र को 'अन्तेवासी' कहा जाता था। शिष्य कितने काल में गुरु के आश्रम में रहे, इसका कोई निश्चित नियम न था।[127] शिष्य गुरु के समीप रहकर विद्याध्यन करने के साथ आश्रम के कार्यों में परस्पर सहायता करते थे। भिक्षा लाना, गायें चराना, कुश–समिधा–फल–फल लाना और गुरु की सेवा तथा आज्ञा पालन करना शिष्य का कर्तव्य था। गुरु शिष्य की योग्यता और चरित्र की परीक्षा करके तब विद्यादान करते थे। गुरु अपने शिष्यों का पुत्रवत् पालन करते थे। अध्ययन की समाप्ति पर शिष्य का समावर्तन संस्कार होता था और शिष्य गुरु को दक्षिणा देकर अपने घर लौटता था। गुरु की सन्तुष्टि ही श्रेष्ठ दक्षिणा मानी जाती थी।

महाभारतकालिक विद्या के केन्द्र गुरुकुल समाज और राजकीय सहायता द्वारा पोषित होते थे। शिष्य भिक्षा (गृहस्थों के यहाँ से) लाकर गुरु को निवेदित करता था। राजा द्वारा भी आचार्य को वृत्तिदान प्राप्त होता था। शिश्य के पोषण का भार गुरु पर ही होता था।

शिक्षा का एक विशिष्ट उद्देश्य था और जीवन के साथ उसका एक विशेष सञ्बन्ध था। शिष्य को जीवन की वास्तविकता समझाने का केन्द्र गुरुगृह ही था। स्वावलञ्बी और कष्ट सहिष्णु बनने के व्यवहारिक पक्ष का ज्ञान भी यहीं होता था। तपस्या द्वारा शिष्य का चरित्र उन्नत बनता था। आदर्श मनुष्य बनने के लिए आदर्शों का सुयोग ये विद्या केन्द्र ही कराते थे। चरित्र निर्माण शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था। विद्या की सार्थकता चरित्र घटन और पुण्यकर्म में है।[128] चरित्रहीन की विद्या निष्फल मानी गई है। जैसे कुत्ते के चमड़े से निर्मित पात्र में रखा हुआ घी यज्ञकर्म में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता वैसे ही चरित्रहीन व्यक्ति की विद्या से समाज का कोई ज़ी उपकार नहीं हो सकता।[129]

जीविकोपार्जन

महाभारतकालिक समाज की सुव्यवस्था के लिए विभिन्न वर्णों के लिए विविध प्रकार की वृत्तियों अथवा जीविका का विधान बनाया गया था। महाभारतकार का कथन है कि जीविका व्यवस्था मनुष्यकृत नहीं है। जन्म के पहले से ही प्रजापति उस मनुष्य की जीविका निर्धारित कर देता है। वह उसे उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त हो जाती है।[130] महाभारतकाल में प्रत्येक वर्ण के सामाजिक अधिकार सुनिश्चित थे और दूसरा उसमें दखल नहीं दे सकता था। निष्ठापूर्वक अपने कार्य के द्वारा समाज को पूर्णत: आदर्श मानवसमाज के रूप में घटित करना ही इस प्रकार की

वृत्ति व्यवस्था का उद्देश्य प्रतीत होता है। किसी का अनिष्ट किये बिना अपने परिवार का पालन करने वाली व्यवस्था को महाभारत में श्रेष्ठधर्म के रूप में स्वीकार किया गया था।[131]

उत्तराधिकार से प्राप्त वंशोचित कर्म का परित्याग नहीं करना चहिए।[132] यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन ब्राह्मण की जीविका के साधन थे। ब्राह्मण के लिए भिक्षावृत्ति भी निन्द्य न थी।[133] ब्राह्मण पौरोहित्य कर सकता था।[134] किन्तु, वह शूद्रवृत्ति किसी भी दशा में नहीं ग्रहण कर सकता था।[135] जो ब्राह्मण याजन अथवा प्रतिग्रह वृत्ति न लेकर केवल शास्त्रचिन्तन में निरत रहते थे, उनकी जीविका की व्यवस्था राजा करता था।[136] राजा ब्राह्मणों को देने के लिए कृपण वैश्यों का धन भी हरण करता था।[137]

क्षत्रिय अपने बाहुबल से प्रजा की रक्षा करता हुआ जीविका अर्जित करता था। प्रजा से प्राप्त कर ही उसकी जीविका का मुज्य साधन था।[138] दान लेना क्षत्रिय के लिए अनुचित था। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य-वैश्य की जीविका के प्रधान साधन थे।[139]

द्विज आदि तीनों वर्णों की सेवा करके शूद्र अपनी जीविका अर्जित करता था।[140] शूद्रों के परज़्परागत पैतृक व्यवसाय (वृत्ति) भी होते थे। यदि ऐसा नहीं हो तो शूद्र के लिए सेवा ही श्रेष्ठ वृत्ति थी।[141] इस प्रकार उस काल के समाज में वर्णानुसार वृत्ति का नियत विभाजन होने से परिवार का भरण-पोषण सुकर था।

समाज का पालन-पोषण और उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति वैश्य-वृत्ति पर ही निर्ज़र थी। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य इसके मूलाधार थे। समृद्धि लाभ के साधनों में कृषि को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। लक्ष्मी स्वयं कहती है- ''कृषि कर्म में निरत वैश्य के शरीर में मैं स्वयं निवास करती हूँ''।[142] कृषि और कृषक की रक्षा के लिए राजा उत्तरदायी माना गया है।[143] वर्षा पर आश्रित कृषि के स्थान 'देवमातृक', कृत्रिम सिंचाई वाल क्षेत्र 'नदीमातृक' और समुद्रादि के तटस्थित उत्तर क्षेत्र 'प्रकृतिमातृक' कहे जाते थे। कृषक को प्रकृति का ज्ञान रखना चाहिए अन्यथा उसे कृषि में हानि उठानी पड़ सकती थी।[144] राज कृषि उत्पादन का छठा भाग 'कर' के रूप में ग्रहण करता था। राजा गरीब किसानों को खेती के लिए बीज आदि तो देता ही था।[145] उसे 'अनुग्रह ऋण' भी देता था।[146] महाभारत काल में बैलों द्वारा खेती किए जाने का उल्लेख मिलता है।[147] भूमि जोतने के लिए हल फल का उल्लेख भी है।[148] उस काल के अनाजों में धान, जौ, सरसों, कोदों, तिल, उड़द और मूँग प्रमुख थे।[149]

पशुपालन भी वैश्यों के अधीन था। अनेक पालतू पशुओं में गाय, अत्यनत हितकारी होने के कारण समाज में श्रद्धा की वस्तु थी। प्राय: प्रत्येक गृहस्थ (वर्ण नियम से परे) गो सेवा करना पुण्य मानकर गोपालन करता था। महाभारत में गाय की महिमा का भूरि-भूरि वर्णन किया गया है।[150] गाय का दान श्रेष्ठ दान कहा जाता है।[151] धार्मिक कार्यों में पञ्चगव्य (गाय का दूध, दधि, धृत, मूत्र और गोबर) का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ये अत्यन्त पवित्र होने के कारण शुद्धीकरण के सर्वोत्तम साधन हैं। गाय की पीठ और पूँछ को पवित्रतम कहा गया है।[152] गाय उस काल के समाज की आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ कही जा सकती है।

वाणिज्य पर एक मात्र वैश्य का अधिकार था। व्यवसायियों को सुविधा प्रदान करना राजा का कर्तव्य था। राजा इस प्रकार के नियमों का निर्धारण करता था कि व्यापार की वस्तुएँ प्रजाजनों को सुलभ हों और व्यापारी को क्षति भी न उठानी पड़े।[153] सुखी, शान्त और निरापद राज्य में व्यापार खूब बढ़ता था और विदेशी भी क्रय-विक्रय के लिए आकर्षित होते थे। राजा देशी-विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारियों से कर वसूलता था।[154] महाभारत में विदेशों से भी व्यापार सञ्बन्ध के उल्लेख मिलते हैं तथा इसके लिए पोतों द्वारा समुद्र यात्राओं का भी वर्णन प्राप्त होता है।[155]

दायभाग

महाभारत, अनुशासनपर्व के सैतालिसवें अध्याय में वर्णों के अनुसार दाय-भाग का विधान किया गया है। पैतृक सञ्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्णय भी धर्मशास्त्र का विषय माना गया है। एतद्विषयक धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के पालन महाभारतकालिक समाज में भी किया जाता था। पिता की सञ्पत्ति पर उसके पुत्रों का अधिकार होता है। सवर्ण पत्नी के गर्भजात सञ्ी पुत्रों का अधिकार समान होता है। ज्येष्ठता के कारण एक भाग अधिक मिलने का विधान है। यदि पत्नियाँ भिन्न वर्णों से हैं, तो ब्राह्मणी के पुत्रों को सर्वाधिक अंश, क्षत्रिया के पुत्रों को उससे कम और वैश्य के पुत्रों को सबसे कम अंश प्राप्त होता है।

क्षत्रिय यदि क्षत्रिय कन्या, वैश्य कन्या और शूद्र कन्या तीनों से विवाह करता है तो उसकी सञ्पत्ति के आठ भाग किये जायेंगे और चार भाग क्षत्रिया के पुत्रों को, तीन भाग वैश्या के पुत्रों को और एक भाग शूद्र के पुत्रों को दिया जाता था। युद्धविजय में प्राप्त धन पर केवल क्षत्रिया के पुत्रों का अधिकार होता है।

वैश्य की वैश्या और शूद्र पत्नियाँ होने पर उसकी सज़्पत्ति के पाँच भाग करके उनमें से चार भाग वैश्या के पुत्रों को और एक भाग शूद्र के पुत्रों को देने का विधान था। शूद्र अन्यवर्ण कन्या को पत्नी के रूप में ग्रहण करने का अधिकारी नहीं था। अत: उसकी सवर्णा (शूद्रा) के पुत्रों में समान रूप से सज़्पत्ति का बँटवारा होता था।

पुत्रहीन पुरुष के दिवंगत हो जाने पर उसकी सज़्पत्ति पर कन्या का अधिकार होता है। माता को दहेज में मिले धन पर भी कन्या का ही अधिकार माना गया है। पुत्र न होने और कन्या के भी मर जाने पर मृत व्यक्ति की सज़्पत्ति का अधिकारी दौहित्र होता है। दौहित्र पिता और मातामह- दोनों के श्राद्ध का अधिकारी होता है। धर्मत: पुत्र और दौहित्र में कोई अन्तर नहीं माना जाता। पति द्वारा पत्नी को अलग से अपनी सज़्पत्ति का कुद अंश देने का विधान किया गया है। पति द्वारा प्रदत्त धन का पत्नी यथेच्छ उपयोग कर सकती है। माता के इस धन पर पुत्रों का कोई अधिकार नहीं होता।

ब्राह्मण गृहस्थ को तीन वर्ष से अधिक काल के लिये धन का सञ्चय नहीं करना चाहिये। इससे अधिक धन का संग्रह हो जाने पर उसे यज्ञ आदि अच्छे कार्यों में लगाना चाहिए।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सज़्पूर्ण सज़्पत्ति सर्वप्रथम सबसे ज्येष्ठ पुत्र के हाथ में आती है। उसे चाहिए के वह न्यायसंगत रीति से अपने अन्य छोटे भाइयों में बाँट दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो दण्ड का भागी होता है। यदि कोई अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर असत्कर्म द्वारा जीविका अर्जित करता है तो वह पैतृक सज़्पत्ति के अधिकार से वंचित हो जाता है।

पैतृक धन की सहायता के बिना यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने सामर्थ्य से धनोपार्जन करता है तो उस धन पर केवल उसी का अधिकार होता है। अन्य किसी को वह धन देना उसकी इच्छा पर निर्ज़र है। पुत्र अपने पिता से सज़्पत्ति का अलग-अलग हिस्सा माँग सकते हैं और पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों में सज़्पत्ति का समान वितरण कर दें। पत्नी, पुत्र और दास- ये तीनों ही पराधीन होते हैं अत: इनके द्वारा उपार्जित धन पर क्रमश: पति, पिता और स्वामी का अधिकार होता है। शिष्य जितने दिन गुरु के आश्रय में रहता हे, उसके द्वारा उपार्जित धन (भिक्षा द्रव्यादि) पर गुरु का ही अधिकार माना जाता है। महाभारत में उपर्युक्त रीति से सज़्पत्ति का विभाजन प्रदर्शित है।

आहार (खान-पान)

महाभारत के वर्णनों से उस काल की आहार सञ्बन्धी मान्यताओं और प्रवृत्तियों का अच्छा ज्ञान होता है। महाभारत की उक्ति सार्थक है कि भूख लगने पर ही भोजन का स्वाद अच्छा लगता है।[156] उस समय केवल प्रात: और सांयकाल भोजन करने का नियम था। जो दिन में दो बार ही भोजन करता था, उसे 'उपवासी' की संज्ञा प्रदान की गयी थी।[157] दो बार के अलावा बीच में तीसरी बार भोजन करने का निषेध किया गया है। लेकिन केवल दो बार भोजन करने की प्रशंसा से प्रतीत होता है कि उस काल में लोग बीच में तीसरी बार भी भोजन करते थे।

महाभारत में सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृति के व्यक्तियों की आहार रुचि का उल्लेख किया गया है। आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले स्वादिष्ट (चिकने), रसीले और अन्त:करण को प्रसन्न करने वाले आहार सात्विक लोगों को पसन्द होते थे।[158]

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख-चिन्ता-रोगोत्पादक आहार राजस प्रकृति के मनुष्यों को प्रिय होते हैं।[159] ठीक से न पका हुआ रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट तथा अपवित्र भोजन तामस प्रकृति के लोगों को अच्छा लगता है।[160]

खाद्यान्नों में जौ और धान मुज्यरूप से उल्लिखित हैं।[161] गुड़, दही, दूध, तिल, घी, मछली और मांस अनेक प्रकार के शाक और तरकारियों का उल्लेख है।[162] तरह-तरह के खट्टे पदार्थ, अचार और शर्बत का भी वर्णन प्राप्त होता है।[163] मांसभक्षण की निन्दा करने के साथ ही उसका विधान भी मिलता है। महाभारत के वर्णनों से ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाज में मांसभक्षण धड़ल्ले से प्रचलित था। ब्राह्मण भी मांसभोजी थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों को हरिण और वराह के मांस परोसे गए थे।[164]

वनवासकाल में पाण्डवों का प्रमुख भोजन फल-मूल और मांस था।[165] युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ में पशु-पक्षियों के मांस भी खाद्यसंग्रह में थे।[166] महाभारत के विभिन्न स्थलों में किए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस काल के समाज में वैध मांसभक्षण में दोष नहीं माना जाता था। शास्त्रसञ्मत मांस का आहार दूषणीय न था।[167] अत: यज्ञादि में निहत पशु के मांसभक्षण में कोई दोष न था।[168] मृगया (शिकार) क्षत्रियों की प्रियवृत्ति थी अत: क्षत्रियों का मांसभक्षण निन्द्य न था।[169]

महाभारत में अभक्ष्य मांस का उल्लेख किया गया है।[170]

आहार में मांस की अपेक्षा मछली का उल्लेख महाभारत में कम ही मिलता है। श्राद्ध में पितरों को मछली ज़ी देने का विधान था।[171] ब्राह्मण शल्क युक्त मछली ही खाते थे और अन्य लोग सभी प्रकार की मछलियाँ खाते थे।[172] गोहत्या निषिद्ध और पाप होने के कारण गोमांस अभक्ष्य था।[173]

परिवार में सबका भोजन एक सा होता था।[174] केवल अपने अकेले के लिए भोजन बनाने की निन्दा करते हुए उसका निषेध किया गया है। देवता, पितर, और परिवार जनों को खिलाकर स्वयं खाने वाला प्रशंसनीय था और विघसाशी कहा गया है।[175] सबके भोजन के पश्चात् बचे हुए अन्न की 'अमृत' संज्ञा बताई गयी है।[176] पहाड़ी जाति के लोग और योगी लोग वन्य कन्दमूल फल का आहार करते थे।[177] आहार में दूध, दही और घी का प्राचुर्य होता था और इस आहार की अनेकत्र प्रशंसा भी की गई है।[178]

वैदिक काल के यज्ञीय पेय के सञ्बन्ध में महाभारत प्राय: मौन है। केवल एक स्थान पर यह उल्लेख है कि सोमपान का अधिकारी व्यक्ति वह होता है जो तीन वर्षों तक के लिए पर्याप्त खाद्य सञ्चय कर चुका हो।[179] इससे यह प्रतीत होता है कि सोमरस बहुत धनी व्यक्ति ही पी सकते थे जनसाधारण नहीं।

महाभारत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस काल में सुरापान खूब प्रचलित था।[180] फिर भी सुरापान को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[181]

उस काल में भी आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही आहार की कोटि होती थी। धनियों का मुज़्य खाद्य मांस था और मध्यम वित्त वर्ग के भोजन में दूध दही भी मिल जाता था और दरिद्र को भोजन पकाने के लिए तेल भी मिल जाता था तो वह इसे ही बहुत मानता था।[182] दरिद्र सूखी रोटी भी बड़े स्वाद से खाता था और उत्तम भोज्य पदार्थ भरा रहने पर भी धनाढ्य उसका स्वाद नहीं ले पाता था।[183] अनुशासनपर्व के १०४ वें अध्याय में भोजन करने की विधि और शास्त्रसज़्मत नियमों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

परिधान तथा प्रसाधन

महाभारतकाल में वस्त्र के सञ्बन्ध में समाज भिन्नरुचि था। नाना प्रकार के विविध वर्णों के वस्त्र पहने जाते थे। विराटपर्व में द्रोणाचार्य समेत कौरव सेना जब अर्जुन के द्वारा अचेत कर दी गई थी तब उनके विविध वर्ण के वस्त्रों का आहरण राजकुमार उत्तर ने अर्जुन के कहने पर किया था।[184] बलदेव नीले रंग के वस्त्र धारण करते थे।[185] ब्राह्मण श्वेतवस्त्र और श्वेत

यज्ञोपवीत धारण करते थे। वे मृगचर्म भी पहनते थे।[186] सफेद वस्त्र पवित्र माना जाता था।[187] राजगण 'प्रावार' नामक बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे।[188] समय और अवसर के अनुकूल भिन्न-भिन्न वस्त्र पहनने की परज़्परा थी। कार्य करते समय, पूजा करते समय और सोते समय अलग-अलग वस्त्र पहने जाते थे।[189] युद्ध करते समय लाल रंग के कपड़े प्रायः धारण किये जाते थे।[190] विभिन्न देशों या स्थानों के वस्त्र भी अलग अपनी विशेषता लिए रहते थे।[191] सिर पर रंग विरंग पगड़ियाँ पुरुषों द्वारा धारण करने का प्रचलन था।[192]

महाभारत में सामान्य जनों के अलंकारों का वर्णन नहीं मिलता। राजा महाराजा और उनसे सज़्बद्ध स्त्री-पुरुषों के ही अलंकारों का वर्णन मिलता है। स्त्रीपुरुष सज़ी आयु के मनुष्य आभूषण धारण करते थे और आभूषण प्रायः स्वर्णमय ही होते थे। गले में हार (निष्क) बाँहों में बाजूबन्द, कलाइयों पर कँगन, कानों में कुण्डल, उँगलियों में अँगूठी ये मुज़्य आभूषण थें। राज सिर पर रत्न जटित मुकुट भी धारण करते थे।[193] योद्धाओं में कुछ के कवच और शिरस्त्राण ज़ी स्वर्णनिर्मित होते थे।[194] स्त्रियाँ ही नहीं, पुरुष भी सिर पर लज़्बे बाल रखते थे। सिर के बाल भी अनेक प्रकार से कलात्मक ढंग से बाँधे जाते थे। एक से लेकर पाँच चोटियाँ तक गूँथने का रिवाज था। सिर के बालों का जूड़ा या काकपक्ष भी बनाया जाता था।[195] आचार्य द्रोण और महर्षि व्यास के अतिरिक्त अन्य लोगों के भी दाड़ी-मूँछ का वर्णन मिलता है।[196] गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के पहनावों में अन्तर होता था।[197]

स्त्रियों के परिधान का कोई विशेष उल्लेख महाभारत में नहीं मिलता। उनके अलंकारों (आभूषणों) का वर्णन किया गया है।[198] उच्चवर्ग के लोग रेशमी वस्त्र धारण करते थे। विवाह के समय द्रौपदी ने क्षौम और सुभद्रा ने कौशेय वस्त्र धारण किया था।[199]

प्रसाधन के रूप में जिन द्रव्यों का उपयोग किया जाता था, उसमें चन्दन सर्वप्रमुख था। स्त्री-पुरुष सब लोग सुगन्धित चन्दन का शरीर पर लेप करते थे। चन्दन के साथ माला भी प्रसाधन में प्रयुक्त होती थी। कण्ठ तथा केशपाश में पुष्पमाला का प्रयोग प्रायः सज़ी सर्वत्र करते थे। स्नान के पश्चात् पुष्प से सज्जित होने की प्रथा सी थी।[200] गले में श्वेत पुष्पों तथा सिर पर रक्तपुष्पों की माला धारण की जाती थी। गले में कमल या कुमुद की माला पहनाना निषिद्ध था।[201] पुष्प के प्रति मनुष्य का अनुराग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। पुष्प मन को आनन्दित करके शरीर में उल्लास पैदा करने के कारण ही 'सुमनस' कहा गया है।[202] हृदय को पुलकित करने वाला, विमर्दन से सुगन्धि देने वाला और रूप से मन को हरने वाला समाज में

विशेष आदरणीय होता है।[203] विवाहादि मांगलिक कार्यों में तथा देवपूजन में पुष्प शुभ मानकर प्रयुक्त होता है।[204]

केशप्रसाधन तथा अञ्जन आदि का प्रयोग दिन के पूर्वार्ध में करने का विधान था।[205] महाभारतकालिक समाज में भी आज के समाज की ही तरह विधवाओं के लिये प्रसाधन और अलंकरण का निषेध था। श्वेतवस्त्र और श्वेत उत्तरीय ही उनके परिधान थे। वे आभूषण नहीं पहनती थीं और केश विन्यासादि प्रसाधन नहीं करती थी।[206] उस काल में शरीर को चिकना बनाने के लिए इंगुदी और अगरुच के तैल का प्रयोग किया जाता था।[207] महाभारत में स्नातक के लिए छाते और जूते दान देने के निर्देश का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस काल में मनुष्य छाते और जूते का व्यापक रूप से व्यवहार करते थे।[208]

शिल्प

वर्तमान काल के समाज की ही भाँति महाभारतकालिक समाज में भी सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता, मूँगा आदि मूल्यवान् रत्नों में परिगणित होते थे।[209] इन सब में सोने का ही व्यवहार अधिक होता था। धन-सञ्जत्ति में सोना ही प्रथमत: कथित है। सोना पवित्र वस्तु माना जाता है और इसकी गणना तैजस पदार्थों में की गयी है।[210] हिमालय की उपत्यका में स्थित विन्दुसर में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न पाये जाते थे। श्रेष्ठ शिल्पी मय ने युधिष्ठिर के अद्‌भुत सभामण्डप के निर्माण में विन्दुसर के रत्नों का प्रयोग किया था जिससे स्थल के स्थान पर जल और जल के स्थान पर स्थल का भ्रम होता था।[211]

सोने के नाना प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे।[212] राजाओं के सभागृहों में स्वर्णखचित आसन रहते थे।[213] राजसभा को स्वर्णनिर्मित लतावृक्षों से सजाया जाता था।[214] युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ में बहुत सी वस्तुएँ स्वर्णनिर्मित थी।[215] यज्ञमण्डप के तोरण, घट आदि वस्तुयें भी सोने की थीं।[216] धनी परिवारों में भी सोने के पात्रों का प्रयोग होता था।[217] उस काल में विनियम के लिए जो मुद्रा प्रयोग में लाई जाती थी वह भी स्वर्णनिर्मित होती थी। उस मुद्रा को 'निष्क' कहते थे।[218] चाँदी से बनी वस्तुओं में केवल थाली का उल्लेख मिलता है।[219] ताँबे के बर्तनों का प्रयोग भी होता था।[220] गोदोहन और भोजनपात्र काँसे के बनते थे।[221] दैनन्दिनं कार्यों में लोटे का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। अस्त्र-शस्त्र और कृषि के औजार बनाने में लोहे का प्रयोग होता था।[222] मछली पकड़ने के लिए लोहे का काँटा बनाया जाता था।[223]

हाथी-दाँत की कारीगरी का भी उल्लेख मिलता है पलंग, आसन, खिलौने, तलवार की मूँठे हाथी दाँत से बनाई जाती थी।[224] धनी व्यक्तियों के यहाँ हाथी-दाँत से बनी वस्तुओं का व्यवहार होता था।[225] पशुओं की हड्डियों और चमड़ों से भी विभिन्न वस्तुयें बनाई जाती थीं। अर्जुन का धनुष इसीलिए 'गाण्डीव' कहा गया है क्योंकि वह गेंडे के पीठ की हड्डी से बना था।[226] मृगचर्म पवित्र माना जाता था और वह वस्त्र तथ आसन के रूप में प्रयुक्त होता था। चमड़े के जूते बनाये जाते थे और चमड़े का एक प्रकार का जलपात्र (सम्भवत: 'मशक' की तरह का जिसे भिश्ती पानी भरने के लिये प्रयोग करते थे अथवा कूपजल का उद्दोह करने के लिए चरस जैसा) भी बनाया जाता था।[227] चँवरों (चमरी गाय के पुच्छबालों से निर्मित) का प्रयोग बड़े घरों में हवा करने के लिए होता था। छत्र, पताका और चँवर शान-शौकत की निशानी माने जाते थे।[228] बैठने या पूजाकार्यों के लिए कुश के आसनों का प्रयोग किया जाता था।[229] सवारी के लिए घोड़े का अत्यधिक प्रचलन था। हाथी भी इसके लिए प्रयुक्त होते थे। महिलाओं के लिए पालकी 'शिविका' थी।[230] रथ का प्रयोग सर्वत्र और सज्जी करते थे। युद्ध में रथों का खूब प्रयोग होता था और अश्वों के अतिरिक्त अन्य पशु भी खींचते थे।[231]

महाभारतकाल में वास्तुशिल्प अपने उत्कर्ष पर था। सभापर्व में विविध सभा के वर्णनों से यह ज्ञात होता है। नये भवन का निर्माण शास्त्रीय विधि से पूरी नाप-जोख करके आरम्भ किया जाता था।[232] आदिपर्व के १३वें अध्याय में वर्णित प्रेक्षागृह, १४वें अध्याय में वर्णित द्रौपदी की स्वयंवर-सभा के अद्भुत वर्णनों से ज्ञात होता है कि उस काल में वास्तुशिल्प उन्नत दशा में था। दुर्योधन द्वारा युद्ध के समय निर्मित कराया गया शिविर इतना उत्कृष्ट था कि हस्तिनापुर नगर जैसा ही लगता था।[233] दुर्योधन द्वारा जलक्रीडा के लिए गंगातट पर लगवाये गए पटगृह 'तम्बू' भी अति प्रशस्त थे।[234] मंजूषा का निर्माण भी उस काल में होता था।[235] नाव का भी उल्लेख मिलता है।[236] हरिवंश के विष्णुपर्व में तरह-तरह की नौकाओं का वर्णन मिलता है। कूप, बगीचा, बावड़ी आदि का निर्माण कराया जाता था।[237] काष्ठ-शिल्प का भी उल्लेख मिलता है। सामान्य लोग लकड़ी, तृण आदि के प्रयोग से घर बनाते थे।[238] काठ के बने आसन बैठने के लिए प्रयुक्त होते थे।

महाभारतकाल में वस्त्रशिल्प अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। महाभारत के वर्णनों से ज्ञात होता है कपास, रेशम और ऊन से अच्छे से अच्छे और महीन वस्त्र बनाये जाते थे। कहीं-कहीं के बने वस्त्र विशेष प्रसिद्ध थे।[239]

अतः यह स्पष्ट होता है कि पंचरत्नों में प्रत्येक दिन प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ दान अवश्य करने का प्रचलन था। इस सन्दर्भ में अनुशासन पर्व में भिन्न-भिन्न दानों से प्राप्त पुण्य-फल का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसके अनुसार सुवर्ण, गाय, तिल, अन्न आदि का दान विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना गया है। इनके अतिरिक्त भूमि दान, कन्यादान और वस्त्र दान आदि का भी उल्लेख महाभारतकार द्वारा किया गया है। इस काल में अतिथि पूजा का विशेष महत्व था। इस सन्दर्भ में वन पर्व में मुद्गल ऋषि का आज़्यान वर्णित है जिसके अनुसार मुद्गल ऋषि ने पन्द्रह दिन में द्रोण भर भात कपोत-वृत्ति से प्राप्त कर और दस पौर्णमास समाप्त कर देवता और अतिथि की पूजा की तथा उससे जितना अन्न बच जाता था उतने से ही अपना उदर निर्वाह किया। अतिथि सत्कार के बाद बचे अन्न को 'विघस' कहा जाता था। उस काल में स्त्री-पुरूषों द्वारा गृहस्थ आश्रम में अतिथि पूजा करना अनिवार्य माना जाता था। इस काल में स्वर्ग तथा नरक का उल्लेख मिलता है। स्वर्ग वह स्थान है जहां पुण्यवान व्यक्ति मरने के बाद जाते हैं तथा नरक वह स्थान है जहां पापी व्यक्ति मरने के बाद जाते हैं तथा नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। आज भी स्वर्ग तथा नरक की यह धारणा प्रचलित है। इस सन्दर्भ में महर्षि व्यास ने स्वर्गारोहण नामक पर्व में विस्तृत रूप से स्वर्ग तथा नरक की स्थिति का उल्लेख किया है। इस समस्त विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पंचरत्नों में वर्ण व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा दान, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तर्पण, भूमिदान आदि धर्म व्यवस्था प्राचीन परज़्परा पर आधारित थी।

सन्दर्भ

1 "Sociology is the science of Society." – L. F. Ward
प्राचीन समाजशास्त्र, (विषय प्रवेश), पृ. 38

2 "Sociology is the science of the forms of human inter relations." - George simmel

3 गुह्यं ब्रह्मतदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किमिचत्।। - महा. भा. शान्ति पर्व 299.20

4 महाभारत, आदिपर्व, 2.390

5 बाणभट्ट, हर्षचरित, 1, 4

6 Man is a wise animal

7 आहार-निद्रा-भय-मैथुनच्च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

8 अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्-सांज़्यकारिका, 23

9 महाभारत, शान्तिपर्व, 299, 20

10 'पशूनां समोऽन्येषां समाजः-अमरकोश 2, 5, 42

11 यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। महाभारत, भीष्मपर्व, 27, 21

12 तीर्थानां गुरवस्तीर्थम्। वही, अनुशासनपर्व, 16, 2, 48

13 यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रः

14 मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः।

15 संन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे। रघुवंश महाकाव्य, 1, 69। यथा महाभारते- 'अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः' 'पुनाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्रः'
(कादञ्बरी, पण्डित पुस्तकालय, काशी, पृ0 132-33)

16 गुरूणाञ्चैव सर्वेषां माता परमो गुरः। महाभारत, आदिपर्व 196, 16 - नास्ति मातृसमो गुरुः।
अनुशासनपर्व, 62, 92, 105, 14, 106, 65

17 पिता परं दैवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति। शान्तिपर्व,- 297, 2

18 मातृरतु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे। दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः।।
तपसा देवते ज्यामि वन्दनेन तितिक्ष्या। सुप्रशस्तैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान्।।
इत्यादि।। वनपर्व, 205, 17-21

19 मातापित्रोश्च ते वृतिः कच्चित् पार्थ न सीदति।
कच्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।। महाभारत, वनपर्व, 159, 5-6

20 माता पिता तथैवाग्निर्गुरात्मा च पंचमः। यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ।। वही 159, 14

21 एतद्धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये।
यत्तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी।। महाभारत, उद्योगपर्व, 145, 7

22 अनुशासन पर्व, 75, 39-41

23 मातुःपितुः गुरूणां च कार्यगेवानुशासनम्।
हितं वाप्यहितं वापि न विचार्य नरर्षभ।। महाभारत, अनु0 पर्व, 104, 145

24 अ-महाभारत, वनपर्व अध्याय 213-14
- न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि। महा, आदिपर्व, 100, 103

25 अ- त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्।
पतितः स्यात्स कौरव्य यथ धर्मेषु निश्चयः।
महाभारत, शान्तिपर्व, 165, 62- ब- पितर मातरं चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते।
सोऽपि राजन् गृतो जन्तुःपूर्वं जायेत गर्दभः।। महाभारत, अनुशा0पर्व 111, 58

26 महाभारत, वनपर्व, 132, 11

27 महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 266

28 देवतानां समवायमेकस्यं पितरं विदुः। मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादज्येति मातरम्।।

महाभारत, शान्तिपर्व, 266, 43

29 दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याज़्यधिका कृपा। महाभारत वनपर्व 9, 16

30 यश्चैनमुत्पादयते यश्चैनं त्रायते जयात्। यश्चास्य कुरुते वृत्तिं सर्वे ते पितरत्रयः।।
महाभारत, अनुशा. पर्व 69, 18

31 प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।
रघुवंश महाकाव्य, 2, 24

32 गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र में भ्रातरो गताः।। महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, 3, 37।

33 महाभारत, अनुशा0पर्व, अध्याय 105।। भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा- महा0 शान्तिपर्व, 242, 20

34 पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम्।। महा0 वनपर्व, 78, 25

35 विभागं बहवो मोहात् कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः। ततो विभक्तास्त्यन्योऽन्यं विकुष्यन्तेऽर्थमोहिताः।।
तस्माद् विभागं भ्रातृणां न प्रशसन्ति साधवः। इत्यादि। महा0, आदिपर्व, 29, 18-21

36 ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।। इत्यादि।। महा0 अनुशा0 105, 19 तथा 102, 17

37 चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु-भगिनी चानपत्या। महा0, उद्योगपर्व, 33, 70

38 महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 34

39 ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ। भ्रातुर्भार्या च तदवत् स्यात्।।
महा0 अनुशा0 पर्व, 105, 20-विदुरश्चापि तामात्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुज्ञिः।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्त्ततरः शनैः।। सभापर्व, 79, 31

40 महा0 आदिपर्व, 211, 29, 212; 32; 213, 25

41 अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत्। आदिपर्व 115, 12

42 महा0 वनपर्व, 199, 101

43 वही, 199, 100

44 शान्तिपर्व, अध्याय 243

45 ज्ञातिज़्यश्चैव बुध्येथा मृत्योरिव भयं सदा। उपराजेव राजर्द्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा।।
महा0, शान्तिपर्व, 80, 32, 33

46 अज्ञातिनोऽपि सुखा नायज्ञेयास्ततः परम्। अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवत्युत।। वही, 80, 34, 35

47 महा0, उद्योगपर्व, 33, 70; अनुशा0 104, 113

48 महा0, उद्योगपर्व, 39, 17-27

49 यः कल्याणगुणान् ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद्दिदृक्षते। सोऽजितात्मजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम्।। वही, 91.30

50 वही, 80.36-41

51 महा0 शान्तिपर्व 80.36-41

52 येन केनचिदार्त्तानां ज्ञातीतां सुखभावहेत्। आदिपर्व, 80.24

53 महाभारत, वनपर्व, 242 अध्याय

54 यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः पोथयते कुलम्। न मर्षयन्ति तत्सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम्।। इत्यादि।। वही, 242.3-22

55 परस्परविरोधे हि वयं पञ्च च ते शतम्। अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्।।
महा0, शान्तिपर्व, 80.41 पर नीलकण्ठी टीका में उद्धृत।

56 सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया। व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंस विदुर्बुधा।।- ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते।
सर्वयत्नेन माध्यस्थं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः। न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढ़ा हय्सुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान्।।
उभयोः साधयत्रार्थमहमागत इत्युत।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम्।। महा0 उद्योगपर्व, 93.8-17

57 अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते विद्या ह्यायुर्यशो बलम्।।

58 मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्।। अनुशा0 पर्व 104.44।।

59 आदिपर्व, 113.22; 145. 1-4 अश्वमेघ; 63.22।

60 आदिपर्व, 113.43; 207. 21; सभापर्व, 2.34; 49.53

61 अज़्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन्। वनपर्व, 191.20।।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ। आदिपर्व 191.20

62 स तथा मूर्ध्न्युपधातः परिष्वक्तश्च केशवः। सभापर्व, 2.3।।
अयि, धर्मेण वर्त्तध्वं शास्त्रेण च परन्तपाः।। आदिपर्व, 169.4

63 स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेधाः।। उद्योगपर्व, 30.32।

64 आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च। वनपर्व, 157.55

65 पितृभिः सह सालोक्यं मास्म गच्छेद् वृकोदरः। सभापर्व, 71.14

66 ये वै लोकाश्चाव्रतिनां ये चैव ब्रह्मधातिनाम्। द्रोणपर्व, 16.29

67 नाहं पार्थेन जातः स्यां न च जातः सुभद्रया। द्रोणपर्व, 34.27

68 यद्येतदेवं संग्रामे न कुर्यां पुरुषर्षभाः। मा स्म पुण्यकृताँल्लोकान् प्राप्नुयां शूरसञ्मतान्।। द्रोणपर्व, 71.24

69 ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम्। शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च।। भीष्मपर्व, 106.73

70 अनुशा0, अध्याय, 93

71 तद्दर्शय मयि क्षिप्रं यदि जातोऽसि पाण्डुना। द्रोणपर्व, 100.36

72 न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा। महाभारत, आदिपर्व, 207.2

73 अभिगज़्याब्रवीत् प्रीतः पृथा पृथुयशा हविः। सभापर्व, 45, 57

74 नार्या ज़्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत। सभापर्व, 59.11

75 पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षणप्रयतोऽहं कृताञ्जलिः। उद्योगपर्व 59.3

76 यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके। कर्णपर्व, 69.81। त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते। अनुशा0, 126.53। त्वंकारन्नमधेयञ्च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्। शान्तिपर्व 193.25

77 गुरूणामवनमानो हि वध इत्यभिधीयते। कर्णपर्व, 70.91; आदिपर्व 154.18

78 एवमुक्तत्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः। वनपर्व, 271.9

79 दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च। वही, 271.11

80 गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने। अनुशा0 154.22

81 तत्र मां प्राहसन् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम्। द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम।। सभापर्व, 50.30

82 जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

83 यथा गांन्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, सत्यभामा, सावित्री, शकुन्तला, दमयन्ती आदि।
महाभारत में साधारण अथवा निम्नस्तरीय समाज की नारियों सञ्ज्ञन्धी उल्लेख अतिन्यून ही है।

84 क- कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम्। वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 9.11
ख- यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा अनुशासन पर्व, 45.11

85 क- ततःसंवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत्। प्रातिपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत्।। आदिपर्व, 129.18।।
ख- प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम्। क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः।। वनपर्व, 293.23

86 आदिपर्व, 110.4

87 अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे। प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सज़्ये महात्मने।। आदिपर्व, 110.3

88 सोऽब्रवीद्दाशकन्यास्मि वाहये तरीम्। पितुर्नियोगाद-11 आदिपर्व, 100.48-49

89 शान्तिपर्व, अध्याय 320

90 असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकस्तवानधे।। शल्यपर्व, 52.10

91 पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।
अनुशा0 46.14 तथा अनु0 20.14, 20, 21

92 नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते। आदिपर्व 74.12।।

93 भगिनी चानपत्या। उद्योगपर्व, 33.70

94 सुभद्रामजिमन्युञ्च रथमारोप्य काञ्चनम्। आरुरोह रथं कृष्णः पाझडवैरभिपूजितः।। इत्यादि।। वनपर्व, 22.47-51

95 आदिपर्व, 109.18

96 अर्थ भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।। आदिपर्व 74.41

97 शान्तिपर्व, अध्याय 144

98 आदिपर्व 74, 42, 47, 51; अनुशासनपर्व, 46.15।।

99 अनुशासनपर्व 46.5- 6-7

100 इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेज़्योऽपि गरीयसी। मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा।। विराटपर्व, 3.14

101 मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च। स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थनिश्चये।। अनुशासनपर्व 12.14

102 सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना। अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी। वही, 146.35-36 तथा वनपर्व अध्याय, 205, 206

103 शान्तिपर्व, अध्याय 144, 145

104 अनुशासनपर्व, 146.44-45

105 वही 146.48.51

106 वही, 93.131; 94.38 तथा शान्तिपर्व, 227, 113।।

107 वनपर्व, 233.54।।

108 अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम्। अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाज्यते।। सभापर्व, 52.48

109 ततः कन्या सहस्रेण वृता शिविकथा तदा। पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात्।। आदिपर्व 80.21

110 आश्वमेधिकपर्व, 52, 55।।

111 आदिपर्व 133.15-16।।

112 आदिपर्व, 21.37; 197.16; 220.49। सभापर्व 33.52; 52.29। शान्तिपर्व 168.33। विरभृपर्व 34.5। इत्यादि।

113 आदिपर्व 157.11; मौसलपर्व 7, 63।।

114 शान्तिपर्व, 265.40

115 उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनास्सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्।। आदिपर्व 157.12

116 आदिपर्व 74.46; 124.31। मौसलपर्व 7.24.73।।

117 ब्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम्। गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणमिति धर्मविदो विदुः।। आदिपर्व 157.22

118 एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः। महाभारत आदि पर्व, 20.5

119 वही, आदिपर्व, 123.2-6 तथा 123, 25-28

120 तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम्। तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।। वही, आदिपर्व 220,16

121 वही, आदिपर्व, अध्याय 232

122 वही, उद्योगपर्व, 35.31

123 यज्ञसेनाः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव। सभापर्व, 58.33

124 त्रयी चान्वीक्षिकी चैत्र वार्ता च भरतर्षभ। दण्डनीतिश्च विपुला विद्या तत्र निदर्शिता।। शान्तिपर्व 59.33 युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत। इत्यादि।। अनुशासनपर्व, 104.149

125 आदिपर्व 108.19.125 एवं सभापर्व 5.120

126 क-न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतिमिव।। सभापर्व, 45-15; ख- आदिपर्व 81.1; 100.35

127 तस्य काष्ठे विलग्ननाभूज्जटाः रूपसमप्रभा। आश्वमेधिक, 56.11

128 शीलं वृत्तफलं श्रुतम्। सभापर्व, 5-112

129 कपाले यत्तदापः स्युः श्वदतौ च यथा पयः। शान्तिपर्व, 36.42

130 असृजद्, वृत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाज़्यया। अनुशासनपर्व 76.11

131 शान्तिपर्व, 261.6

132 भीष्मपर्व 42.48

133 उद्योगपर्व, 29, 23; 72.47; 132.3

134 शान्तिपर्व 72.1; 74.1

135 शान्तिपर्व, 264.3

136 प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेज़्यो रक्ष्यं त्वया नृप। अनुशासनपर्व, 35, 23

137 अदातृज़्यो हरेद् वित्तं विज़्याप्य नृपतिः सदा। इत्यादि। शान्तिपर्व 165.10

138 शान्तिपर्व 60.13-20

139 वही, 60.21-23; 91.4 तथा अनुशासनपर्व, 141.54-56

140 तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते। शान्तिपर्व 60.28-29, अनुशा. 141.75

141 वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा। न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषान्त प्रयोजयेत्। शान्तिपर्व, 293.2

142 वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि। अनुशासनपर्व 11, 19

143 नरश्चेत् कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यपञ्चाप्यनुष्ठितः। शान्तिपर्व 88.28

144 यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति मानवः। इत्यादि।। शान्तिपर्व 139.79

145 कच्चिन जुक्तं वीजञ्च कर्षकस्यावसीदति। सभापर्व 5.78

146 प्रत्येकञ्च शतं वृद्ध्या ददास्य ऋणमनुग्रहम्।। वही, 5.78

147 एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते। अनुशासनपर्व, 83.18

148 तेन ते क्रियतामद्य लाङ्लं नृपसत्प। वनपर्व- भूमिं भूमिशयाश्चैव हन्ति काष्ठमयो मुखम् शान्तिपर्व 261-46

149 अनुशासनपर्व, 111, 71

150 वही अध्याय 51, 80 , 82 , 83

151 वही अध्याय 71 से 74 तक

152 स्पृशते यो गवां पृष्ठं बालघिं च नमस्याति। अनुशासन. 125.50

153 सभापर्व, 5, 22

154 कच्चिते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः। शान्तिपर्व, 89.23

155 आदिपर्व, 2.396; शान्तिपर्व, 196.2

156 क्षुत् स्वादुतां जनयति। उद्योगपर्व, 34, 50

157 सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्। कान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत्। शान्तिपर्व, 193.10

158 आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। भीष्मपर्व 41.8

159 कट्वज़्लवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः। भीष्मपर्व, 41.9

160 यातयामं मतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम।। वही, 41.10

161 यत् पृथिव्यां ब्रीहियतम् आदिपर्व 85.13।। ब्रीहिरसं यवोंश्च। अनुशासनपर्व 93.33

162 अनुशासनपर्व, 116.2; आश्वमेधिकपर्व, 85.21

163 अनुशासनपर्व, 116.2; आश्वमेधिकपर्व, 85.21

164 मांसैर्वाराहहरिणैः। सभापर्व 4.2

165 आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलं मृगास्तथा। वनपर्व, 2.8

166 स्थलजा जलजा ये च पशवः। आश्वमेधिकपर्व 85.32

167 वेदोक्तेन प्रमाणेन पितृणां प्रकियासु च। अतोऽन्यथा वृथामांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत्।। अनुशासन 115.52-53

168 विधिना वेददृष्टेन तद्भुक्त्वेह न दूष्यति।। वही, 116, 14

169 आरण्याः सर्वदैवत्याः सर्वशः प्रोक्षिता मृगाः। वही, 116, 16

170 अनुशासनपर्व, अध्याय 93.12.121; शान्तिपर्व; अध्याय 36 और अध्याय 141

171 द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य ह। अनुशासनपर्व 88.5

172 अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः। शान्तिपर्व, 36, 22

173 न चासां मांसमश्नीयाद् गवां पुष्टिं तथाऽप्नुयात्। अनुशासनपर्व 78.17

174 शान्तिपर्व, 193.9

175 अनुशासनपर्व, 93.15

176 वही, 93.13

177 शान्तिपर्व, 300, 43-44; सभापर्व 52.9

178 अनुशासनपर्व, 66.45; 71, 51 और अध्याय 83

179 यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति। शान्तिपर्व, 164.5

180 आदिपर्व, अध्याय 76, उद्योगपर्व 59.5; 157.19

181 सुरान्तु पीत्वा पततीति शब्दः। शान्तिपर्व 141.90।। येन माद्येन्न तत् पिबेत्। उद्योगपर्व, 34.43

182 आङ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्। तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ।। उद्योगपर्व 34, 49

183 क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा।। उद्योगपर्व 34, 50

184 आचार्य शारद्धतयोस्तु शुक्ले कर्णस्य पीतं रुधिरञ्च वस्त्रम्। द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर।। विराटपर्व, 66.13

185 केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः।। वनपर्व, 18.18

186 ततः शुक्लाञ्जरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्। आदिपर्व 133.19

ब्राह्मैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः। आदिपर्व 189.41

187 क- शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्। अनुशा. 127.4

188 ख- आच्छादयसि प्रावारान्-। सभापर्व 49.9

189 अनुशासनपर्व, 104. 85-87

190 रक्ताञ्जरधराः सर्वे सर्वे रक्तविभूषणाः। द्रोणपर्व, 34, 15

191 सभापर्व 52.9, 36

192 श्वेतोष्णीषं-। भीष्मपर्व, 16.22

193 ततश्चूडामणिं निष्कमंगदे कुण्डलानि च। वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च।।
आदिपर्व 118. 38-39

194 शिरस्त्राणैश्च काञ्चनैः। द्रोणपर्व 113.14

195 यमयन् मूर्धजांस्तत्र वीक्ष्य चैव दिशो दश। केशान् यत्नेन-। शल्यपर्व, 64. 4-5

196 आदिपर्व, 105.5; 133.19 आश्वमेधिकपर्व, 46.15।।

197 आश्वमेधिकपर्व, 46.4-15।। आश्रमवासिकपर्व, 19.15-18।। महाप्रास्थानिकपर्व, 1.20।।

198 आदिपर्व, 133.15; 73.2-3; वनपर्व 233, 46-47।।

199 कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमंगला।। आदिपर्व, 198, 3।।
सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्। आदि 220-19

200 अनुशासनपर्व, 104, 87-88

201 रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः। वर्जयित्वा तु कमलं तथा कुवलयं प्रभो।। अनुशासनपर्व, 104, 83-84

202 मनो ह्लादयते यस्माच्छियं चापि दधाति च। तस्मात् सुमनसः प्रोक्ता नरैः सुकृतकर्मभिः।। अनुशासनपर्व, 98.20

203 मनोहृदयनन्दिन्यो विमर्द्धे मधुराश्च याः। चारुरूपाः सुमनसो मनुष्याणां स्मृता विभोः।। वही, 98.32

204 सन्नयेत पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रहःसु च। वही, 98, 33

205 प्रसाधनञ्च केशानामञ्जनं दन्तधावनम्।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानाञ्च पूजनम्।। अनुशासनपर्व 104, 23

206 एतास्तु समिन्तशिरोरुहा याः शुक्लोत्तरीया नरराजपल्यः। राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शतारव्याः स्नुषा नवीराहतपुत्रनाथाः।। आश्रमवासिकपर्व, 25.16

207 इंगुदैरगुतैलानां स्नेहार्थे च निवेषनम्।। अनुशासनपर्व, 142.7

208 अनुशासनपर्व 95.2; 96.20

209 मणिमुक्ता प्रवालञ्च सुवर्ण रजतं बहु। आदिपर्व, 112.34

210 जगत् सर्वञ्च निर्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः। सुवर्णमेज़्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम्।। अनुशासनपर्व, 84, 49, 52 तथा अध्याय 85

211 कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फटिकच्छदाम्। अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत।। सभापर्व 50.25

212 आदिपर्व, 73, 2-3; 148, 30; अनुशासनपर्व, 84.51

213 आदिपर्व, 195.2; सभापर्व, 56, 20; अनुशासनपर्व 139, 14

214 सभा च सा महाराज शातकुञ्भमयद्रुमा।। सभापर्व, 3, 21।।

215 आश्वमेधिकपर्व, 72, 10-11; 85.29-30

216 आश्वमेधिकपर्व, 72, 10-11; 86, 29-30

217 सभापर्व, 49.18; 51.7, 52.47 आश्रमवासिकपर्व 27, 12

218 शान्तिपर्व, 45.5; आदिपर्व, वनपर्व, द्रोणपर्व आश्वमेधिकपर्व एवं अन्यत्र भी।

219 आदिपर्व, 193.13

220 अनुशासनपर्व 125.82, 126.20; आश्रम, 27.13

221 सभापर्व, 53.3; शान्तिपर्व, 228. 60; अनुशासनपर्व 57.30, 71.33, 104.66

222 सभापर्व, 51.28; शान्तिपर्व, 228. 60;

223 मत्स्यो बडिशमायसम्। उद्योगपर्व, 34.13

224 सभापर्व, 51.16, 32; उद्योगपर्व, 47.5; शान्तिपर्व 40.4 अन्यत्र भी

225 भीष्मपर्व, 22.6

226 एष गाण्डीमयश्चापः। उद्योगपर्व, 98.16

227 दूते पादादिवोदकम्। उद्योगपर्व, 33.81।।

228 श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्चा सुपाण्डुरैः।। वन. 252.47, सभा. 52.5

229 शान्तिपर्व, 343.42; वनपर्व, 111.10, 295.4

230 आदिपर्व 80.21

231 अनुशासनपर्व, 118.14; आदिपर्व, 143.7; शान्तिपर्व 37.31; अनुशासनपर्व 117.11

232 आदिपर्व, 206.29

233 न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिविरस्य वा।। उद्योगपर्व, 195.13

234 ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत।
चैलकज़्वलवेश्मानि विचित्राणि महन्ति च।। - आदिपर्व, 127.31-32

235 मंजूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां सज़्ततः। - वनपर्व, 308.6-7

236 आदि पर्व, 63.69, 104

237 कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा। - आदिपर्व, 108.12

238 तृणच्छन्नानि वैश्मानि पंकेनाथ प्रलेपयेत्। - शान्तिपर्व, 69.47

239 सभापर्व, 51.3,51.13, 51.26-27, आदिपर्व, 126.20, शान्तिपर्व, 168

षष्ठ अध्याय

पंचरत्नों की सामयिक उपयोगिता

भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन तथा विशाल है। इसे धार्मिक आचार-विचारों, परज़्पराओं तथा संस्कृति का आधार माना गया है। विश्व साहित्य में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ 'महाभारत' को भारतीय मनीषा की अद्‌भुत अभिव्यक्ति माना जाता है। इस महाकाव्य के रचनाकार 'महर्षि वेदव्यास' सर्वातिशायी तथा अद्‌भुत प्रतिभा के धनी प्रतीत होते हैं। कौरव-पाण्डवों के जीवन वृतान्त तथा महाभारत युद्ध की गाथा ही इस महाकाव्य का मूल कथानक है, परन्तु महर्षि व्यास ने इसमें अनेक आज़्यानों, उपाज़्यानों, ऋषि कथाओं, राजधर्म के कर्तव्यों, मोक्ष सज़्बन्धी तत्वज्ञान तथा मानव जीवन से सज़्बन्धित रहस्यों का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अनेक शास्त्रों से सज़्पृक्त ऐसा महाकाव्य है जो समस्त सांसारिक घटनाओं को अपने में समेटे हुए है। इस विषय में महर्षि व्यास ने स्वयं कहा है।[1]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों जैसे - महाभारत, मनुस्मृति, वेद आदि को सिद्ध उपदेश देने वाला माना जाता है। अत: इन सभी का खण्डन तर्क की कसौटी पर करना अनुचित है। इस सन्दर्भ में स्वयं महर्षि व्यास का कथन है।[2] महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विषयों का आश्चर्यजनक और विस्तृत वर्णन किया है। इसके अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर समाज में वैज्ञानिक, आर्थिक तथा वैचारिक जागृति के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन प्रारज़्भ हुए वहीं दूसरी ओर कुछ स्वार्थी, लोभी तथा अनाचारी व्यक्तियों के दुराचार के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास आदि अवैध कार्य भी किये जाने लगे। अत: तत्कालीन समाज का दर्पण महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह शास्त्र तथा काव्य से युक्त ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में महाभारत के सन्दर्भ में किया गया है, यथा - **महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यच्छायान्वयिनि** ..... सूचित:।[3]

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में

पंचरत्न ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, सामाजिक परज़्पराओं का विश्वकोष है। उसमें तद्‌युगीन सामाजिक चित्तवृत्तियों का यथार्थमय आकलन विश्लेषण और विन्यास हुआ है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है। इसीलिए

किसी काल की संस्कृति का निर्माण अचानक न होकर उसी काल के निवासियों के जीवन की शताब्दियों की उपलब्धियों का परिणाम होता है। 'किसी देश की संस्कृति उसकी सञ्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंज्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति ही है जो मनुष्य की अच्छाइयों को निर्देश करती है। मानवीय व्यक्तित्व को सज्य दिशा प्रदान करती है जो कि उसके बुद्धिमान होने का सूचक है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय इतने विशाल एवं समृद्ध है कि मानव-मन में उत्पन्न हो सकने वाला कोई भी विषय शायद ही इससे अछूता रहा हो। एक ओर जहाँ तत्व-चिन्तन प्रधान ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर समाज और इसके अनुशासन से सञ्बन्धित ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। कतिपय ग्रन्थों में इन दोनों विषयों का सुन्दर समायोजन किया गया है, जिसमें महाभारत का नाम उल्लेखनीय है। महाभारत उन पुराण एवं पुराणेत्तर ग्रन्थों की शृंखला में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखने वाला ग्रन्थ है, जो जीवन को मात्र जन्म एवं मरण के चक्र में सीमित करके नहीं देखते हैं, अपितु इसे आत्मा की अनन्त यात्रा का पड़ाव मात्र मानते हैं। आत्म-तत्व की अमरता, कर्म की प्रधानता सत्य की सुनिश्चित विजय और व्यक्ति के विरूद्ध प्रत्यक्ष ईश्वरीय सञ्बल जैसी मान्यताओं की स्थापना तथा प्राचीन भारतीय इतिहास से सञ्बन्धित विभिन्न तथ्यों के संग्रह के कारण महाभारत को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हुए यह कहा जाता है कि जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।[4]

स्वयं महाभारत में इसे ''कृष्ण-वेद'' की संज्ञा देते हुए यह कहा गया है कि इसके श्रवण मात्र से ही ब्रह्महत्यादि सरीखे निकृष्टतम् पापकर्मो के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाली अनन्त पीड़ा नष्ट हो जाती है।[5] विषयवस्तु की दृष्टि से महाभारत को पौराणिक ग्रन्थों की श्रेणी में स्थान दिया जाये या फिर मात्र महाकाव्य माना जाये, इस विषय पर विद्वानों के मध्य व्यापक मतभेद है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसका मूल कथानक कौरवों एवं पाण्डवों के मध्य हुए युद्ध की काव्यमय प्रस्तुति होने के बावजूद इसमें इतिहास समाज एवं धर्म व्यवस्था की भी विशद् विवेचना की गई है। अत: इसमें दोनों के लक्षण प्राप्त होते हैं। जिसके आधार पर इसे वेदों के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है। विष्णु सुकथकर ने तो इसे ''भारतीय परज़रा के सर्वोत्तम आदर्शो के रत्नाकर'' की संज्ञा प्रदान की है।[6]

महाभारत एक लाख श्लोकों का विशाल ग्रन्थ है। इसी कारण इसे शतसाहस्त्री संहिता भी कहते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में इस ग्रन्थ का उल्लेख बहुधा शतसाहस्त्री संहिता के नाम

से ही प्राप्त होता है। इसकी विशालता एवं समाज-व्याप्तता इसके महत्व का स्वयं प्रमाण है। मैकडोनल ने इसे ''संसार का सबसे बड़ा काव्य'' माना है।[7]

स्वयं महाभारतकार का कथन है कि इसकी विशालता और व्यापकता के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम महाभारत है।[8] प्राय: दो हजार से भी अधिक वर्षों से महाभारत भारतीय मनीषा की परम्परा का अभिन्न अंग है। अनेक विद्वानों, विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों ने इसके किसी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित होने के प्रति संशय व्यक्त किया है। इनका मत है कि आज जिस रूप में महाभारत प्राप्य है, इसका निर्माण एक लम्बे कालखण्ड में तमाम विद्वानों के योगदान के द्वारा हुआ है। रमेशचन्द्र दत्त ने तो इसे ''सम्पूर्ण एशिया की प्रतिभा का सबसे बड़ा मापदण्ड'' माना है।[9]

महाभारत के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि इसके रचयिता व्यास (द्वैपायन कृष्ण) ही है, तथापि इसका विकास न्यूनतम तीन चरणों में हुआ है। यह भी सम्भव है, भिन्न-भिन्न समय में तीन अलग-अलग व्यक्तियों ने इसमें व्यापक योगदान किया हो। साथ ही तमाम छोटे-छोटे आख्यान एवं उपाख्यान प्राप्त होते हैं जो प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इस प्रकार महाभारत के निर्माण में योगदानकर्ताओं की संख्या का निश्चित निर्धारण कर पाना दुरूह कार्य है।[10]

तीन चरणों में महाभारत के विकास से सम्बन्धित अवधारणा की पुष्टि के सम्बन्ध में एक रोचक वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार इस ग्रन्थ का मौलिक स्वरूप संक्षिप्त और ''जय'' नाम से प्रसिद्ध था। महाभारत में नर, नारायण एवं सरस्वती देवी को नमन कर जिस ''जय'' नामक ग्रन्थ के अध्ययन का विधान प्राप्त होता है[11] यही ग्रन्थ महाभारत का मूल ग्रन्थ है। कदाचित् इस ग्रन्थ का केन्द्रीय विषय कौरवों एवं पाण्डवों के मध्य हुए युद्ध में पाण्डवों की विजय का वर्णन होने के कारण इसे ''जय'' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि विकास के द्वितीय चरण में जब भरतवंश से सम्बन्धित आख्यानों का व्यापक समावेश मूल कथानक में किया गया तो इसका नाम ''जय'' से बदल कर ''भारत'' हो गया। उस समय तक इस ग्रन्थ में चौबीस सहस्त्र श्लोक होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[12] कालान्तर में अन्य अनेक आख्यान एवं उपाख्यान इसमें समाविष्ट किये गये, जिससे इसकी श्लोक संख्या बढ़कर एक लाख हो गई। इस बृहद् आकार के कारण ही इसका नाम महाभारत हो गया।

महाभारत के एक श्लोक में व्यास का यह कथन उल्लेखनीय है कि, आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिसे वे (न्यास) समझते हैं और शुकदेव समझते हैं, परन्तु संजय समझते हैं, इसमें सन्देह है।[13] इस श्लोक का पूर्वोक्त विश्लेषण से मिलान करने से यह स्पष्ट होता है कि

कदाचित् महाभारत का मूल ग्रन्थ ''जय'' आठ हजार आठ सौ कूट श्लोकों का रहा होगा, जो कालान्तर में चौबीस हजार और अन्ततः एक लाख श्लोकों का हो गया होगा। महाभारत के आदि पर्व के प्रथम अध्याय के एक श्लोक, जिसमें यह कहा गया है कि महर्षि व्यास ने इस ग्रन्थ का निर्माण कर सर्वप्रथम इसकी शिक्षा अपने पुत्र शुकदेव को दी, तदुपरान्त उन्होंने पैत्य, सुमन्त, जैमिनी एवं वैशज़्पायन, इन चार शिष्यों को इसकी शिक्षा दी, इस आधार पर कतिपय विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि महाभारत का निर्माण कलियुग और द्वापर के सन्धिकाल में युद्धोपरान्त महर्षि व्यास ने किया था।[14]

परन्तु महाभारत के अन्तरंग सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा एक निश्चित समय में किये जाने का दावा निराधार है। वैय्याकरणीय दृष्टि से व्यास शब्द व्यक्तिवाचक होने की बजाय परज़्परावाचक है। साथ ही प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में व्यास सज़्बोधन बहुधा ऐसे व्यक्तियों के लिए प्राप्त होता है जो धर्मशास्त्रों की व्यवहारिक विवेचना करता हो। अतः मात्र व्यास शब्द के आधार पर एक रचनाकार होने की मान्यता पुष्ट नहीं हो सकती है। साथ ही महाभारत में शैव, वैष्णव, दरद एवं कज़्बोज आदि जातियों के विषय में व्यापक वर्णन प्राप्त होता है। इन धर्मो के प्रचलन एवं जातियों के आगमन के मध्य इतना व्यापक अन्तराल है कि किसी एक व्यक्ति का इतना दीर्घ जीवी होना अकल्पनीय है।

वस्तुतः महाभारत एक संकल्पित ग्रन्थ है। इसमें किसी समय विशेष की सामग्री नहीं है। यह प्राचीन भारत के दीर्घकाल खण्ड के इतिहास और ज्ञान का संकलन है, जिसके मूलपाठ का समय-समय पर संवर्धन होता रहा है। इसका कुछ अंश, विशेषकर शान्तिपर्व में वर्णित राजशास्त्र सज़्बन्धी मूल विषयवस्तु मौर्यकाल के पूर्व का है, जबकि कुछ अंश गुप्तकाल के बाद तक जोड़ा गया है। मैकडानल एवं विण्टरनिट्स का कथन है कि भारतवंशी वीरों की मूलकथा की परिधि में अनेक आज़्यान (धर्म, कर्म, ज्ञान एवं उपदेशों के रूप में) कथाओं के रूप में समाहित हो गये हैं तथा इसके अनेक विषय, अनेक लेखकों द्वारा दुबारा लिखे गये हैं।[15] वैद्य महोदय का मत है कि पुरोहित एवं ब्राह्मणों ने मूलकथा में ब्राह्मण धर्म सज़्बन्धी उपदेशों को जोड़ दिया है।[16]

महाभारत के रचनात्मक विकास पर विचार करने में वाह्य स्रोत भी सहायक है। ईसा की पांचवीं शती के दान पत्रों में महाभारत का उल्लेख हुआ है।[17] गुप्तकालीन सर्वनाथ एवं जयनाथ के अभिलेखों में भी महाभारत का उल्लेख हुआ है तथा शतसाहस्त्री संहिता के निर्माता

व्यास का नाम आदर के साथ लिया गया है।[18] इससे प्रकट होता है कि गुप्तकाल में एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ प्रचलित था। अत: होल्ट्समान का यह तर्क कि यह ग्रन्थ मध्यकाल में रचा गया तथा डालमान का यह मत कि पांचवीं शती के मध्य में किसी लेखक ने यह ग्रन्थ लिखा था, खण्डित हो जाता है।[19]

योरोपीय विद्वानों का मत है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्धारित हो चुका था। हॉपकिन्स ने महाभारत के ऐतिहासिक स्वरूप पर विस्तृत ढंग से विचार किया है। उन्होंने महाभारत का रचनाकाल एवं रचना विधान पर प्रकाश डालते हुए कहा कि भारत गाथाओं का संकलन चार सौ ई.पू. हो चुका था, तथा पाण्डव वीरों की कथायें चार सौ ई.पू. से दो सौ ई.पू. के बीच पल्लवित हुई। भगवान कृष्ण पर, भागवतधर्म में आकर ग्रन्थ का रचनाकाल दो सौ ई.पू. से लेकर दो सौ ई. तक का है, तथा अन्तिम पर्व और प्रथम पर्व की प्रस्तावना दो सौ ई. से चार सौ ई. के बीच कभी लिखी गयी। सबका समन्वित रूप वर्तमान शतसाहस्त्र संहिता है जो चार सौ ई. के आस-पास उपस्थित हुयी।[20]

प्राच्य पण्डितों का सिद्धान्त है कि कौरवो पांडवों का युद्ध ईसा के जन्म से 3101 वर्ष पूर्व हुआ था और परीक्षित के शरीर त्याग के बाद जनमेजय से पहले महाभारत की रचना हुयी थी। (अर्थात् ईसा से 3041 वर्ष पूर्व महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना शुरू की) और तीन साल में रचना पूर्ण हुयी। पाश्चात्य पण्डितों ने महाभारत को इसके 2000 वर्ष बाद का ग्रन्थ माना है। इस सज़्बन्ध में प्राच्य पंडितों का अभिमत ठोस तर्क व प्रमाणों पर आधारित है। पाश्चात्य विद्वानों ने महाभारत को कुल मूल को सिद्ध किया है। पांडव कथानक को इन लोगों ने बाद में जोड़ा गया अंश माना है, लेकिन हॉपकिन्स ने पाण्डवों के विषय में विचार करते हुए कहा है कि पाण्डवों के बिना महाभारत की कथा वैसे ही असंगत जान पड़ती है, जैसे एचिलस और इलियड की कथा असंगत जान पड़ती है।

प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिलभट्ट (700 ई0) ने महाभारत को व्यास रचित एक महान स्मृति ग्रन्थ माना है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राय: सभी पर्वो के उद्धरण दिये हैं। सुबन्धु एवं बाणभट्ट (600 ई0) के एक शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि छठीं शताब्दी में महाभारत का प्रसार पूर्णरूप से भारत के बाहर विदेशों में भी हो चुका था। 450-500 के आस-पास कई दानपत्र मिलते हैं जिनमें महाभारत के श्लोकों को शास्त्रीय प्रमाण मानकर उद्धृत किया गया है। 442 के गुप्तकालीन एक लेख में महाभारत का उल्लेख शतसास्त्रायां सहिताया इस प्रकार किया गया है।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्तमान रूप 400 ई0पू0 तक स्थिर हो चुका था। महाभारत के रचनाकाल एवं उसके रचना विधान पर पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि अधिकतर संशयवादी और असहिष्णु ही रही है। अत: किन्हीं निश्चित तथ्यपरक मत की स्थापना नहीं हो पायी है। कदाचित इसी कारण बंकिम बाबू ने कहा था कि वह दुर्भाग्य का दिन था, जब बेबर आदि योरोपीय विद्वानों ने संस्कृत पढ़ी। जर्मन लेखक यह मान ही नहीं सके कि ईसा के पूर्व के वर्षों में महाभारत लिखा गया था।[21] ऐसी परिस्थिति में महाभारत के समग्र अध्ययन से ही लाभ हो सकता है। धर्म, दर्शन एवं समाज के सांस्कृतिक पक्षों का विविध वर्णन महाभारत में एक साथ किया गया है। महाभारतकालीन कोई भी ऐसा अभिलेख अब तक नहीं मिला है, जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि महाभारत का काल यही है। पुरातत्वों की खोज हेतु जो भी खुदाइयां हुयी हैं, उनके परिणाम परस्पर भिन्न-भिन्न निकले हैं। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से ही विवेचन करने पर उपयोगी बातें आ सकती हैं। विभिन्न प्रमाणों एवं विद्वानों के मध्य व्यापक मतभेद के कारण महाभारत का काल निश्चित नहीं किया जा सकता है। पाश्चात्य से लेकर आधुनिक विद्वानों तक महाभारत के रचनाकाल के सन्दर्भ में एक कल्पना मात्र ही प्रस्तुत की है, जो किसी अन्य ग्रन्थ के रचनाकाल के आधार महाभारत के काल निर्धारण की कल्पना मात्र है। इससे कोई ठोस प्रमाण नहीं निकलता है। फिर भी उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत का रचनाकाल लगभग 500 ई0पू0 में हुआ होगा। विषय की दृष्टि से महाभारत में अठारह पर्व हैं, यथा- आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शांति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रम-वासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। महाभारत में हरिवंशपुराण को परिशिष्ट रूप में लिया गया है। हरिवंश के तीन पर्व हैं- हरिवंश, विष्णु और भविष्य।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अत: मानव जीवन में सामाजिक विज्ञान का विशेष महत्त्व है। इसके द्वारा पारिवारिक, धार्मिक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन को उत्तम बनाया जा सकता है तथा यह विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में भी सहायक है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' हमारे देश का आर्ष काव्य माना जाता है। यह धार्मिक, नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ मानवीय समाजशास्त्र भी है जिससे सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक तथा स्पष्ट वृतान्त उपस्थित हो जाता

है। महर्षि व्यास ने महाभारत में मनुष्य के संघ को 'समाज' कहा है।[22] इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मनुष्य' है अत: यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज में मनुष्य के महत्त्व को निर्धारित करते हुए सामाजिक विज्ञान की नींव डाली है। महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था के रूप में दान, संस्कार, देवपूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। प्रजा को वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि के आधार पर विभक्त किया गया था जिससे सभी अपने-अपने धर्म, कर्म तथा कर्तव्यों का भली-भांति पालन करते थे।

वर्ण व्यवस्था - प्राचीन भारतीय परज़्परा के अनुसार महाभारत काल में समाज को वर्णों में विभक्त किया गया था, यथा - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ये सभी वर्ण अपने-अपने कर्मों में संलग्न तथा प्रसन्नचित्त रहते थे। इस सन्दर्भ में महात्मा वैशज़्पायन द्वारा राजा परीक्षित के उत्तम शासन व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।[23] इन चारों वर्णों का उल्लेज़् रामायण में भी किया गया है।[24] जिससे प्रतीत होता है कि वर्ण व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है। यद्यपि महाभारत काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण व्यवस्था प्रमाणिक रूप में मानी जाती थी किन्तु बाद में समाज में वर्ण सङ्करता फैल गयी जिससे जन्म के आधार पर जाति निर्धारित करने की अपेक्षा कर्मों के आधार पर जाति निर्धारण करने की परज़्परा प्रारज़्भ हो गयी थी। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में नहुष तथा युधिष्ठिर का संवाद मिलता है जिसमें ब्राह्मण, शूद्र आदि वर्णों के गुणों के सन्दर्भ में नहुष द्वारा युधिष्ठिर के समक्ष प्रश्न किया गया है तथा युधिष्ठिर द्वारा उत्तर देते हुये यह उल्लेख मिलता है कि यदि शूद्र में शान्ति, दया आदि लक्षण हो और ब्राह्मण में न हो तो न तो वह शूद्र, शूद्र है और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है जिसमें यह वृत्त अर्थात् आचरण दिखायी पड़े उसे तो ब्राह्मण समझना चाहिए और जहाँ न दिखायी पड़े उसे शूद्र समझना चाहिए। इसी में आगे युधिष्ठिर का पुन: कथन है कि मनुष्य में जाति की परीक्षा करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि इस समय सभी वर्णों का परस्पर सङ्कर (सज़्मिश्रण) हो रहा है। अत: तत्त्वदर्शी लोग शील को ही प्रधान मानते हैं, जाति को नहीं।[25] इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि वर्णसङ्करता के कारण महाभारत काल में कर्मों के आधार पर जाति का निर्णय प्रारज़्भ हो गया था। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में महर्षि भृगु द्वारा भारद्वाज ऋषि के समक्ष ब्राह्मणों के कर्म (व्यवसाय) की चर्चा की गयी है।[26] जिसके अनुसार, वेदों के अध्ययन-अध्यापन, व्रत, यजन-याजन आदि ब्राह्मणों के कर्म माने गये हैं। इसी सन्दर्भ में आगे

क्षत्रियों के कर्मों का उल्लेज़ करते हुए महर्षि भृगु का कथन है कि जो युद्ध कर्म करता है, वेदों का अध्ययन तथा प्रजा की रक्षा करता है और ब्राह्मणों को दान देता है क्षत्रिय कहलाता है।[27] इस सन्दर्भ में रामायण के अरण्यकाण्ड में प्रभु श्रीराम का कथन है कि क्षत्रिय धनुष इसलिए धारण करते हैं कि पृथ्वी पर आर्त-शब्द (दु:खी प्राणियों का हाहाकार) न हो।[28] इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रिय का कर्म रक्षा करना है, ऐसा प्राचीनकाल से माना जाता रहा है। महाभारत काल में तीसरा वर्ण, वैश्य वर्ण था जिसका कार्य कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में भृगु ऋषि द्वारा भारद्वाज ऋषि के प्रति वर्णन मिलता है।[29] वाल्मीकिकृत रामायण के अनुसार, वैश्यों द्वारा व्यापार किया जाता था तथा इससे सज़्बन्धित दुकानें भी होती थीं।[30] इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा चारों वर्णों की सृष्टि की मानव रूप में व्याज़्या की गयी है जिसके अनुसार मुख से ब्राह्मण बाहु से क्षत्रिय, उरू (जङ्घा) से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की सृष्टि मानी गयी है।[31] इस समस्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि महाभारत कालीन समाज चार वर्णों में विभक्त किया गया था।

जिस प्रकार महाभारत काल में वर्ण-व्यवस्था समाज का एक विशेष अङ्ग थी उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी एक महत्वपूर्ण अङ्ग थी। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में भारद्वाज ऋषि द्वारा महर्षि भृगु के प्रति यह कथन है कि ब्रह्मर्षियों द्वारा पूर्व काल में चारों आश्रमों का विभाग किया गया है। जिनके धर्म, कर्म आदि की विस्तृत चर्चा महर्षि भृगु द्वारा की गयी है।[32] इस वर्णन में ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम से सज़्बन्धित कर्मों तथा नियमादि का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्य के चार चरण माने गये हैं यथा - पहला चरण (गुरू सेवा, वेदाध्ययन, अभिमान तथा क्रोध को जीतना), दूसरा चरण - (आचार्य के प्रियकर्मों का पूर्णरूप से अनुष्ठान, गुरू पत्नी तथा पुत्रों की यथोचित सेवा), तीसरा चरण (आचार्य के अनुग्रह को याद रखते हुए सदा उनके प्रति श्रद्धा रखना), चौथा चरण (विनीत भाव से अभिमान रहित होकर गुरू को भक्तिपूर्वक दक्षिणा देना।) इस सन्दर्भ में आश्वमेधिक पर्व में गुरू-शिष्य विषयक संवाद में उल्लेख मिलता है।[33] ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम आता है। इस आश्रम में प्रवेश करने वाले ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था। स्नातक के तीन भेद होते थे, यथा - 1. विद्या स्नातक (एक वेद का ज्ञाता), 2. व्रत स्नातक (बारह वर्ष तक सिर्फ व्रत का पालन करने वाला), 3. विद्याव्रत स्नातक (विद्या तथा व्रत को पूर्णरूप से जाननेवाला)।

इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में महर्षि व्यास द्वारा शुकदेव के प्रति वेद व्रत स्नातक का उल्लेख किया गया है।[34] महाभारत काल में गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का मूल माना जाता था। गृहस्थ मनुष्य के लिए पञ्चमहायज्ञ (ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, दैव यज्ञ, मूल यज्ञ, नृपज्ञ) करना अनिवार्य माना जाता था। ऐसा वर्णन शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति किया गया है।[35] रामायण काल में भी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना जाता था।[36] महाभारत काल में पचास वर्ष की आयु के बाद वानप्रस्थाश्रम का काल माना जाता था। इसमें गृहस्थ धन, सज़्पत्ति, पुत्र आदि को त्यागकर संसार से विमुख हो जाता था तथा वन में एकान्तवास करता था। ऐसा उल्लेख शान्ति पर्व में व्यास ऋषि द्वारा शुकदेव के प्रति वानप्रस्थ आश्रम की महिमा का वर्णन करते हुए किया गया है।[37] वानप्रस्थाश्रम में पत्नी भी इच्छानुसार पति के साथ जा सकती थी। ऐसा उल्लेख शान्ति पर्व में आश्रम धर्म का वर्णन करते हुए भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति किया गया है।[38] इस आश्रम के बाद आयु का चौथा शेष भाग सन्यास आश्रम के नियम पालन हेतु माना जाता था। इस आश्रम के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा महर्षि व्यास द्वारा शुकदेव के प्रति की गयी है।[39] महाभारत काल में सन्यासियों को चार भागों में बांटा गया था यथा - कुटीचक, बहूदक, हंस, परहंस।[40] इसी प्रकार शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति सन्यास आश्रम के फल का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार, आशा-तृष्णा का सर्वथा त्याग, सबके प्रति समान भाव, भोग-विलास से दूर, हृदय का विकार रहित होना आदि गुणों से युक्त सन्यासी व्यक्ति ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।[41] इस समस्त विवरण से प्रतीत होता है कि मनुष्य की आयु को चार भागों में बांटकर उसकी जीवन शैली को सुव्यवस्थित तथा जीवन के परम लक्ष्य के प्रति आकृष्ट करने हेतु ही आश्रम व्यवस्था की गयी थी।

महाभारत काल में वैदिक शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। इसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करना पड़ता था। इस काल में गुरू के आश्रम में विद्या ग्रहण करने जाना होता था तथा शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या दोनों ही गुरू द्वारा प्रदान की जाती थी। प्रत्येक शिष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है - मन-प्राण में उच्च श्रेष्ठ भावों का पोषण करना, शुभ चिन्तन से शरीर तथा मन को क्रमशः उन्नतिशील बनाना, समस्त बुराइयों से अपनी रक्षा करके उन्नति की चेष्टा करना। इस सन्दर्भ में राजा ययाति द्वारा स्वयं की विशेषता बताते हुए देवयानी के प्रति यह कथन मिलता है कि उनके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए समस्त वेदों का अध्ययन किया गया है।[42] महाभारत काल में सभी वर्णों को शिक्षा का अधिकार था। इस सन्दर्भ में महामति विदुर का ज्ञान अतुलनीय था, वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे।

इसी प्रकार सूतजातीय लोमहर्षण, संजय तथा सौति का ज्ञान भी प्रशंसनीय है। महाभारत काल में वेद, अन्वीक्षिकी (तर्क विद्या), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) तथा दण्डनीति शिक्षणीय विषय माने जाते थे। ऐसा वर्णन शान्ति पर्व में ब्रह्मा द्वारा देवताओं के प्रति किया गया है।[43] राजाओं हेतु अनिवार्य रूप से हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद सूत्र, यंत्र सूत्र, तथा नागरिक सूत्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। ऐसा वर्णन सभा पर्व में नारद मुनि द्वारा युधिष्ठिर के प्रति किया गया है। महाभारत काल में शूद्र जाति के लिए वेदाध्ययन निषिद्ध था। ऐसा वर्णन द्रोणाचार्य द्वारा शूद्रजातीय कर्ण के प्रति किया गया है।[44] शिक्षा के पूर्ण होने के बाद शिष्य द्वारा अपने गुरू को गुरूदक्षिणा दिये जाने का प्रचलन था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में मान्धाता द्वारा नृपश्रेष्ठ वसुहोम के प्रति गुरू दक्षिणा देने की बात कही गयी है।[45] इससे प्रतीत होता है कि शिक्षा की व्यवस्था उत्तम थी तथा गुरू को गुरू दक्षिणा दिये जाने की व्यवस्था सञ्भवत: गुरू के जीवन यापन के लिए बनायी गयी होगी। महाभारत में स्त्री शिक्षा का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं दिखायी देता है किन्तु विदुषी स्त्रियों जैसे - शकुन्तला,[46] सावित्री, [47] दमयन्ती, द्रौपदी आदि की चर्चा की गयी है जो उनकी बुद्धिमत्ता तथा पाण्डित्य का परिचायक है।

विवाह व्यवस्था - महाभारतकालीन समाज में ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में विवाह करने की परञ्परा प्रचलित थी जो कि आज भी जीवित है। विवाह, स्त्री तथा पुरूष दोनों के लिए आवश्यक था। इससे विशेष रूप से पुत्र लाभ होता था जो कि सभी लाभों से श्रेष्ठ माना जाता था। ऐसा उल्लेख भीष्म द्वारा विवाह का आदेश देते हुए युधिष्ठिर के प्रति किया गया है।[48] महाभारत काल में विवाह की मर्यादा प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में श्वेत केतु द्वारा यह मर्यादा प्रारञ्भ की गयी जिसके अनुसार, जो स्त्री पति को छोड़ किसी अन्य पुरूष से समागम करेगी उसे भ्रूण हत का पातक लगेगा तथा यदि ऐसा कार्य पुरूष करे तो उसे भी यही पाप लगेगा।[49] आज भी श्वेतकेतु द्वारा बताया गया स्त्रियों के प्रति नियम तो मिलता है किन्तु दूसरा नियम नहीं प्रचलित है। महाभारत काल में बहु विवाह प्रचलित था। इस सन्दर्भ में राजा शान्तनु की दो पत्नियाँ (गङ्गा, सत्यवती),[50] विचित्रवीर्य की दो पत्नियां (अञ्बिका, अञ्बालिका),[51] पाण्डु की दो पत्नियां (कुन्ती, माद्री), [52] भीम की तीन पत्नियां (हिडिञ्बा, बलन्धरा और दौपदी) [53] आदि का उदाहरण महाभारत में मिलता है। यद्यपि बहुपत्नी की प्रथा महाभारत काल में थी तथापि एक पत्नी व्रत को उत्तम माना जाता था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में एक सौ पैंतालीसवां अध्याय एक पत्नीत्व की प्रशंसा पर आधारित है।[54] रामायणकाल में भी बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी फिर भी बहुपत्नी को अच्छा नहीं माना जाता था। इस सन्दर्भ में रामायण के

बालकाण्ड में पार्वती द्वारा पृथ्वी को अनेकों की पत्नी होने का शाप दिया गया था।[55] यद्यपि पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा महाभारतकाल में की जाती थी तथा एक स्त्री के अनेक पति होना मर्यादा विरूद्ध माना जाता था किन्तु बहुपतित्त्व भी प्रचलित था। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में द्रुपद द्वारा सन्देह व्यक्त करते हुए युधिष्ठिर के प्रति उल्लेख मिलता है।[56] किन्तु युधिष्ठिर द्वारा पुराणों के आधार पर तर्क देते हुए बहुपतित्त्व की मान्यता को दर्शाया गया है।[57] महाभारत काल में धर्मशास्त्रानुसार आठ आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे यथा – ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इस सन्दर्भ में शकुन्तलोपाज़्यान में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रति उल्लेख किया गया है।[58] महाभारत काल में कन्या के विवाह योग्य होने पर ही विवाह किया जाता था। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति उल्लेख किया गया है। विवाह के सन्दर्भ में स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में द्रौपदी के स्वयंवर,[59] तथा बलन्धरा के स्वयंवर[60] का उल्लेख महाभारत में मिलता है। महाभारत काल में विधवा विवाह प्रचलित था अत: पति के अभाव में स्त्रियां देवर को पतिरूप में वरण करती थी। इस सन्दर्भ में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति उल्लेख किया गया है।[61] इस समस्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत कालीन समाज में बहुपत्नी, विधवा विवाह आदि प्रचलित था।

महर्षि व्यास ने महाभारत में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का कथानक के प्रवाह में प्रकारान्तर से उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में महाभारत कालीन स्त्री–पुरूष के वस्त्राभूषण आजकल के वस्त्राभूषण से कुछ–कुछ अलग भी थे और कुछ–कुछ समान भी थे। उस काल में धनी वर्ग, निर्धन वर्ग तथा वनवासी वर्ग के लोगों के वस्त्र भिन्न–भिन्न थे। धनी वर्ग रेशम, धातु जड़ित वस्त्र पहनते थे तथा निर्धन वर्ग साधारण (कपास) तथा वनवासी मृगछाला धारण करते थे। महाभारत काल में पुरुष तीन वस्त्र (पगड़ी ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र) धारण करते थे। ऐसा उल्लेख भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति वस्त्रों के प्रकार के सन्दर्भ में दिया गया है। महाभारत काल में स्त्रियां साड़ी पहनती थीं परन्तु कहीं चोली (अंगिया) का उल्लेख नहीं मिलता। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि साड़ी का ही टुकड़ा अंगिया रूप में पहना जाता था। सामान्यत: स्त्रियां साड़ी तथा उत्तरीय धारण करके ही अन्त:पुर के बाहर निकलती थीं।

इस सन्दर्भ में दु:शासन द्वारा अपमानित की जाती हुई द्रौपदी का कथन है कि ''मैं एक वस्त्रा हूँ, मुझे मत ले चलो।''[62] अत: यह प्रतीत होता है कि स्त्रियां अन्त:पुर से बाहर जाते समय उत्तरीय अवश्य धारण करती थीं। महाभारत काल में स्त्रियां महीन कज़्बल की भी साड़ियां पहनती थीं ऐसा उल्लेख कर्ण द्वारा देवदासियों के सन्दर्भ में किया गया है।[63] महाभारत

काल में स्त्रियां नाना प्रकार के आभूषण यथा – स्वर्णहार, कुण्डल, बाजूबंद, शंख की चूड़ियां तथा हीरे, मोती आदि जड़ित आभूषण धारण करती थी। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रति नाना प्रकार के आभूषण लाने की क्षमता का उल्लेख किया गया है।[64] उस काल में विधवा स्त्रियां सिन्दूर नहीं लगाती थीं। ऐसा उल्लेख संजय द्वारा ऋषियों के प्रति विधवा स्त्रियों की वेशभूषा के सन्दर्भ में किया गया है। [65] महाभारत काल में पुरूष मणि, हीरे, मोती आदि से जड़ित आभूषण पहनते थे। इस सन्दर्भ में सभा पर्व में युधिष्ठिर को मिली भेंटों में उल्लेख मिलता है।[66] महाभारत काल में वाहनों के रूप में हाथी, घोड़े, पालकी आदि के साथ-साथ विमान, नाव आदि प्रयोग किये जाते थे। इस समस्त विवरण से प्रतीत होता है कि महाभारतकालीन समाज कुछ-कुछ आधुनिक समय के समान तथा कुछ-कुछ भिन्न था।

राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में

पंचरत्नों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वर्ण निर्धारण जन्म से ही होता था तथा संस्कृति इस बात की अपेक्षा रखती थी कि सभी व्यक्ति शास्त्र सज़्मत आचरण का पालन करें। स्वधर्म विमुज़ व्यक्ति घृणा कीदृष्टि से देखा जाता था। चारों वर्णों को सर्वधर्म में स्थापित करना राजा का विशेष दायित्व था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की गणना उच्च वर्ग में होती थी तथा वैश्य एवं शूद्र निज़्न वर्गीय समझे जाते थे। प्रचलित विधि-विधानों से ऐसा प्रतीत होता है कि सज़्पूर्ण समाज ऐसे दो वर्ग में विभक्त था जिनमें एक उच्चस्थ एवं विशेष सुविधा प्राप्त तथा दूसरा निज़्नस्थ एवं सामान्य अधिकार से वंचित।

शान्तिपर्व का राजधर्म अनेको तथ्यों से परिपूर्ण है। सभा पर्व के नारदीय राजधर्म व कणिक की कूटनीति, आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्रजिज्ञासा, उद्योगपर्व की विदुरनीति आदि प्रकरणों में राजधर्म के सज़्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। इस परिच्छेद में उन उक्तियों को उद्धृत करके यह बताने की चेष्टा की गई है कि उन दिनों राजधर्म का स्वरूप क्या था। विषय बहुत बड़ा होने के कारण इस परिच्छेद को कई भागों में विभक्त कर दिया गया है। मनुवचनों पर महर्षि व्यास ने अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की है। प्रत्येक प्रसंग में दो-चार बार मनु का उदाहरण दिया गया है उसके अलावा प्राचीन राजधर्म प्रणेता दूसरे ऋषि मुनियों का नाम भी प्रसंग वश आया है।

बृहस्पति, विशालक्ष, काव्य (उशना:), महेन्द्र, भारद्वाज, गौरसिरा आदि धार्मिक ब्रह्मवादी मुनि राजधर्म के प्रवर्तक थे।[67] अराजक समाज में कोई निश्चिन्त होकर धर्म चर्चा नहीं कर सकता, लोगों में वाद-विवाद चलता ही रहता है, विशेषत: दस्युगण तरह-तरह के

उत्पातों से मनुष्य का जीना मुश्किल कर देते हैं, अतएव समाज को कभी भी अराजक अवस्था में नहीं रखना चाहिए।[68]

अराजक राज्य में मत्स्य न्याय का जोर हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार जल में बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती है, उसी प्रकार अराजक राज्य में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली अवस्था हो जाती है। दुर्बल मनुष्यों को सारा जीवन संत्रस्त रहकर काटना पड़ता है, उसकी सुनने वाला कोई नहीं होता, इसलिए राज्य को अराजक रखना युक्तिसंगत नहीं है।[69] प्रजा के धर्माचरण का मूल एक मात्र राजा होता है। राजा के डर से ही मनुष्य समाज में शांति बनी रहती है। राजा के अभाव में किसी की कोई भी वस्तु निरापद नहीं रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की सुव्यवस्था पर ही निर्भर होते हैं। राजा समाज का संचालक होता है। उसके अभाव में मनुष्य का जीवन दु:साध्य हो जाता है। सतत् उद्विग्नता में जीवन काटना मनुष्य के लिए मुश्किल होता है और रक्षक के अभाव में निश्चिन्त होकर जीवनयापन करने की सज़्भावना ही कहां रहती है? विद्यास्मात्, व्रती, तपस्वी ब्राह्मण राजा की सुव्यवस्था के कारण ही वेद का अध्ययन-अध्यापन कर सकते हैं। राजा न हो तो वर्ण संकरों की वृद्धि होने लगे और दुर्भिक्षों का अन्त ही न रहे। राज्यशासन के फलस्वरूप ही समाज में शान्ति व श्रमबद्धता स्थापित रहती है। राज्य में अगर सुव्यवस्था हो तो अलंकार विभूषिता अबलाएं भी राजपथों पर निश्चिन्त होकर चल-फिर सकती हैं।[70]

सूत्राध्याय में युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा है, सतयुग में शासन प्रणाली नही थी, धर्म के भय से ही सब अपना-अपना कर्तव्य करते थे। अचानक वे लोग मोहग्रस्त एवं लोभ के वशीभूत हो गये। समाज में विशृंखला देखकर देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर सब कुछ बताया। ब्रह्मा ने पहले तो शास्त्र एवं दण्डनीति की रचना की, बाद में नारायण की सहायता से एक राजा का निर्माण किया। उस राजा का नाम पृथु था, वेण के दक्षिण हस्त से उसकी उत्पत्ति होने के कारण उसका एक नाम वैन्य भी पड़ा।[71] राजकरण अध्याय में कहा गया है कि समाज में विशृंखलता उपस्थित होनेपर मनुष्य पितामह की शरण में गये। पितामह ने पृथ्वी का राज्यभार ग्रहण करने के लिए मनु को आदेश दिया। मनु ने पहले तो इतनी बड़ी जिज़्मेदारी लेने के लिए असहमति प्रकट की, लेकिन बाद में प्रजा के अनुनयन करने पर तथा नाना प्रकार के कर देने की प्रतिज्ञा करने पर तैयार हो गये। वहीं पृथ्वी के आदि राजा थे।[72] एक ही विषय को लेकर दो प्राचीन उपाज़्यान वर्णित है, लेकिन दोनों के स्पष्टीकरण में कोई भिन्नता नहीं है। राजा के बिना समाज व्यवस्था किसी तरह ठीक रहे यह विषय उस काल में भी राजधर्मज्ञ व्यक्तियों

के लिए विवादास्पद था। व्यक्तिगत कर्तव्य एवं धर्मज्ञान में किंचित शिथिलता आते ही राजा के बिना काम नहीं चल सकता, यही शायद उपर्युक्त उपाज़्यानों का गूढ़ अर्थ है।

आगे भी कहा गया है कि पृथ्वी पर जो उन्नति की आशा रखते हों, उन्हें पहले ही राजा का वरण कर लेना चाहिए, अराजक राज्य निवास के अनुपयुक्त होता है। राजा की भक्ति करनी चाहिए तथा उसके अनुकूल रहना चाहिए। प्रजा ही यदि राजा का यथोचित सज़्मान नहीं करेगी, तो दूसरे लोग तो उसकी अवज्ञा करेगें ही, और यह राज्य के लिए बहुत ही अकल्याणकारी होता है।[73] इन वर्णनों से यह भी पता लगता है कि राजा की नियुक्ति के लिए साधारण प्रजा को पूर्ण अधिकार प्राप्त था। निरापद, शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के उद्देश्य से प्रजा मिलकर राजसुलभ गुणवान व्यक्ति को राजपद पर बिठाती थी। यह प्रथा अति प्राचीन थी। राजसिंहासन पर वंश परज़्परागत अधिकार प्राचीन प्रथा न होते हुए भी महाभारत कालीन समाज में वंश अधिकार प्रतिष्ठित हो गया था।

राजा में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है, इस विषय पर सैकड़ों उक्तियाँ उद्धृत हैं। ग्रन्थ काव्य में बहुत सी जगह तो इन्द्र, बृहस्पति, मनु आदि राजधर्म वेत्ताओं के अभिमत को ही ग्रहण किया है और बहुत सी जगह भीष्म के मुख से अपना मत भी प्रकट किया है। विभूतियोग में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं ''नरो में मैं नराधिप हूँ''। अर्थात् राजा में ही मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होता है, इसलिए वही भगवान की विभूतिस्वरूप हैं।[74] पूर्व जन्म के पुण्यबल से राजा में बहुत से गुण अनन्य सुलभ होते हैं, किन्तु शिक्षा के द्वारा भी उन्हें बहुत से गुणों का अर्जन करना पड़ता है। स्वाभाविक गुणों के सज़्बन्ध में मनुसंहिता में कहा गया है कि भगवान जिन उपादनों से इन्द्र, अनिल, यम, अर्क, अग्नि, वरूण, चन्द्र, कुबेर आदि देवताओं की सृष्टि करते हैं, उन्हीं से राजा की करते हैं, इसीलिए उनका तेज दूसरों को अभिभूत करने में समर्थ होता है।[75]

राजधर्म ही सब धर्मों का मूल होता है। सब प्राणियों के पदचिन्ह जैसे हाथी के पदचिन्ह के नीचे विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार दूसरे धर्म भी राजधर्म में विलीन हो जाते है। राजधर्म के परित्यक्त होने पर दूसरा कोई धर्म उन्नत नहीं हो सकता। अत: समाज के स्थायित्व के विषय में अपने दायित्व को अच्छी तरह समझकर राजा की अपने चरित्र गठन में मनोयोग करना चाहिए।[76] राजा का चरित्र कैसा होना चाहिए, इस सज़्बन्ध में भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म प्रकरण में सैकड़ों उपदेश दिये हैं। नीचे संक्षेप में उन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

क्षत्रिय धर्म बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। उसका यथोचित पालन करने से क्षत्रिय इस लोक में अक्षय कीर्ति तथा परलोक में अनन्त सुख का उपभोग करता है। केवल प्रजापालन के द्वारा ही साधु नृपति मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। यथा समय उपयुक्त चरों को नियुक्त करना तथा दूत भेजना, यथा समय दान देना, सत्यव्रर्ती मात्सर्य रहित अमात्यों से परामर्श लेना, कर वसूल करने के लिए प्रजा पर अत्याचार न करना, साधु संसर्ग करना तथा असाधुओं की संगत छोड़ना आदि कर्म राजधर्म के अंग हैं। साम, दाम, भेद व दण्ड आदि नीतियों का प्रयोग उपयुक्त अवसर देखकर करना, अनार्य कर्म वर्जन, प्रजापालन तथा नगर रक्षण राजाओं के आवश्यक कर्त्तव्य हैं, जो राजा पुरूषार्थ नहीं करता, जो प्रमादी, अति मृदु स्वभावी या अति कठोर होता है, वह कभी भी निष्कंटक राज्य नहीं कर सकता। अज्ञानी एवं कापुरूष राजा राजपद के अनुपयुक्त होता है। जिन कार्यों को करने से राजा की धर्मनिष्ठा पर प्रजा के मन में सन्देह उत्पन्न हो, वे कार्य करना राजा के लिए विपद्जनक होते हैं। प्रजा धर्मनिष्ठ तथा सुखी हो और राजा पर विश्वास करे, इसका राजा को विशेष रूप से ज़्याल रखना चाहिए। दूसरा व्यक्ति यदि उग्र भी हो तो राजा को इसके साथ सहास्यवदन मधुर व्यवहार करना चाहिए। प्रजा के प्रति कृतज्ञता, गुरूजनों में दृढ़भक्ति, प्रजा का हितचिंतन तथा जितेन्द्रियता का गुण राजा में होना जरूरी है। राजा को दर्शनार्थी के साथ मृदु एवं भद्रता का व्यवहार करना चाहिए।[77]

महायशस्वी राजा दम, सत्य व सौहृद के द्वारा सज़्पूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य करते है, और महत् यज्ञों का अनुष्ठान करके शास्वतपद प्राप्त करते हैं। राजा को सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिए, अजितेन्द्रिय राजा दूसरे को वश में नहीं रख सकता।[78] राजा को वेद –वेदान्त आदि शास्त्रों पर पांडित्य लाभ करना चाहिए तथा दानशील बनकर सर्वभूत के दुखमोचन की यथा साध्य चेष्टा करनी चाहिए। षाड्गुण्य त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग विषयों पर राजा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।[79]

रागद्वेष का त्याग करके धर्माचरण करना, परलोक के लिए शुभ कर्म करना, बिना अत्याचार किये अर्थोपार्जन करना, सौज़्यभाव से कामोपभोग करना, राजा के विहित कर्म है। राजा को सदा मधुर वचन बोलने चाहिए, शूर होते हुए भी आत्म प्रशंसक नहीं होना चाहिए तथा दाता होते भी अपात्र को दान नहीं देना चाहिए। अपकारी का विश्वास करना राजा के लिए उचित नहीं है। उसे किसी से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। पूजार्ह की पूजा करना और दंभ का त्याग करना राजधर्म के अपरिहार्य अंग हैं। आहार–विहार में संयम रखना बहुत आवश्यक है, संयम के अभाव में श्रीहीनता आती है। हर कार्य में समय असमय का ज़्याल रखना उचित है,

जो कार्य जिस समय करने का हो, उसी समय करना चाहिए। एकाग्रचित्त होना चाहिए। जो व्यक्ति राजधर्म के इन नियमों का पालन करता है वह इहलोक व परलोक में सब सुखों का उपभोग करता है। इस अध्याय में राजा के छत्तीस गुणों का उल्लेज़ किया गया है। प्रधान गुणों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।[80] राजा को चाहिए कि काम व क्रोध को जीतकर राजश्री की सेवा करें, जो नृपति काम या क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित कार्य करता है, वह नितान्त कृपा का पात्र होता है। उसके धर्म एवं अर्थ का विनाश अवश्यज़्भावी होता है। सुरक्षक, दाता, निरलस एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति स्वभावत: ही सबकी श्रद्धा का पात्र बनने में समर्थ होता है।

राजा को अर्थशास्त्र के अनुशासन के अनुसार ही अर्थवृद्धि की व्यवस्था करनी चाहिए, नहीं तो अर्थ की वृद्धि होने पर भी उसका आकस्मिक विनाश निश्चित होता है। शास्त्रविरुद्ध प्रजा का उत्पीड़न करने से राज्य का कल्याण नहीं हो सकता, वरन् सब कुछ नष्ट हो जाता है। अधिक दूध की आकांक्षा से यदि कोई निर्बोध व्यक्ति गाय के थनों में छेद कर दे तो जिस प्रकार उसे फिर कभी दूध नहीं मिलता उसी प्रकार लोभी अत्याचारी राजा की दुर्गति होती है।[81] राजशील, उपवासादि व्रतपरायण, प्रजाहितकर राजा की प्रजा सदा श्रद्धा करती है। राजा को धार्मिक व्यक्तियों का यथोचित सज़्मान करना चाहिए, उससे प्रजा को भी पूज्य व्यक्ति की पूजा करने की शिक्षा मिलती है। राजा को यम की तरह दुष्ट व्यक्तियों को कठोर दण्ड देना चाहिए, असाधु को कभी क्षमा नहीं करना चाहिए। जिस तरह सुरक्षित प्रजा के धर्मानुष्ठानों का चतुर्थांश पुण्यफल राजा को मिलता है, उसी प्रकार प्रजा के पापों का भी चतुर्थांश फल राजा को भोगना पड़ता है। वीर, दुष्टों को दण्ड देने वाले तथा शिष्टों की रक्षा करने वाले, अनृशंस, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल एवं स्वजन प्रतिपालक राजा के आश्रय में प्रजा निश्चिन्त होकर जीवन-यापन करती है। सर्वभूत का अस्तित्व जिस प्रकार मेघों पर निर्भर होता है तथा पक्षी जिस प्रकार मीठे फल वाले वृक्ष पर बसेरा करना चाहते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणी रक्षक राजा के आश्रय में स्वयं को निरापद समझते हैं।[82]

राजा को स्वयं तो दूसरों का विश्वासभाजन बने रहना चाहिए, किन्तु दूसरे पर सज़्पूर्ण विश्वास कभी नहीं करना चाहिए, यहाँ तक कि पुत्र पर भी बहुत विश्वास करना अनुचित है। अविश्वास राजा के चरित्र का बड़ा गुण होता है।[83] हर समय ज़्याल रखना चाहिए कि राजा धर्म का प्रतिपालक होता है, यथेच्छ भोग-विलास राजा का आदर्श नहीं है। धर्माचरण से देवत्व का लाभ होता है और अधर्माचरण से नरक। प्राणिजगत धर्म पर ही आधारित है और राजा धर्म का सेवक होता है। सुतराम जो धर्म की रक्षा करने में समर्थ हो, वही राजपद के लिए उपयुक्त होता

है। धर्मनिष्ठ राजा प्रभूत अर्थ व काम का उपभोग करता है। धार्मिक राजा के राज्य में प्रजा स्वच्छन्द रूप से अपने-अपने कर्तव्यों में रत रहकर उन्नति करने में समर्थ होती है और प्रजा की उन्नति ही राज्य की उन्नति है।[84]

अर्थ की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ होता है, इस बात का सदा ज़्याल रखना चाहिए। जो सत् के लिए अर्थ व्यय करने में कुंठित होता हो, स्वेच्छाचारी तथा आत्मप्रशंसक हो, उसका थोड़े समय बाद ही विनाश हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि व मित्र के विषय में स्वयं को सदा अपूर्ण समझना चाहिए। इन्हीं में राजा का ऐश्वर्य प्रतिष्ठित होता है। कल्याणरत, असूयाहीन, जितेन्द्रिय राजा वृद्धि प्राप्त सागर की तरह राज्य करता है।[85] जिसके राज्य में जनपद उन्नतिशील हो, जो दूसरे राजाओं का प्रियभाजन हो, सन्तुष्ट तथा बहु सचिव युक्त हो उसी राजा को मजबूत समझना चाहिए। जो क्रोध को जीत लेता है वह शत्रुविहीन हो जाता है। राजा को कभी आर्यधर्म के विपरीत कर्म नहीं करना चाहिए। सदा कल्याणकर कर्मों में रत रहना चाहिए। जो उपर्युक्त नियमों का पालन करता है, विजय सदा उसके चरण चूमती है।[86]

आलस्य सर्वथा परित्याज्य है। आलस्य प्राणि की उन्नति के प्रतिकूल होता है। इस प्रसंग में प्राजापत्य युग के एक जातिस्मर ऊँट का उपाज़्यान भी वर्णित है, जो आलसी होने के कारण एक नगण्य शृगाल द्वारा धीरे-धीरे भक्षित हो गया था। घी शक्ति के साथ यदि उद्योग मिल जाय तो असाध्य भी साध्य बन जाता है। अत: उन्नतकाम व्यक्ति को कभी आलस्य में समय नहीं गंवाना चाहिए।[87] विनयी व्यक्ति कभी विपत्ति में नहीं पड़ता। (सरित्सागर संवाद सोपाज़्यान में कहा गया है कि बेत की छड़ी हवा से भी नत हो जाती है, इसलिए कभी टूटती नहीं)। अतएव सदा विनय का पालन करना चाहिए।[88]

हमेशा सचिवों के साथ मिलकर कार्य करना उचित होता है। अकेले शासन किसी के लिए सज़्भव नहीं होता। जिसके भृत्य विज्ञ होते है तथा स्वामी की श्रद्धा करते हैं वही अच्छी तरह राज्य चला सकता है। जिस राजा को प्रजा समृद्ध, हृष्ट व सत्पथावलज़्बी होती है उसी का राज्य निष्कंटक होता है। सन्तुष्ट व विश्वस्तु कर्मचारियों द्वारा जिसके भण्डार की वृद्धि होती है, वही राजा सुख से राज्य करता है। जिसके राज्य में न्याय की व्यवस्था होती है उसका ऐश्वर्य चिरस्थायी होता है, जो राजधर्म से भलींभाँति परिचित होता है, संधिविग्रह आदि षड्वर्ग में अभिज्ञ होता है तथा प्रजा के हित के लिए सतत यत्नशील होता है, वही राज्यपालन में धर्म का लाभ कर सकता है।[89] अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति सद्भाव तो रखना चाहिए किन्तु उन्हें अधिक प्रश्रय नहीं देना चाहिए। इस विषय में 'ऋषि-संवाद' नामक उपाज़्यान वर्णित है। एक

दयालु ऋषि ने अपने तपोबल से एक कुत्ते को शरभ (एक अष्टपद सिंह से भी बलवान कल्पित मृग) बना दिया लेकिन जब वह ऋषि को ही खाने के लिए उद्यत हुआ तो ऋषि ने फिर से उसे कुत्ता बना दिया।[90]

राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिए सर्वशास्त्र विशारद आचार्यों को नियुक्त करना चाहिए। सहस्त्र मूर्खों की अपेक्षा एक पंडित का मतामत अधिक मूल्यवान होता है। राजा को सहस्त्र मूर्खों को रखने के बजाए एक पंडित रखना चाहिए क्योंकि पंडित विपत्ति से रक्षा करने में समर्थ होता है। सामुद्रिक शास्त्र के नियमानुसार शारीरिक शुभाशीष चिन्हों की परीक्षा करने में जो निपुण हो, ज्योतिष विद्या का पारदर्शी हो, शुभाशुभ निमित्त ज्ञानी हो, ऐसे दैवज्ञ, पंडित को सभा में आदर सहित स्थान देना चाहिए, जो जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो उसे उसी पद पर नियुक्त करना उचित है। राजहित के लिए विपत्ति में पड़े व्यक्तियों के परिवार का भरण-पोषण जो राजा के लिए अपना बलिदान कर देते हैं उनके परिवारों का भरण-पोषण करना राजा का कर्त्तव्य है।

कोष, शस्यगृह, शस्त्रागार, द्वार आदि का तत्वावधान करने के लिए खूब विश्वस्त तथा विलक्षण व्यक्ति की नियुक्ति करनी चाहिए। आय तथा व्यय में सदा सामंजस्य बना रहना चाहिए। आय के चतुर्थांश, अर्द्धांश या त्रिचतुर्थांश के द्वारा व्यय चलाना चाहिए। कोष को उन्नत करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। यदि चरित्र में कभी मद्यपान? द्यूतक्रीड़ा आदि व्यसन घर कर ले तो उन्हें गोपनीय रखना उचित है तथा धीरे- धीरे उन्हें त्याग देने की चेष्टा करनी चाहिए। रात्रि के अन्तिम प्रहर में शय्या त्याग कर धर्म तथा अर्थ पर चिन्तन करना चाहिए। बिना भलींभाँति जाँच पड़ताल किये किसी को पुरस्कृत या दण्डित करना अन्याय है।

राजा को कूटनीति का सहारा लेकर अपने प्रतिपाल्य का दूसरे से प्रतिपालन कराने में कोयल की तरह व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक गांव एक हाथी पालने के लिए दे देना चाहिए, ताकि ग्रामवासी ही उसका खर्च चलाये। इस प्रकार गो पालन तथा कृषि पर स्वयं खर्च न करके सज़्पन्न वैश्यों द्वारा स्वार्थ सिद्ध करना चाहिए। लेकिन पालक को पुरस्कृत कर देना चाहिए। राजा को शूकर की तरह शत्रु को जड़मूल से नष्ट करने के लिए कमर कसे रहना चाहिए। मेरू की तरह अपनी दृढ़ता व गज़्भीरता को अक्षुण्ण रखना चाहिए। प्रसाद, क्रूरता आदि भावों को प्रकट करने में नट का अनुकरण करना चाहिए। दरिद्र की तरह सदा धन की कामना करनी चाहिए। प्रजा के प्रति सहृदय व्यवहार करने के लिए मित्र का अनुकरण करें, अर्थात् आवश्यकता न होते हुए भी उपर से नम्र व्यवहार करें।[91]

शत्रु से भी कुशल प्रश्न पूछना राजा का कर्तव्य है। आलसी व नपुंसक, अभिमानी, लोकनिन्दा-भीत तथा दीर्घसूत्री राजा श्रेयलाभ नहीं कर सकता। अपने दोषों का किसी को पता नहीं लगने देना चाहिए। लेकिन दूसरे के दोषों का सदा पता लगाते रहना चाहिए। पूर्व की तरह आत्मगुप्ति राजा के लिए शिक्षणीय विषय है। राजा को वक की तरह अर्थचिन्ता, सिंह की तरह पराक्रम, वृक् की तरह आत्मगोपन एवं शर की तरह शत्रुभेद करना चाहिए। सुरापान, अक्षक्रीड़ा, मृगया, स्त्रीसज़्भोग, गीतवाद्य आदि का उपभोग परिमित करना ही उचित है, इनमें अत्यासक्ति अकल्याण का हेतु होती है। मृग की तरह सावधानी से सोना चाहिए। अवस्था की विवेचना करते हुए अंधे या बहरे की तरह व्यवहार करना चाहिए। विलक्षण बुद्धि राजा देशकाल के अनुसार अपना पराक्रम दिखाता है। उपयुक्त गुप्तचरों द्वारा सब बातों का पता लगाकर काम करना चाहिए। शत्रु के साथ संधि होने पर भी निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए।[92]

उपर्युक्त राजधर्म के प्रकटीकरण से उस काल के आदर्श का काफी अनुमान लगाया जा सकता है। धर्म, वीरता प्रजा का कल्याण आदि जो कुछ भी राजा का कर्तव्य होता है, प्राय: सभी का उपदेश दिया गया है। राजा समाज से अलग नहीं होता था, वह भी समाज का ही एक व्यक्ति था। ऐसा भी नहीं था कि सर्वसाधारण के लिए वह बिल्कुल ही दुष्प्राप्य तथा दुदृश्य हो। उल्लिखित उपदेशों के अलावा और भी बहुत से उपदेश महाभारत के राजधर्म प्रकरण में दिये गये हैं। चरित्र सुधारने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, कौन-कौन से दोषों को त्यागना चाहिए आदि के बारे में उस प्रकरण की समीक्षा से जाना जा सकता है। संसार में बिल्कुल निर्दोष चरित्र के व्यक्ति का मिलना दुर्लभ है, लेकिन तब भी राजा को आदर्श चरित्र बनना चाहिए। उसे उत्कृष्ट गुणों को अपनाने के साथ-साथ राज्यकार्य के प्रतिकूल दोषों के परिहार का भी यत्न करना चाहिए।

महाभारत तथा धर्म व्यवस्था

पंचरत्नों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान काल में वैदिक धर्म प्रचलित था। अत: प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य प्रतिदिन सन्ध्या तथा यज्ञ किया करते थे। महाभारत काल में सन्ध्या में उपस्थान कार्य वैदिक मंत्रों द्वारा किया जाता था। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व में कौरव तथा पाण्डवों द्वारा अपने-अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि को छोड़कर सूर्य की ओर हाथ जोड़कर उपस्थान कर्म करने का उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में धर्म-कर्म आदि का अत्यधिक महत्त्व था। इसी प्रकार द्रोण पर्व के बयासीवें अध्याय में युधिष्ठिर द्वारा प्रात: उठकर स्नान करके सन्ध्या करने तथा यज्ञशाला में

जाकर अग्नि के साथ समिधा तथा वैदिक मंत्रोच्चारण करने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में धार्मिक कार्यों को विशेष महत्व दिया जाता था। महाभारत काल में मूर्तिपूजा का संङ्केत मिलता है। इस सन्दर्भ में सौति द्वारा भीष्म पर्व में दु:चिन्ह के वर्णन में उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार, देवताओं की प्रतिमाएँ कांपती हैं, हंसती हैं, मुख से रूधिर वमन करती हैं, देह से पसीना निकलता है।[93] अत: इस प्रकार के लक्षण बुरी घटना के सूचक माने जाते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा, सौति द्वारा जोड़े गये नवीन अध्यायों के अनुसार होती थी। हिन्दू धर्मानुसार महाभारत काल में शिव, विष्णु तथा स्कन्द आदि देवों की मूर्तियां प्रचलित थीं।

महाभारत में तैंतीस देवताओं की गणना के सन्दर्भ में अनुशासन पर्व में भीष्म द्वारा सुबह-शाम कीर्तन करने योग्य देवताओं की व्याज़्या युधिष्ठिर के प्रति की गयी है। जिसके अनुसार आठ वसु, ग्यारह रूद्र, बारह आदित्य और दो आश्विन-इन सभी को मिलाकर तैंतीस देवता माने गये हैं।[94] इससे प्रतीत होता है कि वैदिककालीन देवों की गणना महाभारत काल तक चलती रही है। महाभारत काल में भगवान शिव तथा भगवान विष्णु की पूजा विशेष रूप से की जाती थी। ब्राह्मण काल में भी यह तत्त्व स्थापित हो गया था कि विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ है यथा - अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: प्रथम:।[95] महाभारत काल में कुछ लोग समस्त देवताओं में शिव को प्रमुख मानते थे तथा कुछ लोग विष्णु को प्रमुख मानते थे। इस सन्दर्भ में महाभारत में विष्णु सहस्त्रनामस्तोत्र तथा शिवसहस्त्रनामस्तोत्र का उल्लेख मिलता है। भगवान शिव के लिङ्ग रूप की उपासना, पूजा आदि का विशेष प्रचलन महाभारत काल में था। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व के दो सौ दोवें अध्याय में व्यास ऋषि द्वारा अर्जुन के प्रति शिव की महिमा का गुणगान किया गया है।[96] महाभारतकार ने प्राचीनकाल से चली आ रही शिव तथा विष्णु की विरोधात्मक भक्ति का निरूपण करने हेतु महाभारत में अनेक स्थानों पर शिव द्वारा विष्णु अथवा श्रीकृष्ण की महिमा का गान किया है तथा श्रीकृष्ण द्वारा भगवान शिव की स्तुति का उल्लेख किया है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों भगवान एक ही हैं जो इन्हें भिन्नता की दृष्टि से देखता है वह इन दोनों में से किसी का भक्त नहीं है।

महाभारतकार के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवता जगत् के तीन कामों - उत्पत्ति, पालन और नाश पर नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है।[97] महाभारत के वन पर्व में इन तीन देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के समावेश से उत्पन्न एक देवता अर्थात् दत्तात्रेय का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सहस्रार्जुन को दत्तात्रेय के प्रसाद से

एक विमान प्राप्त हुआ था।[98] इससे प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में दत्तात्रेय की पूजा की जाती थी। इसी प्रकार महाभारत के वन पर्व के दो सौ बत्तीसवें अध्याय में तथा अनुशासन पर्व के चौरासीवें और पच्चासीवें अध्याय में स्कन्द देव की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में महाकवि कालिदास द्वारा स्कन्द देव की उत्पत्ति से सम्बन्धित कुमारसम्भव नामक महाकाव्य रचा गया। स्कन्ददेव को शिव की संहार शक्ति का अधिष्ठाता तथा देवताओं की समूची सेना का सेनानायक माना जाता था। महाभारत काल में देवियों के रूप में, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि की पूजा प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार दुर्गा स्तोत्र का पाठ अर्जुन द्वारा किया गया है।[99] इससे प्रतीत होता है कि महाभारत काल में देवताओं के साथ-साथ देवियों की भी पूजा की जाती थी।

महाभारत काल में पितरों का श्राद्ध तथा तर्पण आदि की परम्परा प्रचलित थी। इन दोनों कर्मों को 'पितृकृत्य' कहा जाता था। इस सन्दर्भ में शान्ति पर्व में युधिष्ठिर ने पितृकृत्य का उल्लेख किया है।[100] महाभारत के अनुशासन पर्व में अग्निदेव द्वारा पितरों के समक्ष तर्पण की शास्त्रीय विधि के अनुसार वर्णन मिलता है।[101] इस सन्दर्भ में अग्नि देव द्वारा श्राद्ध की विधि का विस्तृत उल्लेख किया गया है।[102] श्राद्ध के लिए अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशेष दिन माने जाते थे। ऐसा वर्णन अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर के प्रति भीष्म द्वारा किया गया है।[103] महाभारत के स्त्री पर्व में वैशम्पायन द्वारा जनमेजय के प्रति प्रेत तर्पणका उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार युद्ध में मरे हुये व्यक्तियों का तर्पण अनिवार्य रूप से महाभारत काल में किया जाता था।[104] महाभारत काल में श्राद्ध के अवसर पर दान दिया जाता था तथा मृत व्यक्ति की तृप्ति की कामना से तालाब आदि खुदवाया जाता था जिससे समाज का उपकार होता था अर्थात् दरिद्रों, ब्राह्मणों आदि को दान प्राप्त होने तथा तालाब आदि खुदवाने से जल द्वारा लोक कल्याण हो जाता था। अत: इस दृष्टि से श्राद्ध द्वारा समाज का उपकार किया जाता था।

महाभारत काल में प्रत्येक दिन प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ दान अवश्य करने का प्रचलन था। इस सन्दर्भ में अनुशासन पर्व में भिन्न-भिन्न दानों से प्राप्त पुण्य-फल का विस्तार से वर्णन मिलता है।[105] इसके अनुसार सुवर्ण, गाय, तिल, अन्न आदि का दान विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इनके अतिरिक्त भूमि दान, कन्यादान और वस्त्र दान आदि का भी उल्लेख महाभारतकार द्वारा किया गया है।

महाभारत काल में अतिथि पूजा का विशेष महत्त्व था। इस सन्दर्भ में वन पर्व में मुद्गल ऋषि का आख्यान वर्णित है जिसके अनुसार मुद्गल ऋषि ने पन्द्रह दिन में द्रोण भर भात

कपोत-वृत्ति से प्राप्त कर और दस पौर्णमास समाप्त कर देवता और अतिथि की पूजा की तथा उससे जितना अन्न बच जाता था उतने से ही अपना उदर निर्वाह किया।[106] अतिथि सत्कार के बाद बचे अन्न को 'विघस' कहा जाता था। उस काल में स्त्री-पुरूषों द्वारा गृहस्थ आश्रम में अतिथि पूजा करना अनिवार्य माना जाता था। महाभारत में स्वर्ग तथा नरक का उल्लेख मिलता है। स्वर्ग वह स्थान है जहां पुण्यवान व्यक्ति मरने के बाद जाते हैं तथा नरक वह स्थान है जहां पापी व्यक्ति मरने के बाद जाते हैं तथा नाना प्रकार के दु:ख भोगते हैं। आज भी स्वर्ग तथा नरक की यह धारणा प्रचलित है। इस सन्दर्भ में महर्षि व्यास ने स्वर्गारोहण नामक पर्व में विस्तृत रूप से स्वर्ग तथा नरक की स्थिति का उल्लेख किया है।[107]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार को चतुवर्ग कहा गया है। इनकी प्रत्येक व्यक्ति आकांक्षा करता है, इसलिए इन्हें पुरूषार्थ की संज्ञा भी दी गई है। पुरूषार्थ चतुष्टय में मोक्ष ही सर्वोत्तम है। मनुष्य के रूचिभेद के अनुसार धर्म, अर्थ, काम में प्रत्येक का प्राधान्य होते हुए भी धर्म सर्वप्रधान है; क्योंकि धर्माचरण द्वारा मनुष्य अर्थ एवं काम की प्राप्ति कर सकता है; इनके लिए उसे पृथक् चेष्टा नहीं करनी पड़ती। धर्म से गृहस्थ मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।[108] यक्ष के प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा है, जिसकी भार्या धर्माचरण के अनुकूल हो, वह गृहस्थ धर्म, अर्थ व काम का एक साथ उपभोग कर सकता है। धर्म से ही अर्थ का लाभ होता है और अर्थ कामनापूर्ण करने में सहायक है, अतएव इन तीनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है।[109] धर्म किसे कहते हैं, इस प्रश्न का उत्तर तरह-तरह से दिया गया है। एक वाक्य में उनका सार यह है कि इहलोक व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है।[110] आत्मतुष्टि 'चित्तशुद्धि' लोकस्थिति तथा मोक्ष प्राप्ति धर्म का उद्देश्य है। महाभारत में धर्म की अनेकों शाखाएं वर्णित हैं, जैसे समाजधर्म, वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, लौकिक धर्म, कुलधर्म आदि। कहा है, धर्म की वृद्धि से समाज का कल्याण होता है और धर्म के नाश से अकल्याण।

महाभारत में धर्म शब्द के व्युत्पत्तिगत दो अर्थ बताये हैं। पहला है 'धन' पूर्वक 'ऋ' धातु के योग से धर्म शब्द बनता है। जिसका अर्थ है- जिसके द्वारा धन की प्राप्ति हो। धन शब्द से पार्थिव, अपार्थिव हर प्रकार के धन को समझना चाहिए। दूसरी तरह से धारणार्थक 'धृ' धातु के साथ 'मन्' प्रत्यय का योग करने पर धर्म शब्द बनता है। इसका अर्थ है- जो सबको धारण करे, अर्थात लोकस्थिति जिस पर निर्भर हो। उपर्युक्त दोनों अर्थों में से हम कोई भी ले सकते हैं। सारांश में- जिसके द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि रूप से लोकस्थिति विधृत हो अर्थात् जिसको केन्द्र मानकर प्रत्येक का जीवन चलता हो अथवा जो वस्तु अर्थ-काम आदि की प्राप्ति में

सहायक हो, उसे धर्म कहते हैं।[111] धर्म शब्द का धातु-प्रत्यय लब्ध अर्थ चाहे कुछ भी हो, लेकिन व्यावहारिक रूप से कुछ शुद्धाचरणों को ही धर्म माना जाता है। अनेक अर्थों में प्रयुक्त धर्म शब्द को अनिद्य आचरण के रूप में भी व्यवहृत किया जा सकता है। आचरण केवल बाहरी आचरण नहीं होता, मन की अच्छी भावनाएं भी धर्माचरण में गण्य हैं।

एकमात्र इहलौकिक स्थिति को धर्म का चरम उद्देश्य बताना महाभारत का अभिप्राय नहीं है। अधिकतर धर्मानुष्ठान कष्ट साध्य होते हैं। स्वभाव से कष्टविमुख मानव परलोक की हितकामना से धर्म के निमित्त ऐहिक दु:ख का भी वरण कर लेता है। धर्म के कुछ अनुष्ठान ऐहिक कल्याण के लिए और कुछ पारलौकिक हित के लिए किये जाते है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा है- ''धर्म के विषय में बहुत से लोग संदिग्ध होते हैं। धर्म की विधि प्रणाली बहुत कुछ लौकिक व्यवहार पर निर्भर करती है। आपत्काल में अधर्म को भी धर्म के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। धर्म, अधर्म का निर्णय करना मुश्किल है। किन्तु यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि धर्म इस लोक व परलोक दोनों के लिए कल्याणकारी होता है। लोकस्थिति एवं आत्मशुद्धि के निमित्त ही धर्म का उपदेश दिया जाता है। अनुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि होती है और चरम पुरूषार्थ के लिए चित्तशुद्धि सहायक होती है। अत: जो दोनों लोक के कल्याण का आकांक्षी हो, उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिए।'' धर्माचरण का अंतिम लक्ष्य मुक्ति है।[112]

वेद के बाद धर्मशास्त्रों का नज़्बर आता है। मनुसंहिता आदि धर्मशास्त्रों में जिसे धर्म बताया है, वह भी धर्म है। महाभारतकार ने धर्मशास्त्रकार के रूप में मनु को बहुत सज़्मान दिया है। बहुत सी जगह मनु के वचनों द्वारा अपने मत का समर्थन कराया है। यद्यपि महाभारत में यह नहीं बताया है कि धर्मशास्त्रों में किस किस को प्रामाणिक मानना चाहिए, लेकिन मन्वादि संहिता, धर्मसूत्र, रामायण एवं पुराणों को ही शायद धर्मशास्त्र माना है। धर्म प्रतिपादक वेद सज़्मत सूत्रों आदि को वेदतुल्य समझकर धर्मशास्त्र या स्मृतिशास्त्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्मृतिशास्त्र वर्णाश्रमधर्म आदि के पथ-प्रदर्शक एवं वेदानुमोदित होते हैं इसीलिए धर्मनिर्णय के लिए वे ही दूसरे नज़्बर पर आते हैं।[113]

'क: पन्थ: - यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा है, केवल व्यावहारिक बुद्धि के सहारे किसी भी सिद्धान्त पर पहुँचना मुश्किल है, क्योंकि तर्क अनिर्णीत होता है, अर्थात् जिनकी प्रतिभा अपेक्षाकृत तीक्ष्ण होती है वे तर्क द्वारा दूसरे के सिद्धान्त का अनायास ही खण्डन कर सकते हैं। श्रुति भी विभिन्न अर्थो के प्रतिपादक लगते हैं। ऋषियों में भी मतभेद हैं,

किसी एक ऋषि के सिद्धान्त को मानकर चला जाय, यह भी नहीं हो सकता। धर्म का तत्व दुरभिगज़्य है, सोचे विचारे बिना किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। अतएव महापुरूषों ने जिस पथ का अवलज़्बन लिया है, वही प्रकृत पथ है, उनके द्वारा अनुसृत आदर्श ही हमारा आदर्श है। धर्म के विषय में शास्त्रानुमोदित तर्क के द्वारा कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। आर्षवाक्य तथा पूर्वपुरूषों के आचरण की प्रमाणता में आशंका करना नितान्त अशोभनीय है। आँख मीच कर महानपुरूषों के मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेष्ठ आदर्श है।[114]

वेद, स्मृति, पुराण आदि का उल्लंघन करके गन्तव्य पथ स्थिर करना, इस अर्थ में उपर्युक्त शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं। अगर यही मतलब होता तो वेद एवं स्मृति आदि के प्रमाण विषयक पूर्व संकलित उद्धरणों की कोई सार्थकता नहीं होती। आपातविरोधी अर्थ का सामन्जस्य करने के लिए यथेष्ट पांडित्य की आवश्यकता होती है, सबके लिए वह सज़्भव नहीं होता। अत: साधारण व्यक्ति के लिए महापुरूषों के पदचिन्हों पर चलना ही श्रेयस्कर है। अब प्रश्न यह उठता है कि महापुरूष किसे कहा जाय। जिन्होनें विद्या, अर्थ आदि की प्रचुरता से ज़्याति प्राप्त की हो, साधारणत: हम उन्हीं को 'महापुरूष' समझते हैं, किन्तु महाभारत का मन्तव्य दूसरा है। महाभारत में साधु, संत, शिष्ट आदि को जिस अर्थ में लिया है, महापुरूष को भी उसी अर्थ में लिया है। नहीं तो शिष्ट व्यक्ति का पदानुसरण करने का उपदेश बिल्कुल ही निरर्थक हो जाता है, जो वेद शास्त्रों द्वारा बताये आचार विचारों का निर्विरोध पालन करते हैं, उन्हीं को ग्रन्थकार ने महापुरूष माना है। वस्तुत: बाहरी आचार व्यवहार में थोड़ा बहुत मतभेद होते हुए भी महापुरूषों में कोई विरोध नहीं होता। वे श्रुति-स्मृति के तात्पर्य को पूर्ण रूप से न समझ पाने पर भी उनके अनुसार अपनी जीवन प्रणाली को नियन्त्रित कर लेते हैं, इसलिए रति-स्मृति में विरोध उपस्थित होने पर सदाचार की तरफ लक्ष्य रखने को आवश्यक कहा गया है। सुतराम् जिस धर्म को समझना कठिन हो, उसके तत्व की गूढ़ता को समझने के लिए हमारे जैसे साधारण मनुष्यों को सदाचारों का ही अवलज़्बन लेना चाहिए। यही शायद महाभारत का उपदेश है।[115]

जातिधर्म एवं कुलधर्म का आचरण भी महापुरूषों के पदानुसार ही करना चाहिए। पूर्व जो द्वारा अनुष्ठित आचरण ही कुलधर्म है। कुलधर्म के व्यापक अर्थ में जातिधर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मण का जातिगत अधिकार इन कार्यों पर है, क्षत्रिय का अमुक पर है, इस प्रकार विभिन्न जातियों के जिन आचरणीय कर्मों का निर्देश दिया गया है वही जातिधर्म है।

जातिधर्म का दूसरा नाम स्वधर्म तथा सहजकर्म भी है। पूर्वजों द्वारा पालित कुलधर्म किसी भी अवस्था में परित्याज्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुलधर्म का पालन करना चाहिए।[116]

विभिन्न जगहों के विभिन्न धर्माचरण होते हैं। जहाँ जिस प्रकार के आचरण व्यवहार प्रचलित हों, उस जगह के निवासी को उन्हीं का पालन करना चाहिए।[117] युधिष्ठिर को उपदेश देने के उद्देश्य से भीष्म ने कृष्ण को सज़्बोधित करके कहा था, 'हे जनार्दन, मैं देशधर्म, जातिधर्म एवं कुलधर्म से अच्छी तरह अभिज्ञ हूँ'।[118] इस उक्ति से प्रतीत होता है कि उस काल में सामाजिक व्यक्ति इन सब विषयों का भी अध्ययन करते थे। देश भेद के अनुसार आचार-व्यवहार में पार्थक्य इस ग्रन्थ में बहुत से विषयों में पाया जाता है।

यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, सत्यवचन, क्षमा, दया एवं निस्पृहा- इन आठों को धर्मलाभ के उपाय बताया गया है। बहुत से लोग समाज में ज़्याति के उद्देश्य से यज्ञ आदि शुरू करते रहते हैं। आन्तरिक इच्छा न होते हुए भी नाम की आकांक्षा से किसी तरह दिखावा करके स्वयं को कृतार्थ समझते हैं, लेकिन महापुरूषों के वास्तविक धर्म तो सत्य, क्षमा, दया एवं निस्पृहा हैं। इन चारों का पालन मनुष्य लोक दिखावे के लिए नहीं कर सकता। इनके लिए तो आन्तरिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है।[119] बिना दिये दूसरे का द्रव्य न लेना, दान, अध्ययन, तपस्या, सत्य, शौच, अक्रोध, यज्ञ आदि को धर्म कहा गया है। अक्रोध, सत्यवचन, क्षमा, स्वदाररति, अद्रोह, आर्जव व भृत्यभरण ये सार्वजनीन धर्म के रूप में प्रज़्यात हैं। अनृशंसता, अहिंसा, प्रमाद, संविभागिता, श्राद्धकर्म, आतिथेय, सत्य, अक्रोध, शौच, अनसूया, आत्मज्ञान व तितिक्षा इन्हें धर्म कहा गया है।[120]

जाति व वर्ण विशेष से आचरित धर्माचरणों में भिन्नता होते हुए भी धर्म का आन्तरिक स्वरूप व लक्ष्य एक ही है। आत्मतुष्टि, लोकविधृति तथा ऐहिक व पारत्रिक कल्याण ही धर्म का लक्ष्य है। समस्त विश्व के सुख-दु:ख के साथ अपने सुख-दु:ख की अनुभूति को मिला देना ही महाभारत के अनुसार परम धर्म है। धर्म असल में तो आज़्यन्तर की चीज है, बाहरी अनुष्ठान तो सहायक मात्र है वह साध्य नहीं होते। साध्य तथा साधन में एकत्वबोध न हो इस उद्देश्य से कहा गया है कि- धर्म अंत:करण की वस्तु है, अत: सर्वभूत की कल्याण कामना ही धर्म का श्रेष्ठ आचरण है। निखिल विश्व की कल्याण कामना एवं सर्वभूत में अद्वेष रखना ही धर्म का सार है- यह सब मनीषी एकमत से स्वीकार करते हैं। मनु ने भी अद्रोह, सत्य, दया, दम आदि को प्रधान धर्म कहा है।[121] तुलाधारजाजलि संवाद में जाजलि को धर्म पर उपदेश देते हुए श्रेष्ठ तपस्वी तुलाधार ने शुरू में ही कहा है- 'हे जाजलि, मै रहस्यमय सनातन धर्म से अभिज्ञ हूँ।

सर्वभूत की हितचिन्ता व मैत्री ही शाश्वत धर्म है। किसी का अपकार न हो, इस प्रकार जीविका निर्वाह करना उत्कृष्ट धर्म है जो अखिल विश्व के सुहृत हैं, विश्वकल्याण में निरत हैं, मन, वचन, कर्म से स्वयं को विश्वहित में लगाते हैं वही धर्म का यथार्थ रूप जान पाते हैं।[122]

अहिंसा ही धर्म का सार है; अहिंसा सत्य पर प्रतिष्ठित है। सर्वभूत में मैत्री व निखिल विश्व की शुभकामना से बढ़कर सार्वभौमिक धर्म दूसरा नहीं हो सकता। एक मात्र अहिंसा की प्रतिष्ठा ही धर्म की प्रतिष्ठा है, संसार में अहिंसा से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।'' वनपर्व में यक्ष युधिष्ठिर संवाद में देखा जाता है कि यक्ष रूपी धर्म अपने रूप में प्रकट होकर युधिष्ठिर से कहता है- ''यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचापल्य, दान, तपस्या एवं ब्रह्मचर्य यही मेरा शरीर है। अहिंसा, समता, शान्ति, तपस्या, शौच तथा अद्वेष आदि मेरी प्राप्ति के साधन है।[123] ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, धृति व क्षमा सनातन धर्म के सनातन मूलस्वरूप हैं।[124] यहाँ धर्म व उसके मूल दोनों को सनातन कहा गया है। तात्पर्य यह है कि स्थान काल की विभिन्नता से वाह्यिक धर्माचरणों में पार्थक्य होते हुए भी इन धर्मों का मूल एक ही होता है। विषय भोग में इन्द्रियों पर संयम रखने का नाम शम है। शम सब धर्मों में श्रेष्ठ है। यूँ तो गृहस्थ को प्रवृत्तिमूलक अनेकों धर्माचरणों का उपदेश दिया गया है, लेकिन उनका उद्देश्य चित्तशुद्धि है। चित्त के विकार रहित होने पर अनुष्ठाता सार्वभौमिक धर्म का अधिकारी हो जाता है। इनका पालन वानप्रस्थी तथा भिक्षुओं के लिए कल्याणप्रद हैं।[125]

एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ विरोध नहीं हो सकता। मानसिक सद्वृत्तियों का एक दूसरे के साथ सामन्जस्य होना ही धर्म का असली स्वरूप है। दया के साथ क्षमा का कोई विरोध नहीं होता। अहिंसा और सहिष्णुता में कोई असामन्जस्य नहीं है और अगर कभी ऐसी परिस्थिति आ ही जाय तो युक्ति तर्क आदि के द्वारा एक दूसरे के महत्त्व का निर्णय करना चाहिए। जो अधिक महत्त्वपूर्ण हो उसी को ग्रहण करना उचित है।[126] धर्म को जो व्यक्ति वाणिज्य का साधन समझता है वह निन्दा का पात्र होता है। धर्म का दिखावा करके, वक्तृता करके अथवा पाखण्ड आदि के द्वारा धनोपार्जन करने को ही धर्म-वाणिज्य कहते हैं।[127] इस काल में भी धनी व्यक्ति अधर्म को धर्म के रूप में मनवाने के लिए जोर जबर्दस्ती करते थे। अविवेकी बलवानों का अत्याचार हर युग में समान रहा है।[128]

धर्म के विषय में किसी आदर्श पुरूष को गुरू बना लेना चाहिए। उनके कथनानुसार चलने से पथभ्रष्ट होने की आशंका नहीं रहती। जो बिना गुरू के बताये अपने मन से ही आचरण करते हैं वह बहुत बार भूल कर बैठते हैं, इसलिए किसी को गुरू बनाना बहुत जरूरी

है, जो मनुष्य गुरू के अधीन रह कर धर्माचरण करता है वह कभी विपन्न नहीं होता। उपदेष्टा उसे ठीक पथ पर परिचालित करता रहता है।[129] धार्मिक अनुष्ठान एकान्त में अकेले ही करने का उपदेश दिया गया है, संघबद्ध होकर धर्माचरण करना उचित नहीं बताया है। मिल-जुलकर उपासना आदि करने में लोक दिखावे का भाव आ सकता है और उसमें नाम की प्रत्याशा के कारण पुण्य का क्षय होता है अत: जहाँ तक बने एकान्त में ही सब क्रियाएं करनी चाहिए। जो दिखावा करते हैं, उन्हें यश मिलने की थोड़ी बहुत आशा होती ही है, ऐसे व्यक्ति को धर्मध्वजिक कहते हैं। धर्म की पताका उड़ाकर समाज में धर्मज्ञ के रूप में ज़्याति प्राप्त करना तथा आनुषंगिक रूप से धर्म को जीविका का साधन बनाना जघन्य कर्म है। प्रकट रूप में धर्मध्यान करने पर साधारण लोग धार्मिक कहकर आदर सत्कार करने लगते हैं और तब उस व्यक्ति में अहं की भावना का उदय होना अस्वाभाविक नहीं है। सज़्मान की विडज़्बना से अपनी रक्षा करना दुर्बल मनुष्य के लिए आसान नहीं है। इसीलिए शायद संगठित होकर धर्मानुष्ठान करने को निषिद्ध बताया है। औचित्यबोध होने पर ही धर्म का पालन करना चाहिए, अभिमान पोषण के लिए नहीं।[130]

देश काल आदि के अनुसार जब जैसी परिस्थिति हो, आचार व्यवहार में इधर-उधर थोड़ा परिवर्तन कर लेना अनुचित नहीं है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि समय विशेष पर अधर्म का रूप ले लेते हैं। उस समय हिंसा आदि को ही धर्म समझ कर अपनाना चाहिए।[131] मनुष्य को कभी भी धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए, यही महाभारत का उपदेश है। कैसी भी विपत्ति क्यों न आये धर्म छोड़ना संगत नहीं है। यहाँ तक कहा है कि यदि जीवन बचाने के लिए धर्म का त्याग करना पड़े तो वह जीवन मृत्यु के ही समान है।[132] धर्म मनुष्य की विपत्ति से रक्षा करता है। पापों का नाश करके शान्ति का आस्वाद देता है।[133]

धर्मपालन के इतने उपदेश महाभारत में मिलते हैं कि अगर उन्हें संकलित किया जाय तो हजारों की संज़्या में पहुँचेगें। कहा है धर्म से श्रेष्ठ लज़्य वस्तु संसार में और कोई नहीं है। धर्म मनुष्य की हर इच्छा पूर्ण करता है।[134] धर्म रक्षा करता है और अधर्म विनाश अतएव कल्याणेच्छु व्यक्ति को धर्म में मन लगाना चाहिए। परलोक में पुण्यफल से ही शान्ति की प्राप्ति होती है। मृत्यु के बाद कोई पार्थिव वस्तु साथ नहीं जाती, धर्म ही आत्मा का साथी होता है।[135] धर्मपालन के लिए धन की कोई आवश्यकता नहीं होती। धर्म के उद्देश्य से जो धन की अभिलाषा करते हैं उनके लिए निस्पृह रहना ही श्रेय है।[136] गृहस्थ हो या सन्यासी, प्रत्येक

व्यक्ति को किसी न किसी तरह का धर्माचरण करना ही चाहिए। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के भेद से धर्म में विभिन्नता होते हुए भी अनुष्ठान की उपयोगिता है।

जहाँ धर्म है वहीं जय है।[137] इस वाक्य को महाभारत का मूल सूत्र कहा जा सकता है। इस वाक्य को सूत्र मानकर ही मानों सज़्पूर्ण महाभारत भाष्य के रूप में रचा गया है। धर्म का दिखाना तथा धर्म की जय और अधर्म का विनाश इसका प्रचार करना ही महाभारत का उद्देश्य है। यतो धर्मस्तत: कृष्णो यत: कृष्णस्ततो जय:। धर्म जिस प्रकार अर्थ व काम का जनक है उसी प्रकार मोक्ष का भी हेतु है, यह पहले ही कहा जा चुका है। शुभकर्मी मनुष्य शान्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। बार-बार के अज़्यास से उसकी प्रज्ञा बहुमुखी होती है, अशुभ भावनाएँ उसके अन्तर में नहीं रह पातीं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि उपभोग्य वस्तुएं धर्मज्ञ के अधीन होती हैं, वह यथेच्छ रूप से इनका उपभोग कर सकता है। लेकिन भोग से मनुष्य को चरम शान्ति नहीं मिलती, इसलिए भोग के बाद उन्हें त्याग का पथ ढूंढना पड़ता है। अन्त में वे इच्छारहित होकर वैराग्य धारण कर लेते हैं। यह वैराग्य उनके जीवन की गति को ही बदल देता है। तब वे कामनाओं का त्याग करके धर्माभिमुख हो जाते हैं, जीवन की अनित्यता के सज़्बन्ध में उनकी धारणा सुदृढ़ हो जाती है और वे मुक्ति के लिए व्याकुल हो उठते हैं। यही व्याकुलता उन्हें सब बंधनों से मुक्त कर देती है और वे शाश्वत मुक्ति के आनन्द से पूर्णकाम होकर अपने रूप में अवस्थित हो जाते हैं। विभिन्न समाजों में धर्म के विभिन्न रूप हैं। मनुष्य चाहे किसी भी समाज में क्यों न रहे, कुछ निर्दिष्ट नियमों का पालन उसे हर हालत में करना चाहिए। महाभारत में किरात आदि पर्वतीय जाति तथा दस्यु आदि का धर्म वर्णित हुआ है। उनके बहुत से धार्मिक नियम सज़्य समाज के नियमों से मिलते हैं।

मान्धाता ने देवराज इन्द्र से पूछा- ''भगवन् मेरे राज्य में यवन, किरात, गांधार, चीनी, शबर, शक, तुषार, पल्हव, आंध्र, मद्रक, पौड़, पुलिन्द, रमठ, कज़्बोज आदि जातियों के बहुत से लोग हैं। उनमें ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोग हैं। बहुत से दस्यु भी मेरे राज्य में रहते हैं, मुझे बताइये मैं उनके लिए कौन सा धर्म स्थिर करूँ।'' इन्द्र ने उत्तर दिया- ''माता-पिता की सेवा दस्युओं के लिए भी जरूरी है। पितृयज्ञ का अनुष्ठान, प्याऊ, हौज, आदि बनवाना, अहिंसा, सत्य, पुत्र, दारा आदि का भरण-पोषण, इन्हें सामान्यत: मानवधर्म कहा जाता है। अत: दस्युओं को भी इनका पालन करना चाहिए।''[138] आपद्धर्म प्रकरण में कहा गया है, दस्यु भी साधुजीवन व्यतीत कर सकते हैं। निरस्त्र को मारना, स्त्रियों का सतीत्व हरण करना, कृतघ्नता आदि सर्वथा

वर्जनीय है। ब्राह्मण का धन छीनना या किसी का सर्वस्व हरण करना उचित नहीं है। किसी जनपद पर आक्रमण करके लूट पाट मचाना जघन्य कर्म है।[139]

कहा गया है कि कायव्य नामक एक दस्यु सरदार ने दस्यु धर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। एक दिन उसके दल के लोगों ने उससे दस्यु धर्म के बारे में प्रश्न किया। उसने कहा स्त्री, बालक, तपस्वी, निरस्त्र व्यक्ति एवं भीरू की कभी हत्या नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाना चाहिए, केवल धर्म रक्षा के निमित्त ही दस्यु वृत्ति अपनानी चाहिए। ब्राह्मण तथा तपस्वी की हितकामना करनी उचित है। पितर, देवता तथा अतिथि की पूजा करना कर्तव्य है। जो साधु पुरूष को कष्ट पहुँचाता हो, उसे सजा देना दस्युधर्म है। जिसका धन सत्कार्यों में न लगता हो, उसकी सज़्पत्ति के हरण करने में कोई पाप नहीं है। असाधु से धन छीन कर साधु पुरूष का पोषण करना धर्मकृत्य है।''[140]

बाहरी आचरण हर युग में ही भिन्न होता है। लेकिन धर्म का लक्ष्य एवं मन की प्रशस्तता देश और काल के द्वारा सीमाबद्ध नहीं होती यह पहले ही कहा जा चुका है। यदि समस्त सद्वृत्तियों को धर्म के रूप में स्वीकार किया जाय तो कहा जायेगा कि महाभारत में वर्णित धर्म शाश्वत, निर्मल, सार्वजनिक एवं सार्वभौमिक है। जिस धर्म का लक्ष्य विश्व कल्याण हो, उसमें संकीर्णता को स्थान नहीं मिलता। अनुष्ठेय धर्म प्रधानत: आत्मशुद्धि के साधन हैं, अनुष्ठाता के साध्य नहीं। आत्मशुद्धि मनुष्य को महत् से महत्तर आदर्श की ओर अनुप्राणित करती है और अन्त में अनुष्ठाता को अपना साध्य मिल जाता है। इसी कारण कहा गया है- 'नित्यो धर्म: सुखदु:खे ष्वनित्ये।'

पर्यावरण एवं मनोविश्लेषण की दृष्टि में

वर्तमान समय में जनसंज़्या वृद्धि के कारण पर्यावरण प्रदूषण की आशंका बढ़ गयी है। सज़्प्रति न केवल यह वसुन्धरा ही प्रदूषण से आक्रान्त है अपितु जल, वायु, आकाश, तेजराशि युक्त आदित्य मण्डल भी प्रदूषण से आच्छादित है। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी मण्डल के रक्षा कवच 'ओजोन परत' में भी छिद्र हो गया है। पर्यावरण प्रदूषण का परिणाम उत्तरोत्तर बढ़ ही रहा है। स्वार्थ साधन में संलग्न मानवों द्वारा गंगा, यमुना आदि नदियों का जल प्रदूषित हो रहा है, वनों को काटा जा रहा है, वन्य जीवों की हिंसा आदि की जा रही है। जिसके कारण वायुमण्डल में कार्बनडाई ऑक्साइड गैस की मात्रा में वृद्धि हो रही है तथा पृथ्वी की उर्वराशक्ति भी कम हो रही है। अत: सभी देशों के प्रबुद्ध वर्ग के चिन्तक पर्यावरण संरक्षण

के प्रति प्रयत्नशील हैं। इस दृष्टि से समस्त लोगों के लिए पर्यावरण विज्ञान का ज्ञान होना अनिवार्य है।

पर्यावरण विज्ञान-सामान्य परिचय

समस्त विश्व प्राकृतिक पर्यावरण से घिरा हुआ है। इसे भौगोलिक पर्यावरण भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत जलवायु ऋतु में तापक्रम, भूमि की उत्पादकता, जल, पर्वत, समुद्र, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पशु-पक्षी आदि आते हैं। 'पर्यावरण' शब्द, दो शब्दों से मिलकर बना है - 'परि+आवरण', 'परि' अर्थात् चारों ओर, आवरण अर्थात् ढके हुए। कोई भी वस्तु पदार्थ जो ढका हुआ हो या घिरा हुआ है, वह उसका आवरण है। उसी प्रकार जिन पदार्थों से, जिन क्रियाकलापों से हम घिरे हुए हैं, वही हमारा 'पर्यावरण' है। इस प्रकार वे सभी दशायें जो एक प्राणी के अस्तित्व के लिए आवश्यक है तथा उसे चारों ओर से घेरे हुये हैं, वह 'पर्यावरण' कहलाती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, 'भौगोलिक पर्यावरण उन सभी दशाओं से मिलकर बना है जो प्रकृति ने मनुष्य को प्रदान की है।'[141] भौगोलिक पर्यावरण का सम्बन्ध ऐसी प्राकृतिक दशाओं से है जो मनुष्य से प्रभावित हुए बिना अपना कार्य करती है तथा जो मनुष्य के अस्तित्व तथा कार्यों से स्वतन्त्र रहते हुए स्वयं परिवर्तित रहती है। वायु, जल, भूमि, पेड़-पौधे, वनस्पति और जीव-जन्तु सभी मिलकर वातावरण का निर्माण करते हैं, इसे वैज्ञानिक भाषा में 'पर्यावरण' कहते हैं।

महाभारत तथा पर्यावरण विज्ञान

स्वस्थ पर्यावरण ही मानव तथा कृषि की आधारशिला होती है। इससे ही चतुर्दिक विकास सम्भव है। अत: पर्यावरण एक ऐसी व्यापक दशा है जो सभी प्राणियों के कार्यों, विचारों तथा व्यावहारों को प्रभावित करती है तथा विभिन्न प्रकार से लाभकारी सिद्ध होती है। इसका विस्तृत उल्लेख वेदों, उपनिषदों, पुराणों रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों में मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि विद्वान पर्यावरण विज्ञान के प्रति अत्यन्त चिन्तनशील थे। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ छियालीसवां सूक्त ''अरण्यानी सूक्तञ्'' नाम से प्राप्त होता है, जिसमें 'अरण्यानी' को सभी जीवों की माता के रूप में व्यक्त किया गया है।[142] यजुर्वेद में वृक्षों को पूज्य मानकर प्रमाणित किया गया है।[143]

ऋग्वेद में जल को प्राणियों का हितैषी बन्धु कहा गया है।[144] महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में पर्यावरण विज्ञान से सम्बद्ध वैज्ञानिक चेतना का उल्लेख किया है। महाभारतकार ने

पर्यावरण शुद्धि का सम्बन्ध धर्म से जोड़कर अभिव्यक्त किया है तथा प्रकृति को देवतामय माना है। महर्षि व्यास ने नदी, पर्वत, समुद्र, वृक्षों की जड़, गोशाला, दुर्गम मार्ग, वन, चौराहे, सड़क, चबूतरे, किनारे गजशाला, अश्वशाला, रथशाला, जीर्ण उपवन, जीर्ण गृह पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य उनकी किरणें, रसातल तथा अन्यान्य स्थानों में उनके अधिष्ठाता देवता को श्रद्धासहित प्रणाम किया है। इन समस्त स्थानों में रूद्र देवता का वास होना स्वीकार किया है।[145]

महर्षि व्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में जाजलि और तुलाधार के आत्मयज्ञ विषयक धर्मोपदेश में समस्त नदियों को सरस्वती के रूप में व्यक्त किया है तथा पर्वतों को पूजनीय बताया है।[146] यहाँ इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास द्वारा प्रकृति को धार्मिक भाव से जोड़ने का उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में ही है क्योंकि धार्मिक भाव रखने पर मानव स्वत: ही ऐसे स्थलों को प्रदूषित नहीं करेगा तथा इससे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान स्वत: हो सकेगा। महाभारतकार ने गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से कहे गये वचनों में मानसिक पर्यावरण के संरक्षण का उल्लेख किया है।[147]

इस वर्णन में भूमि से आकाश पर्यन्त सभी को पर्यावरण कहा गया है। ऐसा संस्कृत वाङ्मय में वर्णित है। काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक पर्यावरण को दूषित करते हैं। विवेक ज्ञान से ऐसा आवृत होता है। अत: गीता के अध्याय तीन में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है।[148] जब विवेक ज्ञान का तिरोधान होता है तब ज्ञान-विज्ञान का नाश होता है। जिससे सर्वत्र हिंसा, आतङ्कवाद, अपहरण आदि उत्पन्न होता है। गीता में कहा गया है कि आधिभौतिक पदार्थ स्थूल और आधिदैविक पदार्थ सूक्ष्म है।[149]

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा ये सूक्ष्म जगत के पदार्थ हैं। ये सभी काम, क्रोध आदि भावों से आवृत्त होते हैं जिससे मानसिक तथा रासायनिक पर्यावरण प्रदूषित होता है। अत: इस आधार पर पर्यावरण के तीन भेद किये जा सकते हैं - (1) भौतिक पर्यावरण - इसमें वृक्ष, वनस्पति, नदी, पर्वत, खगोल आदि से मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (2) सामाजिक पर्यावरण - इसमें आचार, भाव, विचार आदि का मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है (3) मानसिक पर्यावरण - इसमें काम, क्रोध आदि मनोवेग द्वारा संयम, शिव सङ्कल्प से शान्ति लाभ प्राप्त होता है।

महाभारत तथा जीवों की रक्षा

प्राचीन वैदिक युग से ही ऋषियों और विद्वानों ने वन्य जीवों की रक्षा को महत्वपूर्ण बताया है। प्राचीन ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित अनेक तथ्यों का उल्लेख मिलता है। महर्षि व्यास ने

गीता में श्रीकृष्ण के वचनों में प्रकारान्तर से यह उल्लेख किया है कि प्रकृति के पञ्चमहाभूतों से निर्मित सभी प्राणी, वनस्पति, पशु आदि देवताओं का ही रूप है तथा प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमपिता परमात्मा का निवास है।[150] महाभारतकार ने जीव तथा उसके परिवेश में परस्पर मैत्री तथा प्रेम भाव का होना अनिवार्य बताया है। अत: उन्होंने जन्तुओं के प्रति हो रहे अत्याचार जैसे- बैलों को बधिया करना, उनसे भारी बोझ उठवाना, दमन करके काम में लगाना आदि को घृणित कार्य बताया है। साथ ही पशुओं का क्रय-विक्रय भी अनुचित बताया है। इस विषय में कारण का उल्लेख भी किया है कि पांच इन्द्रियों वाले समस्त प्राणियों में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, ब्रह्मा, यज्ञ और यमराज-इन सभी देवताओं का वास रहता है। जो इन्हें बेचकर आजीविकार्जन करते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। अत: महाभारतकार ने धर्म के आवरण में तुलाधार द्वारा धर्म विषयक चर्चा में जाजलि के प्रति प्रकारान्तर में यह कहा है कि बकरा अग्नि का, भेड़ वरूण का, घोड़ा सूर्य का और बछड़ा चन्द्रमा का स्वरूप है।[151] अत: इस कथन से यह प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में जीव की रक्षा के प्रति समाज चेतनाशील था।

महाभारत काल में जन्तुओं की हिंसा करना तथा मांसाहार करना पाप माना जाता था, परन्तु कहीं-कहीं अपवाद रूप मांसाहार का उल्लेख भी महाभारत में मिलता है। महाभारत के वन पर्व में धर्म-व्याध तथा कौशिक के संवाद में हिंसा और अहिंसा का विवेचन किया गया है जिसके अनुसार प्रकारान्तर से यह कथन मिलता है कि प्राणियों का वध करने वाला मनुष्य तो निमित्त मात्र है अतिथियों तथा पोष्य वर्ग के भोजन में और पितरों की पूजा में मांस का उपयोग होने से धर्म होता है।[152] वहीं दूसरी ओर शान्तिपर्व में राजा विचखु के द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा की गयी है जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो यह सोचते हैं कि यज्ञ में वृक्ष, अन्न, पशु आदि की आहूति से प्राप्त मांसाहार करना उचित है तो यह ठीक नहीं है अपितु कोई भी ऐसे धर्म की प्रशंसा नहीं करता है। सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी, इन सब वस्तुओं को धूर्तो ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।[153] अत: इस कथन से यह प्रतीत होता है कि महाभारत काल में यज्ञजनित पशु-पक्षियों की हिंसा को अनुचित माना जाता था। साथ ही अहिंसा को परम धर्म भी माना जाता था। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया है।[154] इस सन्दर्भ में महाभारत के उद्योग पर्व में सप्तर्षियों तथा नहुष के मध्य यज्ञ-बलि के सन्दर्भ में चर्चा की गयी है जिसमें ऋषियों के मतानुसार वेद में प्रयुक्त गवालज़्भ इस बात का प्रमाण है कि पशु हिंसा यज्ञ के सन्दर्भ में धर्म ही कहलाती है।[155] इस कथन पर नहुष ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

वह प्रमाण नहीं है। नहुष ने किस आधार पर यह उत्तर दिया उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु टीकाकार के मतानुसार नहुष का कथन है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में हवन के मंत्र हैं तथा यज्ञ की हवि अर्थात्, दूध, घी, कण्डे आदि गौओं में हैं। इसी कारण गौ और ब्राह्मण दोनों ही पवित्र और अवध्य हैं। अत: यह प्रतीत होता है कि यज्ञ में गो बलि का निषेध तभी (नहुष के समय) से ही है। यहाँ महाभारतकार ने प्रकारान्तर में जीवों की हिंसा करना अनुचित बताया है। महर्षि व्यास ने महाभारत में अनेक स्थानों पर गोवंश का रक्षण, पालन तथा संवर्धन का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में महाभारत के अनुशासन पर्व के सत्तहत्तरवें अध्याय में कपिला गौओं की उत्पत्ति तथा महिमा का वर्णन, इसी पर्व के अठहत्तरवें अध्याय में वसिष्ठ द्वारा सौ दास के प्रति गोदान की विधि तथा महिमा का वर्णन किया गया है। इसी पर्व में आगे लक्ष्मी और गौओं के संवाद की चर्चा की गयी है जिसमें गौओं के द्वारा गोबर तथा गोमूत्र में लक्ष्मी के निवास का उल्लेख मिलता है।[156] इससे यह प्रतीत होता है कि धार्मिक सन्दर्भ में गौओं का विशेष महत्व है। अत: यह कथन महाभारतकालीन जीव संरक्षण की ओर संकेत करता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में यह वर्णन मिलता है कि जो मनुष्य गौ, बैल आदि पशुओं, धनी, वणिकजनों और खेती करने वालों की भलीभांति रक्षा करता है, वह मनुष्यों में शिरोमणि है।[157] अथर्ववेद में गौवों को पूजनीय बताया गया है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में सभी दिशाओं को गौवों के समान तथा चन्द्रमा को उनके बछड़ों के समान बताया गया है।[158] वाल्मीकि रामायण में भगवान राम के पूर्वज महाराज दिलीप द्वारा नन्दिनी गाय की पूजा करने का उल्लेख मिलता है। यही नहीं महाभारत काल में उत्पन्न हुए भगवान् श्रीकृष्ण का एक सर्वप्रिय नाम 'गोपाल' है। अत: इस समस्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्राचीन वैदिक युग से ही जीवों की सुरक्षा का विशेष महत्त्व था।

महाभारत तथा वृक्षारोपण

मानव जीवन में वृक्षों का विशेष महत्व है। वृक्ष पर्यावरण को स्वच्छ, सन्तुलित बनाये रखने में सर्वाधिक योगदान देते हैं। ये मिट्टी के कटाव को रोककर मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं जिससे उत्तम फसल प्राप्त होती है। इनके द्वारा कार्बन डाई ऑक्साइड के अवशोषित करने तथा ऑक्सीजन प्रदान करने के कारण ही वातावरण की वायु शुद्ध होती है, अत: इतने महत्वपूर्ण वैज्ञानिक कारणों के कारण वृक्ष 'जीवनदाता' कहलाते हैं। प्राचीन काल में ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि वृक्षों की उपयोगिताओं से भली-भांति परिचित थे। इस सन्दर्भ में प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों जैसे - वेदों, पुराणों, उपनिषदों, महाकाव्यों आदि में उल्लेख मिलता है। यथा- ऋग्वेद के दशम

मण्डल में लिखित मंत्रानुसार, 'विश्व भेषज' नामक संबोधन द्वारा आरोग्यकर (औषधीकृत) भेषज वायु प्रवाहित होने का स्रोत मिलता है।[159] यजुर्वेद में वनस्पति, वृक्ष आदि को औषधि के अर्थ में व्यक्त किया गया है।[160] ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त वन देवता के लिए वर्णित है यथा –अरण्यानी सूक्त।[161]

महाभारत में वृक्षारोपण से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन मिलता है। इस सन्दर्भ में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति बगीचे लगाने से प्राप्त फल की चर्चा की गयी है जिसके अनुसार, वृक्षारोपण करने वाला पुरूष अपने मरे हुए पूर्वजों और भविष्य में आने वाली सन्तानों का तथा पितृकुल का ही उद्धार कर देता है, जो वृक्ष लगाता है उसके लिये ये वृक्ष पुत्ररूप होते हैं, इसमें संशय नहीं है। फले-फूले वृक्ष इस जगत में मनुष्यों को तृप्त करते है, जो वृक्ष का दान करता है, उसको वे वृक्ष पुत्र की भांति परलोक में तार देते हैं।[162] महर्षि व्यास द्वारा वर्णित इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में पर्यावरण संरक्षण के प्रति सामान्यत: लोग सचेत थे। वे वृक्षारोपण के महत्त्व से भली-भांति परिचित थे। महाभारतकार ने सभा पर्व में श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं वृक्षारोपण किये जाने का उल्लेख किया है। जिससे यह प्रतीत होता है कि भगवान द्वारा इस कर्म के किये जाने से इस कर्म (वृक्षारोपण) का महत्त्व और भी बढ़ गया। अत: महाभारतकार ने सामान्य जनता में पर्यावरण के प्रति वैज्ञानिक चेतना को जाग्रत करने के उद्देश्य से ही श्रीकृष्ण द्वारा वृक्षारोपण का उल्लेख किया है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु वृक्षों के महत्त्व से महाभारतकालीन लोग भलीभांति परिचित थे। महाभारतकार ने वृक्षारोपण कर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से भी अनेक स्थानों पर वृक्षों के महत्त्व तथा विशेषताओं का उल्लेख महाभारत में किया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा संसारवृक्ष का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार आदिपुरूष परमेश्वर संसार रूपी वृक्ष की जड़ (मूल) है, ब्रह्मा उस वृक्ष की शाखायें, वेद उसके पत्ते हैं।[163] इस तरह भगवान ने स्वयं वृक्षों के महत्त्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। पुराणों में भी वृक्षों को देवत्व रूप में स्वीकार किया गया है।[164]

आधुनिक वैज्ञानिकों ने शोध के आधार पर यह बताया है कि पीपल के वृक्ष से सर्वाधिक ऑक्सीजन मुक्त होती है। अत: पर्यावरण की शुद्धि के लिए यह वृक्ष अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि व्यास ने भी महाभारत में पीपल के वृक्ष को विशेष रूप से लाभकारी बताया है। गीता के दशम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को 'पीपल का वृक्ष' कहकर सम्बोधित किया है।[165] इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होनें पीपल की

विशेषता को प्रकट करने तथा पर्यावरण को शुद्ध बनाने के उद्देश्य से ही स्वयं को पीपल का वृक्ष कहा होगा। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद में कहा गया है कि पीपल के नीचे बैठना चाहिए और पलाश के वृक्षों के समीप बस्ती बनानी चाहिए।[166] ऋग्वेद में वायु प्रदूषण से बचने के लिये निर्देश दिया गया है कि वन में वनस्पतियाँ उगाओ।[167] अथवा 'वृक्षारोपण करो' 'वन महोत्सव' मनाओ। यदि मानव स्वार्थवश वृक्षों, वनों आदि को काटता ही रहेगा और नये वृक्ष नहीं लगाएगा तो पृथ्वी पर कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा बढ़ जाएगी, पर्वतों पर जमी बर्फ पिघलने लगेगी, जिससे जल प्लावन की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद में मानवता की रक्षा हेतु यह वर्णन मिलता है कि ''हे वनस्पति! इस तेज कुल्हाड़े ने महान् सौभाग्य के लिए तुझे काटा है, तेरा उपयोग हम सहस्राङ्कुर होते हुए करेगें।''[168] इससे प्रतीत होता है कि वृक्ष को ऐसा काटने के बाद में उस स्थान पर अनेक अङ्कुर उत्पन्न हो सके और इसके वायु प्रदूषण का निवारण हो सके।

महाभारतकार में वृक्षों के महत्त्व को जानकर महाभारत में देवों, यक्षों तथा मानवों की सभाओं के वर्णन के प्रसङ्ग में नाना प्रकार के वृक्षों, लताओं आदि के लगाए जाने का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में यमराज की सभा[169] वरूण की सभा[170] तथा कुबेर (यक्ष) की सभा[171] का उल्लेख सभा पर्व में मिलता है। महाभारतकार ने पर्यावरण की स्वच्छता तथा स्वास्थ्य वर्धन क्षमता को बनाये रखने के लिए महलों आदि के समीप वृक्ष, लता, कमलयुक्त पुष्करिणी के बनाये जाने का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर किया है। इस सन्दर्भ में मयासुर द्वारा सभा निर्माण के प्रसंग में वैशज़्पायन द्वारा जनमेजय के प्रति चर्चा की गयी है कि उस भवन के चारों ओर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, सदा फूलों से युक्त तथा शीतल छाया वाले थे। साथ ही भवन के चारों ओर वन, उपवन और बावड़ियाँ भी थीं। इससे प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में ही वृक्षारोपण करने की बात कही है।[172]

महाभारत तथा जल संरक्षण

तत्त्ववेताओं के अनुसार मानव शरीर पंच तत्त्वों से मिलकर बना है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। मानव शरीर का 2/3 भाग और उसके समस्त भार का 4/5 भाग जल ही होता है। इसी प्रकार सभी वृक्षों जीव-जन्तुओं के शरीर में भी जल रहता है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि जल, प्राणियों के लिए अत्यावश्यक है। प्राचीनकाल में वैदिक ऋषियों, शास्त्रकारों और विद्वानों ने पर्यावरण की शुद्धि बनाये रखने के लिये जल के महत्त्व का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया है। संस्कृत वाङ्मय में जल को जीवन का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद

के मंत्रानुसार शुद्ध जल में अमृत तथा औषधि का निवास होता है। यथा – अप्स्वव्तरममृत अप्सु भेषजज्।[173]

महाभारत काल में जल को नारायण का स्वरूप माना जाता था। इस सन्दर्भ में वन पर्व में भगवान बाल मुकुन्द ने अपने स्वरूप की चर्चा में मार्कण्डेय के समक्ष इसका उल्लेख किया है।[174] महाभारत के शान्तिपर्व में तुलाधार तथा जाजलि संवाद में यह चर्चा की गयी है कि सभी नदियां सरस्वती देवी का रूप है।[175] गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं को श्री भागीरथी गङ्गा के नाम से अभिव्यक्त किया है।[176] अत: इस विवरण से प्रतीत होता है कि महाभारत काल में जल को देवता रूप में माना जाता था। इसी कारण धार्मिक भाव के आवरण में लोग जल की स्वच्छता, पवित्रता, संरक्षण आदि को विशेष महत्त्व देते थे। महाभारत काल में देवनदी गंगा का विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि गंगा नदी के जल में कीटाणु नहीं पड़ते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनुसंधान के फलस्वरूप यह स्वीकार किया है कि गङ्गा जल में बैक्टीरियोफेज नामक विषाणु होते हैं जो जीवाणुओं तथा अन्य हानिकारक सूक्ष्म जीवों को जीवित नहीं रहने देते हैं। अत: इस नदी के जल में प्राणवायु (ऑक्सीजन) की मात्रा को बनाये रखने की असाधारण क्षमता होती है।

अत: इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में गङ्गा के इस विशेष गुण से सभी भली–भांति परिचित थे। इसी कारण उसे देवनदी कहा जाताथा। इस सन्दर्भ में गरूड़ पुराण में गङ्गा की विशेषता का उल्लेख मिलता है।[177] महाभारतकार ने पर्यावरण की सुरक्षा के सन्दर्भ में जल के महत्व का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर किया है। महाभारत के शान्ति पर्व में विश्वामित्र मुनि तथा चाण्डाल के संवाद में बिना जल से उत्पन्न संकट का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार, त्रेतायुग के समाप्त होने तथा द्वापर युग के प्रारम्भ होने के समय प्रजा के बहुत बढ़ जाने पर उस समय इन्द्र द्वारा वर्षा बन्द कर दी गयी। जिससे नदियां सरोवर, कुएं, छोटे–छोटे जलाशय सूख गये। जलाभाव के कारण पोखर बन्द हो गये। खेत, गौशालाएं, बाजार–हाट, यज्ञ–उत्सव आदि नष्ट हो गये। नगर उजाड़ हो गये सर्वत्र उपद्रव उपस्थित होकर पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग निर्जन हो गया। भूख–प्यास से व्याकुल जीव–जन्तु प्राय: समाप्त हो गये और बचे हुए प्राणी एक दूसरे पर आघात करने लगे।[178] इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बिना जल से जीवन नष्ट हो जाता है। ऐसी शिक्षा देने के उद्देश्य से मानवों में पर्यावरण सन्तुलन बनाए रखने के लिए जल के महत्त्व को दर्शाया गया है।

महर्षि व्यास ने जल के महत्त्व के साथ-साथ जल संरक्षण अर्थात् जल संचय का भी उल्लेख महाभारत में किया है। इस सन्दर्भ में भीष्म तथा युधिष्ठिर के संवाद में जलाशय निर्माण की चर्चा की गयी है। जिसके अनुसार वर्षा के जल का संचय करना अत्यन्त पवित्र तथा पुण्यप्रद कार्य माना गया है। अत: भीष्म द्वारा यह कहा गया है कि वर्षा जल के संचय करने हेतु अधिक से अधिक जलाशय खुदवाने चाहिए साथ ही जितने समय तक तालाब में पानी भरा रहता है उतना ही अधिक पुण्य जलाशय बनवाने वाले को मिलता है। यदि कुछ महीनों तक ही पानी भरा रहे अर्थात् जलाशय कम गहरा हो, तो थोड़ा पुण्य और यदि अधिक गहरा जलाशय होने के कारण सदैव जल भरा रहे तो अत्यधिक पुण्य प्राप्त होता है।[179] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने भूमिगत जल का स्तर नीचे न हो तथा जल संकट न उत्पन्न हो इसी कारण ऐसा वर्णन किया है। साथ ही यहाँ महाभारतकार ने वर्षा के जल के संचय से बाढ़ आदि की समस्या न उत्पन्न हो ऐसा विचार करके ही यह सरल समाधान सुझाया है कि जलाशय बनवाओ। अत: जल संचय का यह उपाय वैज्ञानिक दृष्टि से उत्तम प्रतीत होता है।

जल की स्वच्छता को ध्यान में रखते हुए महाभारतकार ने शान्तिपर्व में वृत्तासुर के वध से उत्पन्न ब्रह्महत्या के दोष में इसकी चर्चा की है। इस सन्दर्भ में व्यास ने ब्रह्मदेव द्वारा यह कथन प्रस्तुत किया है कि जो भी मनुष्य अपनी बुद्धि की मन्दता के कारण जल में थूक, खंखार या मलमूत्र डालेगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।[180] अत: इस कथन से प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने धर्म के आवरण में जल को स्वच्छ बनाये रखने की शिक्षा प्राणियों को दी है। जल की स्वच्छता के सन्दर्भ में अनुशासन पर्व में आयु की वृद्धि और क्षय करने वाले कर्मों की चर्चा भीष्म तथा युधिष्ठिर के मध्य की गयी है, जिसमें प्रकारान्तर से यह कहा गया है कि दीर्घायु की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को बोये हुए खेत में, गांव के आस-पास पानी में, देव मन्दिर में, गौओं के समुदाय में, देव सञ्ज्ञन्धी वृक्ष तथा विश्राम स्थान के निकट तथा बढ़ी हुई खेती में, कभी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।[181] इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास ने पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में ही इसका उल्लेख किया है क्योंि क इस तथ्य से वे सर्वथा परिचित थे कि सार्वजनिक स्थानों पर मलमूत्र, थूक आदि डालने पर इन स्थानों की पवित्रता तथा स्वास्थ्यवर्धक पर्यावरण की क्षति होती है। इसके कारण रोगाणुओं को पनपने का अवसर मिलता है और नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। आधुनिक चिकित्सकों तथा विद्वानों के अनुसार ऐसी स्थिति में पीलिया, टाइफाइड, हैजा आदि रोग फैलते हैं। अत: यहाँ धर्म के आवरण में महाभारतकार ने भीष्म के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण का उल्लेख किया

है। प्राचीन ग्रन्थों जैसे – वेद, पुराण, शास्त्र आदि में जल की शुद्धि के अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में वृहत्संहिता में प्रदूषित जल के शोधन की विधि का वर्णन मिलता है।[182] ब्रह्मपुराण में गङ्गा को स्वच्छ रखने के निर्देश दिये गये हैं।[183]

महाभारत के अश्वमेधिक पर्व में श्रीकृष्ण द्वारा मुनि को मरू प्रदेश में जल प्राप्त होने का वरदान दिये जाने का उल्लेख मिलता है। इस कथानक के अनुसार श्रीकृष्ण ने महर्षि उत से वर मांगने को कहा, इस पर महर्षि उत ने अपने लिये कुछ न मांगकर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि इस मरूभूमि में जल अत्यन्त दुर्लभ है। अत: इस मरूभूमि में कोई प्यासा न रहे ऐसा वर दे।[184] आधुनिक समय में भी श्रीकृष्ण के इस वरदान का प्रभाव थार मरूभूमि में जैसलमेर के निकट देखने को मिलता है। आज भी कम वर्षा तपती रेत और प्रतिकूल परिस्थितियों के अतिरिक्त वहां के लोगों में जल की एक–एक बूंद को संग्रह करने की अद्भुत प्रतिभा है। यहाँ वास्तविकता में जल देवस्वरूप है तथा जलस्रोत तीर्थ है।[185] थार क्षेत्र में जल की प्रत्येक बूंद का बहुत ही व्यवस्थित उपयोग करने की आस्थाएं विकसित हैं। जल संरक्षण के प्रति इतनी चेतना भगवान् श्रीकृष्ण के वरदान का ही प्रतिफल प्रतीत होती है।

महाभारत तथा यज्ञ

प्राचीन वैदिक युग से ही पर्यावरण की स्वच्छता के प्रति ऋषि, मुनि, शास्त्रकार आदि चिन्तनशील तथा प्रयत्नशील थे। उस काल में पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त बनाये रखने के लिए अनेक उपाय अपनाये जाते थे जैसे – वृक्ष लगाना, यज्ञ करना, वन्य जीवों की रक्षा करना आदि। प्राचीन काल में यज्ञ को पर्यावरण शुद्धि का प्रमुख उपाय माना जाता था। यह परम्परा वैदिक काल, रामायण काल तथा महाभारतकाल तक निरन्तर चलती रही है। वेदों, संहिताओं, उपनिषदों आदि प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ के महत्त्व की विस्तृत चर्चा मिलती है।

इसमें वर्णमाला के सब अक्षर प्रयुक्त हुए हैं। इसमें अग्नि को यज्ञ के दूत के रूप में व्यक्त किया गया है। यज्ञ आर्यों की अपनी विशिष्ट पद्धति है। आर्य यज्ञ कुण्ड के चारों ओर पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते थे और पदार्थों से प्राप्त नाना प्रकार की गैसों का उपयोग प्रदूषण हटाने हेतु, खाद प्राप्त करने हेतु, रोगों की चिकित्सा और वर्षा कराने हेतु करते थे। महाभारत काल में भी यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व था। महर्षि व्यास ने महाभारत में अनेक स्थानों पर 'यज्ञ' का उल्लेख किया है। यज्ञ के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए महर्षि व्यास ने भगवान श्रीकृष्ण के वचनों में उन्हें यज्ञ का स्वरूप ही व्यक्त किया है। जिसमें श्रीकृष्ण ने स्वयं को यज्ञों में 'जपयज्ञ'[186] तथा 'यज्ञपुरूष'[187] के नाम से अभिव्यक्त किया है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण

ने स्वयं को यज्ञ के समस्त अङ्ग- मंत्र, घृत, अग्नि, औषधि, हविष्यान्न तथा स्वधा बताया है। अत: यह कहा जा सकता है कि भगवान नारायण ही सज़्पूर्ण यज्ञ हैं तथा भगवान के चौबीस अवतारों में यज्ञ पुरूष का अवतार प्रमुख है। सज़्पूर्ण देव-समुदाय भगवान् नारायण का ही अंश है। अत: यज्ञ चाहे इन्द्र का हो, चाहे रूद्र का हो, चाहे चण्डी देवी का हो अन्तत: उस यज्ञ में समर्थन भगवान नारायण का ही होता है। ऐसा गीता में श्रीकृष्ण ने मुनि के प्रति कहा है।[188] महाभारत काल में यज्ञ के वैज्ञानिक महत्त्व से लगभग सभी भली-भांति परिचित थे। महाभारतकार ने यज्ञ की वैज्ञानिकता स्पष्ट करते हुए गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा कहलाया है कि समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।[189]

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ के धुएं से उत्पन्न मेघ, वृष्टि करने की क्षमता रखते हैं या यह भी कहा जा सकता है कि यज्ञ के धुएं से बादल बनते हैं, जिसके कारण वर्षा होती है, इस वर्षा से खेतों की सिंचाई स्वत: हो जाती है और इससे अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञ एक विज्ञान है, बाह्य दृष्टि रखने वालों के लिए इसका धार्मिक महत्त्व भले ही नगण्य हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यज्ञ एक स्वतंत्र विज्ञान है। इसके प्रत्येक क्रिया-कलाप का अपना महत्व है तथा इसका पूर्ण निर्वाह और समस्त फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित होता है।

यज्ञ में औषधि युक्त हविद्रव्य से जो वातावरण निर्मित होता है वह पर्यावरण के लिए उपयोगी होता है। इस प्रकार के वातावरण से अनेक प्रकार के रोग, कृमि और विषैली गैसों का शमन होता है।[190] यज्ञ ही प्रकृति के स्थूल तत्त्वों में शक्ति और सुगन्ध भरता है। जिस प्रकार वृक्ष मानव द्वारा निष्कासित कार्बन डाई ऑक्साइड को ग्रहण करता है तथा वातावरण शुद्ध करता है उसी प्रकार यज्ञ में आहूत करने वाले तत्त्वों (घी, अन्न, विभिन्न औषधियों) से उत्पन्न धुआं भी वायुमण्डल को दोषमुक्त करता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य की प्राणशक्ति बल तथा ऊर्जा से सज़्पन्न हो जाती है और आरोग्य तथा आयु की वृद्धि करती है। यज्ञ द्वारा शुद्ध वायु श्वास द्वारा फेफड़ों में पहुंचती है तो मनुष्य के शारीरिक दोष दूर होते हैं और यदि वृक्षों को दूषित वायु प्राप्त हो तो वे भी निश्चित रूप से दूषित ऑक्सीजन प्रदान करेंगे। आधुनिक समय में दूषित वायु से नाना प्रकार के रोग जैसे - दमा, कास, खांसी आदि फैल रहे हैं। अत: संस्कृत ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि यज्ञ से उत्तम तथा विविध गुणों से युक्त वृष्टि जल निर्माण होने से वह जल कृषि उत्पादन में गुणात्मक तथा संज़्यात्मक दोनों प्रकार की वृद्धि करता है।

यद्यपि कल-कारखानों द्वारा निर्मित खाद तो जहां डाली जाती है वहीं फल देती है तथापि यज्ञ की कार्य प्रणाली का प्रभाव विशालक्षेत्र में फैल जाता है। यज्ञ की वैज्ञानिकता इस बात से और भी पुष्ट हो जाती है कि इसके द्वारा नाना प्रकार के रोगों की चिकित्सा हो जाती है। यथा - वात रोग चिकिसा के लए अपनाये गये यज्ञोपचार से प्रसिद्ध यज्ञ वैज्ञानिक श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी ने दिसञ्बर 1979 में दो वात रोगियों (श्री पं. केदारनाथ तथा वेदमित्र) को स्वस्थ किया। इस सन्दर्भ में मासिक पत्रिका 'जनज्ञान' के जनवरी 80 अ में पृष्ठ 48-49 पर छपा है।[191]

अथर्ववेद में रोगी के जीवन की रक्षा हेतु ज्ञात तथा अज्ञात रोगों और राज्यक्ष्मा आदि की चिकित्सा के सन्दर्भ में यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है।[192] प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ के वैज्ञानिक महत्त्व का विस्तृत विवेचन महाभारत में मिलता है। इस सन्दर्भ में गीता में श्रीकृष्ण ने ब्रह्मदेव के वचनों की चर्चा करते हुए कहा है कि कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर ब्रह्मदेव को उनके प्रति कथन है कि तुम सभी इस यज्ञ द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त हो और यह यज्ञ ही तुम सभी को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो। तुम सभी यज्ञ द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुज्हें उन्नत करें। इस प्रकार नि:स्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम सभी परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम सभी को बिना मांगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे।

इस प्रकार उन देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरूष उनको दिये बिना स्वयं भोगता है, वह चोरी ही कहलाता है।[193] इस वर्णन में परस्पर पोषण और समभागीदारी का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। इसे यज्ञ कहा गया है। यज्ञ साधना का प्रयोजन प्रकृति के चक्र को बनाये रखना है। अत: हितकारी तथा उपयोगी वस्तुओं का आदान-प्रदान अनिवार्य हो जाता है। प्रकृति हमें शुद्ध हवा पानी अन्न आदि प्रदान करती है। अत: हमारा परम कर्तव्य है कि हम वायु-जल आदि को प्रदूषित न करें। अन्यथा प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ जाएगा और सभी के समक्ष जीवन संकट उपस्थित हो सकता है। इस सन्दर्भ में गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।[194] महाभारतकार ने यज्ञ की महत्ता को जानकर महाभारत में अनेक स्थानों पर यज्ञों का उल्लेख किया है यथा - सभापर्व में युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ, [195] अश्वमेधिक पर्व में प्रजा का कल्याण करने हेतु महर्षि अगस्त्य द्वारा बारह वर्षों तक यज्ञ[196] किये जाने का उल्लेख आदि।

इस प्रकार समस्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यज्ञ, धर्म, संस्कृति और चिन्तन का आधार स्तज़्भ है। भारतीय यज्ञ की प्रक्रिया की सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का आधार है। यज्ञ वह विधि है जिससे प्रकृति और प्राकृतिक जगत् में आवश्यक सन्तुलन बना रहता है। यज्ञ विश्व में प्रतिक्षण चलता रहता है। अतएव यजुर्वेद में, अथर्ववेद में तथा ऋग्वेद में यज्ञ को सृष्टि-चक्र या विश्व की नाभि कहा गया है।[197] इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा द्युलोक को प्रसन्न किया जाता है और द्युलोक वर्षा के द्वारा पृथ्वी को तृप्त करता है। यज्ञ से मेघ बनते हैं, और मेघ से वर्षा होती है।[198] अत: इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में यज्ञ के द्वारा पर्यावरण शुद्धि की वैज्ञानिक चेतना का ज्ञान वैदिक काल से चला आ रहा था। मनोविज्ञान का मानवजीवन में विशेष महत्त्व है। इससे मनुष्य अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकता है। इस विज्ञान की सहायता से ही मनुष्य बुद्धि, ज्ञान, तर्क, स्मृति, कल्पना, मानसिक शक्ति तथा व्यक्तिगत विलक्षणताओं का विश्लेषण कर समझ पाता है। इस विज्ञान से जीवन के विभिन्न क्षेत्र जैसे - शिक्षा का क्षेत्र, चिकित्सा का क्षेत्र राजनीतिक क्षेत्र, तथा सामाजिक समस्याओं का क्षेत्र आदि।

महाभारत तथा मनोविज्ञान

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत: विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न आचरण करना स्वाभाविक है। इस कारण मनुष्य के व्यवहार में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नकारात्मक तथा प्रेम, दया, क्षमा, निर्वेद, अहिंसा आदि सकारात्मक भाव उत्पन्न होते हैं। इन भावों के कारणों को जानने वाला मनोवैज्ञानिक कहलाता है। महर्षि वेद व्यास ने महाभारत में पात्रों के व्यवहार तथा मनोभावों को भली भांति समझकर कथानक में यथास्थान गुज़्फ़त किया है, जिससे महाभारत में अनेक स्थानों पर मनोविज्ञान के विभिन्न रूप स्पष्ट दिखायी देते हैं, यथा - मनोविश्लेषण, मनोनिग्रह तथा सामाजिक, शैक्षिक, चिकित्सकीय आदि मनोविज्ञान। महर्षि व्यास ने महाभारत में मानव मन के अतिरिक्त शारीरिक मनोविज्ञान का भी उल्लेख किया है। वे भली-भांति जानते थे कि मानव शरीर का प्रत्येक अङ्ग प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से व्यवहार को प्रभावित करता है। महाभारतकार ने शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा ब्रह्मचर्य के विस्तृत विवेचन के सन्दर्भ में कामुकता नामक संवेग हेतु मनोवहा नाड़ी तथा सुषुज़्ना आदि अन्य नाड़ियों का उल्लेख किया गया है।[199] जिससे यह प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास को शारीरिक मनोविज्ञान का भलीभांति ज्ञान था।

महाभारत तथा मन का सैद्धान्तिक विश्लेषण

मन का विश्लेषण कर मानव के व्यवहार को समझने की प्रक्रिया प्राचीन काल से चली आ रही है। इस सन्दर्भ में महर्षि व्यास ने महाभारत में पात्रों के व्यवहार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे यह भली–भांति जानते थे कि मानव मन किन परिस्थितियों में कैसा आचरण करता है। अत: वे प्रतिकूल परिस्थितियों के परिहार कर उसे अनुकूल बनाने में प्रवीण थे। ऐसे अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं जहां मानव मन की दशा को समझकर वे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार अनुकूल बनाने में तत्पर दिखायी दिये हैं यथा – लोक प्रसिद्ध प्रसङ्गानुसार जब महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ तो अपने गुरूजनों, पितामह आदि को अपने समक्ष युद्ध में उपस्थित देख अर्जुन मोहवश शोक करने लगा तथा युद्ध न करने का निश्चय भी कर लिया।[200] अर्जुन की ऐसी दशा देख भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध हेतु उत्साहित करते हुए मनोवैज्ञानिक विधि से उसके विषादग्रस्त हृदय को शान्त किया तथा नित्यानित्य वस्तु के विवेचन पूर्वक सांख्य, कर्म, योग तथा स्थितप्रज्ञ की स्थिति का प्रतिपादन किया। जिसे 'भगवद्गीता' कहा जाता है।

महर्षि वेद व्यास एक मनोवैज्ञानिक थे क्योंकि उनको मानव मन के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों का ज्ञान भली–भांति था। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के समक्ष पञ्चमहाभूतों, मन और बुद्धि के गुणों का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें मन के दस गुण बताये गये हैं, यथा– धैर्य, तर्क–वितर्क में कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ तथा अशुभ, सङ्कल्प और चंचलता।[201] इस वर्णन से मन का सैद्धान्तिक विश्लेषण स्पष्ट हो जाता है। मन अत्यन्त चंचल होता है इसको वश में करना अत्यन्त कठिन है। इस सन्दर्भ में गीता में अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कथन मिलता है कि मानव मन, चंचल, बलवान तथा इन्द्रियों को क्षुब्ध करने वाला है इसको वश में करना वायु को रोकने के समान कठिन है।[202] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि महाभारतकार को मानव मन का गूढ़ ज्ञान था।

महर्षि व्यास ने मन की श्रेष्ठता तथा महत्त्व का वर्णन करते हुए महाभारत में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय केवल अपने ही विषय का अनुभव कर सकती है, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का नहीं। इस सन्दर्भ में अश्वमेधिक पर्व में ब्राह्मण तथा उसकी पत्नी के संवाद में विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार, नासिका, आँख आदि सात होता एक दूसरे के गुणों को कभी नहीं जान पाते हैं, जैसे– जीभ, आँख, कान, त्वचा, मन और बुद्धि – ये गंधों को नहीं समझ पाते किन्तु नासिका उसका अनुभव करती है।[203] इसी पर्व में

आगे मन तथा इन्द्रियों के परस्पर संवाद का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण द्वारा अपनी पत्नी के प्रति कथन है कि मन इन्द्रियों का राजा है तथा बिना मन की सहायता के नासिका सूंघ नहीं सकती, जीभ रस का स्वाद नहीं ले सकती, आँख रूप नहीं देख सकती, त्वचा स्पर्श तथा कान शब्द का अनुभव नहीं कर सकती। अत: मन समस्त भूतों में श्रेष्ठ है।[204] इस वर्णन द्वारा महाभारतकार ने मन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में राजा जनक के प्रति मन का सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि मन इन्द्रियों द्वारा संचालित होकर सब विषयों की ओर जाता है। इन्द्रियां उन विषयों को नहीं देखती किन्तु मन उन्हें निरन्तर देखता है। आंख मन के सहयोग से ही रूप का दर्शन करती है, अपनी शक्ति से नहीं। जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती। लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सज़्पूर्ण इन्द्रियां विषय को प्रत्यक्ष करती हैं। किन्तु इन्द्रियां कुछ नहीं देखती, केवल मन ही देखता है। अत: यदि मन विषयों से उपरत हो जाय तो इन्द्रियां भी विषयों से निवृत्त हो जाती हैं।[205] यहाँ महाभारतकार ने मन की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण व्यक्त किया है।

इस समस्त विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास मानव मन के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक जानकार थे। इसी कारण उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि मन इन्द्रियों का स्वामी है तथा वही इन्द्रियों को विषयानुभूति में सहायता करता है। जिससे विचार में लीन मन सुन्दर से सुन्दर दृश्य भी नहीं देख पाता है अथवा प्रिय से प्रिय भी नहीं सुन पाता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में अनेक स्थानों पर मानसिक सज़्प्रेषण का उल्लेख किया है। मानसिक सज़्प्रेषण से तात्पर्य है – 'दूर स्थित एक मन का दूसरे मन पर प्रभाव पड़ना।' महर्षि व्यास के अनुसार नियंत्रित मन में अपार शक्तियां होती हैं। यदि मन विषय भोगों की ओर भागता रहता है तो उसकी शक्तियां असंज़्य विषयों के असंज़्य मार्गों में बिखर जाती हैं, परन्तु यदि मन की शक्ति किसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित हो तो मन की असीम शक्ति का बोध होने लगता है। मन की एकाग्रता से विविध प्रकार की सिद्धियां जैसे- भूत-भविष्य का ज्ञान, दूसरों के मन की बात जानना लौकिक इच्छा की पूर्ति, रूप बदलना, अर्न्तध्यान होना, अपने विचारों को इच्छित व्यक्ति के पास मन ही मन पहुंचाना, भूख-प्यास पर विजय, अणिमा-गरिमा आदि अष्ट विध योग-सिद्धियां आदि प्राप्त होती हैं।

सन्दर्भ

1 धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। - महा. भा. आदि. पर्व. 62.53

2 भारतं मानवो धर्मो वेदा: साङ्गिशिचिकित्सतज्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभि:।। -महा. भा. आश्व. पर्व. 92

3 ध्वन्या. 4.5 (वृत्ति) पृ. 551

4 यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्। - महाभारत, आदिपर्व, ६२.५३

5 'कृष्ण वेदमिभं सर्वश्रृणुयाद य समाहित।
ब्रह्महत्यादि-पापानां कोटिस्तस्य विनश्यति। - महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, १८/४१

6 सुकथकर, विष्णु संकलन, आन दि मीनिंग ऑफ महाभारत, पृ. 30

7 मैकडोनल, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 284

8 महत्वाद्भारवतत्त्वातच् महाभारतमुच्यते। महाभारत, प्रथम, 1.209

9 विण्टरनिट्स, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृ. 326

10 सुकथंकर, विष्णु स., मिनिंग ऑफ दि महाभारत, पृ. 4

11 नारायणं नमस्कृत्य वरे चैव नरोत्तमज्।
देवी सरस्वतीं चैव हतो जयमुदीरयेत।। महाभारत, मंगलश्लोक, (आदिपर्व)

12 चतुर्विंशति सहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाज्यातैदिना प्रोच्यते। - आदिपर्व, १/१०२

13 अष्टौ श्लोकसहस्त्राणि अष्टौ श्लोकश्तानि च।
अहं वेद्मि शुको वेद्मि, संजयोवेतिवानवा। - महा. प्रथम, ८१

14 पाण्डेय श्यामलाल, भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता, प्रवेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1989, पृ0 67

15 मैकडोनल, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-1, पृ. 319

16 वैद्य चिन्तामणि विनायक, महाभारत मीमांसा, पूना, 1918 ई. पृ. 6

17 मैकडोनल, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 289

18 ज़्लीट, जे.एफ., कार्पस इन्स्क्रीप्शिन्स इण्डिकेरम (भाग-3 वाराणसी। संस्करण) उक्तं च महाभारते भगवता व्यासेन (जयनाथ का अभिलेख), पृ. 122-127

19 बुद्ध प्रकाश, महाभारत का ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 12

20 हॉपकिन्स, 50 डब्ल्यू. दि ग्रेट एपिक आफ इण्डियाज, पृ. 397-98

21 गुरूदत्त, इतिहास में भारतीय परज़्परायें। पृ0 34

22 गुह्यं ब्रह्मतदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।। - महा. भा. शान्ति पर्व 299.20

23 ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्राश्चैव स्वकर्मसु।।
स्थिता: सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वाधिष्ठिता। - महा. भा. आदि पर्व 49.10-11

24 चातुर्वर्ण्य स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्।। - वा. रा. (किष्कि. का.) 4.6

25 शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण:।।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्वदर्शिन:।। - महा. भा. वन पर्व. 180.25-33

26 जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययन सज़्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः।।
नित्यव्रती सत्य परः स वै ब्राह्मण उच्यते। – महा. भा. शान्ति पर्व 189.2-3

27 क्षेत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन सङ्गतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रियउच्यते।। –वही 189.5

28 क्षत्रियैधार्यते चापो नार्त्त शब्दो भवे दिति। – वा. रा. अरण्य का. 3.10.3

29 वाणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसज़्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।। – महा. भा. शान्ति पर्व. 189.6

30 सुविभक्तान्तरापणाम। – वा. रा. 1.5.10

31 मुखतः सोऽसृजद्विप्रान् बाहुज़्यां क्षत्रियांस्तथा।
वैश्यांश्चाप्यूरूतो राजन् शूद्रान् वै पादस्तथा।। – महा. भा. भीष्म पर्व 67.19

32 पूर्वमेव भगवता ब्राह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता .....मानहिंसा निवृता इति।।
– महा. भा. शान्ति पर्व. 191-192वां अध्याय

33 गुरूं शिष्यो नित्यमभिवादयति स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः।।
इतीव मन्येत न भाषयेत स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः।।– महा. भा. उद्यो. पर्व. 44.10-15

34 वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते।। – महा. भा. शान्ति पर्व 242.28

35 पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी। – वही 146.7

36 चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्य श्रेष्ठमुत्तमज़्। – वा. रा. अयोध्या काण्ड 106.22

37 तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्। – महा. भा. शान्ति पर्व 244.5

38 सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः। – वही 61.4

39 जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः।
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाज़्।। – वही 244.22-23

40 चतुर्विद्या भिक्षवस्ते कुटीचकवहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः।। – महा. भा. अनु. पर्व 141.89

41 निराशीः स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताज़्।। – महा. भा. शान्ति पर्व 61.9

42 ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः।
राजाहं राजपुत्रौ ययातिरिति विश्रुतः।। – महा. भा. आदि पर्व. 81.14

43 त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः।। – महा. भा. शान्ति पर्व 59.33

44 ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरित व्रतः।
क्षत्रियो वा तपस्वीयोनान्योविद्यात् कथंचन।। – महा. भा. शान्ति पर्व. 2.13

45 कथं क्षत्रियंसंस्थश्च दण्डः सञ्ज्रत्यवस्थितः।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाज़्याचार्यवेतनज़्।। – महा. भा. शान्ति पर्व. 122.13

46 महा. भा. आदि पर्व 71वां-74वां अध्याय तक

47 महा. भा. वन पर्व 293वां-296वां अध्याय तक

48 विवाहांश्चव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते।। - महा. भा. अनु. पर्व. 68.34

49 भार्यान्तथा व्युच्चरत: कौमारब्रह्मचारिणीज्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि।। - महा. भा. मीमां. प्रक. 7 पृ. 218

50 महा. भा. आदि पर्व. 95.47-48

51 वही. 95.51

52 वही, 118.23

53 वही 95.81

54 महा. भा. शान्ति पर्व 145वां अध्याय

55 एवमुक्तवा सुरान् सर्वामशशाप पृथिवीमपि।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि।। - वा. रा. बालकाण्ड 36.23

56 एकस्य बह्वयो विहिता महिष्य: कुरूनन्दन।
नैकस्या बहव: पुंस: श्रूयन्ते पतय: क्वचित्।। - महा. भा. आदि पर्व 194.27

57 श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा।। - वही 195.14

58 अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मत: स्मृता:।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष: प्राजापत्यस्तथासुर:।।
तेषां धर्ज्यान् यथापूर्वं मनु: स्वायज्भुवोऽब्रवीत्।। - वही. 73.8-9

59 महा. भा. आदि पर्व 187.28

60 वही 95.77

61 नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरूते पतिज्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरूते पतिज्।। - महा. भा. अनु. पर्व. 8.22

62 सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टि: शनैरूवाचाथ रजस्वलास्मि।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य।। - महा. भा. सभा. पर्व. 67.32

63 सा नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकज्बलवासिनी। - महा. भा. कर्ण पर्व. 43.16

64 सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहारके।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने।।
आहरामि तावद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च। - महा. भा. आदि पर्व 73.2-3

65 सीमन्तशिरोरूहा या: शुक्लोत्तरीया नरराज पत्नय:।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शताज्या: स्नुषा नृवीराहतपुत्रनाथा:।। - महा. भा. आश्रम वा. पर्व. 25.16

66 अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन्।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्तवा भगदत्तोऽब्रजत् तदा।। - महा. भा. सभा. पर्व. 51.16

67 वृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्म प्रशंसति। इत्यादि। शांति 58/1-3
शांति 56वां तथा 57वां अध्याय

68 अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते। इत्यादि। शांति 67/3-8

69 राजा चेन्न भवेल्लोके पूविध्यां दण्डधारकः। - शांति 67/16

70 शान्ति 68वां अध्याय।

71 न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दण्डिकः।
धर्मेणेव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परञ्।। इत्यादि। शांति 59/14-101

72 अराजकाः प्रजाः पूर्व विनेशूरिति नः श्रूतञ्। इत्यादि। शांति 67/17-32

73 एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित्।
कुर्यु राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात्।। इत्यादि। शांति 67/32-35

74 नराणान्च नराधिपञ् भीष्म 34/27

75 इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरूणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोर्श्वव मात्रा निर्हृत्य शाश्वर्तः।। इत्यादि। मनु 7/4, 5

76 वाह्मयतं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः। इत्यादि शांति 63/24-30

77 गोप्ता तस्मात दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता। इत्यादि। शांति 67/38-39

78 राजा प्रजानांगहृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमन्च। इत्यादि। शांति 68/59-60

79 शांति 69वां अध्याय।

80 शांति 70वां अध्याय।

81 शांति 71वां अध्याय।

82 शांति 75वां अध्याय।

83 विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते। इत्यादि। शांति पर्व 85/33, 34

84 अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परमुच्यते। शांति पर्व 85/34
अथ येषां पुनः प्रज्ञोराजा भवति धार्मिकः। इत्यादि। अनु. 62/43-44

85 शांति 92वां अध्याय।

86 शांति 94वां अध्याय।

87 शांति 112वां अध्याय।

88 शांति 113वां अध्याय।

89 शांति 115वां अध्याय।

90 शांति 116वां तथा 117वां अध्याय।

91 कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयेस्तत् समाचरेत्।। शांति 140/21

92 शान्ति 140 वा। अध्याय।

93 देवताप्रतिमाश्चैव कज़न्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रूधिरंचास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्तिच।। - महा. भा. भीष्म पर्व. 2.26

94 नमो वसिष्ठाय महाव्रताय पराशरं वेदनिधिं नमस्ये।
मार्तण्डस्यात्मजावेतौ संज्ञानसाविनिर्गतौ।। - महा. भा. अनु. पर्व. 150.10-17

95 महा. भा. काली. समा. पृ. 451

96 पूजयेद् विग्रहं यस्तु लिङ्गचापि महात्मनः।
लिङ्गे पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते।। – महा. भा. द्रोण पर्व 202.140

97 योऽसृजद्दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसञ्भवज्।
वामपार्श्वात् तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः।
युगान्ते चैव सञ्प्राप्ते रूद्रमीशोऽसृजत्प्रभुः।। – महा. भा. अनु. पर्व. 14/३४७–३४८

98 दत्तात्रेय प्रसादेन विमानं कामचनं तथा।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते।। – महा. भा. वन पर्व 115.12

99 महा. भा. भीष्म पर्व 23 वां अध्याय

100 अद्भिश्च तर्पयन्। – महा. भा. शान्ति पर्व. 9.10

101 पूर्वं स्ववंशजानां तु कृत्वाद्भिस्तर्पणं पुनः।
सुहृत्सञ्बन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिज्।। – महा. भा. अनु. पर्व. 92.17

102 सहितास्तात भोक्ष्यामो निवापे समुपस्थिते।
जरयिष्यथ चाप्यन्नं मया सार्धं न संशयः।।
निवापे नोपतिष्ठेत संग्राह्या नान्यवंशजा।। – महा. भा. अनु. पर्व 92.10–15

103 मासार्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निर्वपणानि वै।। – वही. 92.19

104 ते समासाद्य गङ्गा तु शिवां पुण्यजलो चिताज्।
ह्रदिनीं च प्रसन्नां च महारूपां महावनाज्।।
उदके क्रियमाणे तु वीराणां वीरपत्निभिः।। – महा. भा. स्त्री पर्व. 27.1–4

105 महा. भा. अनु. पर्व 64वां से 69वां अध्याय तक

106 महा. भा. वन पर्व 260वां अध्याय

107 महा. भा. स्वर्गा. पर्व. 1–5वां अध्याय

108 शान्ति 167वाँ अध्याय। शान्ति 270/24–27

109 यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः।। वन. 313/102

110 लोकयात्रामिहैके तु धर्म प्राहुर्मनीषिणः। इत्यादि। शान्ति 142/19

111 धनात् स्त्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः।। शान्ति 90/18
धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।। इत्यादि। कर्ण 69/58 शान्ति 109/11

112 अपित ह्युक्तानि ध्र्माणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।। इत्यादि। शान्ति 259/4–5

113 वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः। इत्यादि। वन 207/82

114 तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणज्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् महाजनो येन गतः स पन्थाः।। वन 313/117
अंधो जड इवाशंकी यद् ब्रवीमि तदाचर। अनु 162/22–25

115 शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मा धर्मभृतां वर।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना।। शान्ति 35/48

116 जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्वत:।
वर्जयन्ति च ये धर्म तेषां धर्मो न विद्यते। शान्ति 36/19
ब्राह्मणेषु च या वृत्ति: या पितृपैतामहोचिता। इत्यादि। अनु 162/24

117 देशधार्माश्च कौन्तेय कुलधर्मास्तथैव च। शान्ति 66/29
देशाचारान् समायान् जातिधर्मान्। इत्यादि। उद्योग 33/118

118 देशजातिकुलानान्च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन। शान्ति 54/20

119 इज्याध्ययनदानानि तप: सत्यं क्षमा धृणा। इत्यादि। उद्योग 35/56, 57

120 अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तप:।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणज्।। इत्यादि।
शान्ति 36/10 शान्ति 296/23, 24/ अनु 141/26, 27
अक्रोध: सत्यवचनं संविभाग: क्षमा तथा।
प्रजन: स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च। इत्यादि। शान्ति 60/7, 8

121 मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिण:।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्। शान्ति 193/31
अद्रोहेणैव भूतानां य: स धर्म: सतां मत:। शान्ति 21/11, 12

122 वेदोहं जाजले धर्म सरहस्यं सनातनज्।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदु:।। इत्यादि। शान्ति 262/5-9

123 अहिंसा परमो धर्म: स च सत्ये प्रतिष्ठित:। वन 207/74
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन। इत्यादि। शान्ति 262/30,

124 ब्रह्मचर्य तथा सत्यमनुक्रोशो धृति: क्षमता।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्।। इत्यादि। अश्व 91/33, अनु 22/19

125 शमस्तूपरमो धर्म: प्रवृत: सत्सु नित्यश:।
गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान्। इत्यादि। अनु 141/70, अनु 22/24
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभज्। अनु 141/76
निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि श्रृणु मे देवि तत्वत:।। अनु 141/80

126 धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्म। कुधर्म तत्।
अविरोधातु यो धर्म: स धर्म: सत्यविक्रम।। इत्यादि। वन 131/11-13

127 धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो ब्रह्मवादिनाज्। वन 31/5
धर्मवाणिज्यका ह्यते ये धर्ममुपभुन्जते। अनु 162/61

128 सर्व बलवांश्च धर्म: सर्व बलवातां स्वकज्। आश्रम. 30/24
बलवांश्च यथा धर्म लोके पश्यति पुरूष:। सभा. 69/15

129 यस्य नास्ति गुरूर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति।
सुखतनत्रोर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते।। इत्यादि। शान्ति. 92/18

130 एक एव चरेद्धधर्म नास्ति धर्मे सहायता। इत्यादि। शान्ति. 193/32, शान्ति. 244/4

एक एव चरेद्धर्म न धर्मध्वजिको भवेत्। अनु 162/62

कर्तव्यमिति यत् कार्य नाभिमानात् समाचरेत्। वन 2/76

131 धर्मो ह्यवस्थिकः स्मृतः। शान्ति 36/11

132 न जातु कामान्न भयन्न लोभाद्धर्म जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः। इत्यादि। उद्योग 40/12, स्वर्गा 5/64

धर्म वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकांक्षया। शान्ति 292/19

133 धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो वलीयानिति तस्य सिद्धिः। उद्योग 42/25

134 न धर्मात् परमो लाभः। अनु 106/65

135 धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः। इत्यादि। अनु 111/16, शान्ति 272/24

136 धर्मार्थ यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता। वन 2/49

137 भीष्म 21/11, उद्योग 39/9, स्त्री 14/9

138 शान्तिपर्व 65वाँ अध्याय।

139 अयुध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता।

ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा।। इत्यादि। शान्ति 133/16

140 मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरूं मा शिशुं मा तपस्विनञ्। इत्यादि। शान्ति 135/13/24

असाधुज़्यार्थमादाय साधुज़्यो यः प्रयच्छति।

आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्माविदेव सः। शान्ति 136/7

141 आदि.गृह.विज्ञा. पृ. 107

142 औनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाज्।

प्राहं मृगाणां मातरं अरण्यामनिमशंसितज्।। – ऋवे. 10.146.6

143 नमो वृक्षेज़्यः। – यजु. वे. 16.17

(क) ओषधीनां पतये नमः। – वही 16.19

(ख)अरण्यानां पतये नमः। – वही 16.20

144 अज़्रयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीय्ताज्।

पृमचतीर्मधुना पयः।। – ऋ वे. 1.23.16

145 ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च।

वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारे गहनेषु च।।

रसतलगता ये च ये च तस्मै परं गताः।

नमस्तेज़्यो नमस्तेज़्यो नमस्तेज़्योऽस्तुनित्यशः।। – महा. भा. शान्ति पर्व 284.172-175

146 सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वेपुण्याः शिलोच्चया। – वही 263.42

147 भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। गीता. 7.4

148 इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनज्।। – गीता. 3.40

149 इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेज़्यः परं मनः।

मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। वही 3.42

150 ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेशऽर्जुन तिष्ठति। – महा. भा. भीष्म पर्व, 42.61 (गीता 18.61)

151 ये चच्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान्।
वहन्ति महतो भारान् वध्नन्ति दमयन्ति च।।
अजोऽग्निर्वरूणो मेष: सूर्योऽश्व: पृथिवी विराट्।।
धेनुवर्त्मश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिध्यति। -शान्तिपर्व, 262.37-41

152 निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वैद्विज।।
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे।
देवतातिथिभृत्यानां पितृणां चापि पूजनज्। - महा. भा. वन पर्व. 208.4-5

153 यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवा:।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्म: प्रशस्यते।।
सुरा मत्स्या मधु मांस मासवं कृसरौदनज्।
धूर्तै: प्रर्वाततं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितज्।।- महा. भा. शान्तिपर्व 265/8-9

154 प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतां वा वेदद्वाचं नतु हिंस्यात्कथंचन।। - महा. भा. कर्ण पर्व. 69.23

155 य इमे ब्राह्मणा प्रोक्तामंत्रा वै प्रोक्षणे गवाज्।
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव।।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढ़ चेतन:। - महा.भा.उद्यो. पर्व 17.9-10

156 दिष्टया प्रसादो युष्माभि: कृतो मेऽनुग्रहात्मक:।
एवं भवतु भद्रं व: पूजितास्मि सुखप्रदा:।। - महा. भा. अनु. पर्व 82.25

157 पूर्वामनु प्रयंतिमा ददे वस्त्रीन् युक्तां अष्टावरिधांयसो गा:।
सुबर्न्धवो ये विश्योइव व्रा अनस्वन्तु: श्रव ऐषन्त प्रजा:।। - ऋ. वे 1.26.5

158 दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्स:। - अथर्व वे. 4.39.8

159 आ वात वाहि भेषजं विवातं वाहि यद्रप:।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।। - ऋ वे. 10.137.7

160 ओषधय: शान्ति: वनस्पतय: शान्ति:। - यजु. वे. 36.17
माध्वीर्न: सन्त्वोषधी: - वही 13.27

161 ऋग्वे. 10.146वां सूक्त

162 अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत।
तारयेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांश्चरोपयेत्।।
तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपानात्र संशय:।
परलोकगत: स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान्।।
पुष्पिता: फलवन्तश्चतर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवत् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु।। - महा. भा. अनु. पर्व 58.26, 27, 30

163 ऊर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययज्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। - गीता 15.1

164 मूले ब्रह्मा त्वचे विष्णु शाखायांच महेश्वर:। - सं. वाऽ. विज्ञा. पृ. 212

165 अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। - गीता. 10.26

166 अश्अश्वत्थ वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। - यजु. वे. 12.79

167 वनस्पतिं वन आस्थापयध्वज् - ऋग.वे. 10.101.11

168 अयं हि वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभाग्याय।
अतस्त्वं देव वनस्पते शान्तवल्शो विरोह, सहस्त्रवल्शा विषयं रूहेम। - यजु. वे. 5.4.3

169 पुण्यगन्धाः स्त्रजस्तस्य नित्यं कामफला द्रुमाः।। - महा. भा. सभा पर्व. 8.6

170 नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मंजरीधारिभिः।। - वही 9.3

171 नलिन्याश्चालकाज़्याया नन्दनस्य वनस्य च।
शीतो हृदयसंद्धादी वायुस्तमुपसेवते।। - वही 10.8

172 तां सभामभितौ नित्य पुष्पवन्तो महाद्रुमाः।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छायां मनोरमाः।।
काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः।
हंसकारण्डवो पेताश्चक्रवाकोपशोभितः।। - वही 3.34-35

173 ऋ. वे. 1.30.19

174 तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा। - महा. भा. वन पर्व 189.3

175 सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः। - महा. भा. शान्ति पर्व 263.42

176 झषाणां मकराश्चस्मि स्त्रोतसामस्मि जान्हवी।। - गीता. 10.31

177 यस्तु सूर्यांशुसन्तप्तं यो ग म् सलिलं पिबेत्।
स सर्वयोनिनिर्मुक्तः प्रयाति सदनं हरेः।। - ग. पु. 9.26

178 प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते।
त्रेताविमोक्षसमये द्वापर प्रतिपादने।।
गतदैवतसंस्थाना वृद्धबालविनाकृता।
गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहता। - महा. भा. शान्ति. पर्व 141.14-22

179 वर्षाकाले तडागे तु सलिलं यस्य तिष्ठति।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः।।
सर्वदानैर्गुरूतरं सर्वदानैर्विशिष्यते।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि।। - महा. भा. अनु. पर्व 58.10-21

180 अल्पा इति मतिं कृत्वा यो नरो बुद्धिमोहितः।
श्लेष्म मूत्र पुरीषाणि युष्मासु प्रतिमोक्ष्यति।।
तमियं यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति।
तथा वो भविता मोक्ष इति सत्यं ब्रवीमि वः। - महा. भा. शान्ति पर्व 282.54-55

181 नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन्।
देवालयेऽथ गोवृन्दे चैत्ये सत्येषु विश्रमे। - महा. भा. अनु. पर्व. 104.54

182 अंजनमुस्तरोशीरैः शराजकोशातकामलकचूर्णैः।

कतकफ्लससमायुक्तैर्योग: कूपे प्रदातव्य: ।।

कलुषं कटुकं लवणं विरसं, सलिलं यदि वाशुमगन्धि भवेत्।

तदनेन भवत्यमलं सुरसं, सु-सुगन्धिगुणैरपरो युतज्।। - बृहत. सं. 58.121-22

183 न दन्तधावनं कुर्यात् ग ागर्भे विचक्षण: ।

परिधायाज्ञराज्ञूनि ग ा स्त्रोतसि न त्यजेत्।। - सं. वाङ्विज्ञा. पृ. 19

184 अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो।

तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरूष्वेतद्धि दुर्लभज्।।

तत: संहृत्य तत् तेज: प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वर: ।

एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्तवा द्वारकां ययौ। - महा. भा. आश्व. पर्व 55.13-14

185 संस्कृत वाङ्मय पर्यावरण, पृ. 15

186 भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरज्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति।। - गीता. 5.29

187 अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहऽस्महमौषधज्।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतज्।। - वही 9.16 , 10/39, 7/10

188 येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकज्।। - गीता. 9.23

189 अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसज़्भव: ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव: ।। -वही 3.14

190 सूर्य: सोमो महीपुत्र: सोमपुत्रो बृहस्पति: ।

शुक्र: शनैरो राहू: केतुश्चैति ग्रहा: स्मृता: ।। - याज्ञव. स्मृ. 1.226

191 वै. वाङ्विज्ञा. पृ. 135

192 मुंचाभित्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मदुत राजयक्ष्मात्। - अथर्व. वे. 3.11

193 सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति: ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट काम धुक् ।।

तैर्दत्तान प्रदायैज़्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स: ।। - महा. भा. भीष्म पर्व. 27.10-12 (गीता 3. 10-12)

194 एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य: ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। - गीता. 3.16

195 महा. भा. अश्वमेघ पर्व. 85. 4-42

196 वही 92.5-38

197 अयं यज्ञ भुवनस्य नाभि। - ऋ वे. 1.164.35; यजु.वे. 23.62

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभि: । - अथर्व. वे. 8.10.14

198 भूमिं पर्जन्या जिन्वन्तिदिवं जिन्वन्त्यग्नय: । - ऋ वे. 1.164.51

199 कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनज्।

तद्वद् देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनज्।।

शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा।। - महा. भा. शान्ति पर्व 214.15-22

200 दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्णं युयुत्सुं समुपस्थितज्।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।

न च शक्नोऽयवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। – महा. भा. भीष्म. पर्व. 25.28-30

201 धैर्योपपत्तिव्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।

सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः।। – महा. भा. शान्ति पर्व 255.9

202 चंचलं हि मनः कृष्णः प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहंमन्ये, वायोरिव सुदुष्करज्।। – गीता. 6.34

203 परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित्।

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।

न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति।। – महा. भा. आश्व. पर्व. 22.5-7

204 अघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च।

रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्श नावबुध्यते।।

न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन।

प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनज्।। – महा. भा. आश्व. पर्व. 22.14-15

205 मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः।।

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति।

चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा।।

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति।

मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत्।। – महा. भा. शान्ति पर्व. 311.16-19

सप्तम अध्याय

पंचरत्नों का साहित्यिक मूल्यांकन

साहित्य की विविध विधाओं में काव्य नामक विधा की रचना कवि के आन्तरिक भावों तथा संवेगों के प्रस्फुटित होने और बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप होती है। काव्य की रचना के लिए हृदयगत भावों का प्रस्फुटित होना, विषयगत सामग्रियों की उपस्थिति, भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ परिष्कृत भाषा, विषय को प्रतिपादित करने के लिए कवि की प्रवृत्ति आदि इन सभी तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। भारतीय साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। प्राचीन काल से काव्य-स्वरूप की चिन्तन धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रही है। अत: प्राचीन विद्वानों के सतत् प्रयास के फलस्वरूप 'काव्य शास्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ है।

काव्य शास्त्र-सामान्य परिचय

काव्य शास्त्र का अभिप्राय है - 'काव्य विषयक शास्त्र'। अर्थात् जिस ग्रन्थ में काव्य के सौन्दर्य आधायक तत्त्वों का शास्त्रीय विवेचन होता है, उन्हें काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ कहा जाता है। काव्य शास्त्र की परज़्परा अत्यन्त प्राचीन है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 'नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।' कहकर रस की प्रमुखता व्यक्त की। काव्यशास्त्र की इस दीर्घ परज़्परा में भिन्न-भिन्न समय पर आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न लक्षण उपनिबद्ध किये हैं तथा इन्हीं के आधार पर काव्य में रसगत सौन्दर्य, आलङ्कारिक सौन्दर्य, भाषागत सौन्दर्य आदि व्यवहार होते हैं। इस परज़्परा के अनेक विद्वान् हुये हैं, जिन्होंने ज़्याति प्राप्त की है, यथा - आचार्य भामह, दण्डी, रूद्रट, मज़्मट आदि।

'कवि' शब्द 'कु वर्णे' अथवा 'कुङ् शब्दे' से उणादि के 'इ' प्रत्यय का योग करने से व्युत्पन्न होता है। 'राजशेखर' की सज़्मति में कवि शब्द की निष्पत्ति 'कवृ वर्णे' धातु से हुई है। (कवि शब्दश्च 'कवृ वर्णने' इत्यस्य धातो:, काव्यकर्मणोरूपम्)[1] उन्होंने कवि को वर्णनकर्त्ता माना है। अर्थात् कवि काव्य-कर्म या काव्य-रचना करने वाला होता है।

आचार्य मज़्मट ने 'काव्यप्रकाश' में कवि भारती के विषय में मन्तव्य प्रकट करते हुए कवि की सृष्टि प्रजापति की सृष्टि से अधिक बढ़कर बताई है।

नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरन्त्राम्।[2]

ब्रह्मा की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पन्न नियमों का पालन करती है परन्तु कवि की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि से अपूर्व है। वह नियतिकृत नियमों से रहित और केवल आनन्ददायिनी है। कवि अपनी प्रतिभा से एक ही वस्तु को विभिन्न रूपों में ढालता है। जैसे कवि कान्ता के मुख को कहीं कमल तो कहीं चन्द्रमा तो कहीं प्रतिबिम्ब बना देता है जबकि ब्रह्मा की सृष्टि में वह सदा मुख ही रहता है। मम्मटाचार्य ने 'काव्यलोकेत्तर' वर्णन में निपुण कवि का कर्म कहा है। '**काव्यं लोकेत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म**'[3] अर्थात् किसी वस्तु यथास्थिति के रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णन में लोकोत्तरता का, अतिशय का पुट सर्वदा वर्तमान होना आवश्यक है। 'कवि' शब्द के विविध निर्वचनों और परम्परा प्राप्त उसके स्वरूप पर दृष्टिपात करने से उसका सर्वमान्य अर्थ निकलता है - प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त वर्णन कला में प्रवीण वह व्यक्ति जो शब्द के माध्यम से भाव एवं अर्थ का वर्णन (अभिव्यक्ति) करता है। ऐसे कवि का भाव (व्यापार) ही काव्य कहा जाता है।

कवि और काव्य का प्रयोग सम्भवत: उतना ही प्राचीन है जितना वाङ्मय (शब्दार्थसाहित्य)। भारतीय मनीषा के आद्युदाहरणभूत वेद को 'देव का अमर काव्य' कहा गया है- '**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**'[4] अपौरुषेय वेद के मन्त्रों का ऋषियों ने प्रत्यक्षदर्शन किया था, निर्माण नहीं। वेद का निर्माता परमात्मा को माना गया है जिसके लिए वेदों और तदनुवर्ती वाङ्मय में अनेकत्र 'कवि' पद का प्रयोग किया गया है।[5]

राजशेखर के अनुसार वाङ्मय दो प्रकार का होता है-शास्त्र एवं काव्य। '**इह हि वाङ्मयमुभयथा यथा शास्त्रं काव्यं च।**'[6] उसकी दृष्टि में काव्य केवल छन्दोबद्ध रचना ही नहीं अपितु वह साहित्य का पर्याय मात्र है। गद्य-पद्य किसी भी शैली में विरचित साहित्य, 'काव्य' होता है। '**पञ्चमीसाहित्यविद्या इति यायावरीय:**'[7] काव्य के लिए उन्होंने स्पष्टत: 'साहित्य विद्या' का प्रयोग किया है। राजशेखर का मानना है कि काव्य के लिए शास्त्र आवश्यक है। जैसे बिना प्रदीप के आश्रय के अंधकार में पदार्थों का ज्ञान नहीं होता उसी भाँति शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अत: काव्य-रचना से पूर्व शास्त्रों में प्रवेश करना चाहिए। '**शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत।**'[8] शास्त्र दो प्रकार का है- '**तच्च द्विधा**

अपौरुषेयं पौरुषेयं च।"[9] शास्त्र के अंतर्गत वेद एवं वेदांगादि अपौरुषेय शास्त्र आते हैं। काव्य-निर्मिति के लिए यद्यपि शास्त्रज्ञान आवश्यक है फिर भी भारतीय दृष्टि से काव्य ही सज़्पूर्ण विद्या का निष्पन्दन है। '**सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः।**'[10] इतना ही नहीं, राजशेखर के मतानुसार काव्य, चौदह विद्यास्थानों, चार वेद, छह वेदांग और चार शास्त्र के अतिरिक्त पन्द्रहवाँ विद्यासीन है। पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृति तंत्र ये चार पौरुषेय शास्त्र है। काव्य अपनी गद्य-पद्यमयता, कविकर्मत्व और हितोपदेशकता के कारण सभी शास्त्रों का अनुकरणीय है। '**गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च।**'[11]

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्यायें हैं। राजशेखर साहित्य को पांचवी विद्या मानते हैं। साहित्य पद 'सहित' शब्द से भाव में 'ष्य' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जाता है। शब्द और अर्थ के संयोग को साहित्य कहते हैं। काव्य के अतिरिक्त भी शास्त्रादि में शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते हैं। फिर यहाँ (काव्य में) कोई विशेष बात है क्या? इसका समाधान राजशेखर ने काव्यमीमांसा में किया है-

'**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।**'[12] अर्थात् साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप से (तुल्यकक्षेत्वेन) अपेक्षित है। शब्द और अर्थ की तुल्यकक्षता ही साहित्य को वाङ्मय की अन्य विधाओं से पृथक् करती है। शास्त्रों में शब्द के माध्यम से अर्थ का व्यक्तीकरण ही एकमात्र लक्ष्य होता है, किन्तु साहित्य में शब्द के अनुरूप अर्थ और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है।

'काव्य' और साहित्य की व्युत्पत्ति और प्रयोग का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'काव्य' में कर्त्तृपक्ष का प्राधान्य है और साहित्य में शब्द और अर्थ के परस्पर परिणमन का। इस प्रकार काव्य, कवि के वैयक्तिक उपादान की प्रधानता की ओर संकेत करता है और साहित्य कवि-रचना के कथाशरीर की ओर। अत: दोनों ही परस्पर पर्याय होते हुए भी सूक्ष्म रूप से कुछ विशेषताओं के कारण भिन्न माने जा सकते हैं।

काव्य-रचना का प्रारज़्भिक युग

सुन्दर काव्य की रचना का विकास अति प्राचीन काल में, ऋग्वैदिक युग में ही हो गया था। इसके प्रमाण प्राय: सज़्पूर्ण 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में मिलते हैं। वैदिक कालीन ऋषि विश्वामित्र

अपने अनुयायियों सहित शतद्रु और विपाशा के संगम पर पहुँचे थे। नदियों के उच्छ्वसित जल का अवलोकन करके उनके हृदय के भाव उमड़ पड़े और सहसा कविता प्रवाहित होने लगी–

प्र पर्वतानामुशतीं उपास्थादश्वे इव विषिते हासमाने।

गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।[13]

पर्वतों की गोद से निकली हुई और समुद्र की ओर जाने की कामना करती हुई, खुली हुई दो घोड़ियों के समान हँसी से खिलखिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हुई ये विपाशा और शुतुद्री नदियाँ अपनी जलधारा के वेग से प्रवाहित हो रही है।

'ऋग्वेद' के इस मन्त्र में उत्तम काव्य के सभी तत्त्व उपस्थित है। इसमें शृंगार और वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति है, माधुर्य गुण है तथा उपमा अलङ्कार का चमत्कारिक सौन्दर्य है।

'ऋग्वेद' यद्यपि आर्य जाति का मूल ग्रन्थ है, तथापि इसमें काव्यात्मक सौन्दर्य बहुत अधिक है। रस, गुण अलङ्कार आदि काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्व इसमें बहुत दृष्टिगोचर होते हैं। यथा –

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।[14]

उदय होते हुए प्रातः कालीन सूर्य की शोभा को देखकर दीर्घतमा के पुत्र कक्षीवान् ऋषि के ये उद्गार काव्य के रूप में प्रस्फुटित हो गए थे। इस मन्त्र में चमत्कारिणी उपमायें तो हैं ही, उसके साथ शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है तथा सामाजिक सत्य भी प्रकट होता है।

इसी प्रकार जब गौतम ऋषि ने उदय होती हुई उषा के सुन्दर दृश्य को देखा, तो यह उषा उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषण पहने हुए और वक्ष को खोले हुए नर्तकी के समान प्रतीत हुई। यह उषा सारे संसार को प्रकाश देने वाली है। यह उसी प्रकार गति करती है, जैसे गायें अपने गोष्ठ में जाती है–

अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णते वक्ष उस्रेव वर्जहम्।

ज्योतिर्विश्वस्मै कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।[15]

'ऋग्वेद' का निज़ मन्त्र अपने अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमभिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।[16]

इस मन्त्र में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति इन तीन उपमेयों के लिए दो सयुजा पक्षी एवं पिप्पल इन तीन उपमानों का कथन किया है। इन उपमानों ने उपमेयों का निगरण कर लिया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है। **निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्, प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्योक्तौ च कल्पनम्। कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः। विज्ञेयातिशयोक्तिः साः।।**[17] इस मन्त्र में अतिशयोक्ति अलङ्कार के अतिरिक्त अनुप्रास, विभावना एवं विशेषोक्ति अलङ्कार भी है। यहाँ माधुर्य गुण है और पदद्योत्य ध्वनि है, जिसमें आत्मा तथा परमात्मा की नित्यता एवं चेतनता अभिव्यक्त होती है।

'ऋग्वेद' में प्रकृति, अध्यात्म आदि विषयों के वर्णन करने में काव्यत्व निहित है ही, लोक के व्यावहारिक विषयों के वर्णन करने में भी काव्यत्व के दर्शन होते हैं। इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 'अक्ष सूक्त' है। 'ऐलूष कवष ऋषि' कहते हैं कि अक्षफलक पर फेंके गए पाँसे जुआरी को उसी प्रकार उन्मत्त बना देते हैं, जिस प्रकार सोमरस का पान करने से उन्माद हो जाता है–

प्रावेपाः मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेऽजाः इरिणे वर्वृतानाः।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।।[18]

जुआ खेलने से उत्पन्न जुआरी की अवस्था का काव्यमय भाषा में वर्णन निज़ मन्त्र में है–

द्वेष्टि श्वश्रूरपजाया रुणाद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।

अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।[19]

जुआरी की सास उससे द्वेष करती है और उसकी पत्नी उसको ढकेल देती है। प्रार्थना करने पर भी वह किसी सुख देने वाले को पाता नहीं है। बेचने योग्य बूढ़े घोड़े के समान वह जुआरी जीवन में किसी भोग के आनन्द को नहीं पाता है।

ऋग्वेद में काव्यत्व का यह विकास केवल मुक्तक काव्य के रूप में ही नहीं हुआ, अपितु प्रबन्ध काव्य के रूप में भी इसके विकास के बीज उगने लगे थे। 'ऋग्वेद' में अनेक सूक्त ऐसे हैं, जिनमें कथानक के तत्त्व निहित हैं तथा जिन कथानकों का विकास उत्तरवर्ती युग में ब्राह्मणों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में देखा जा सकता है। ऋग्वेद के नदी सूक्त ३.३३ में विश्वामित्र और नदियों का रोचक संवाद है, यम सूक्त १०.१० में यम और यमी का संवाद है, १०.१०८ सूक्त में सरमा और पणियों का संवाद है, १.१६५ सूक्त में इन्द्र, मरुतों और अगस्त्य का संवाद है, १.१७९ सूक्त में अगस्त्य, उसके शिष्य तथा लोपमुद्रा का संवाद है, ४.१८ सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है, ७.३३ सूक्त में वसिष्ठ, उसके पुत्र और इन्द्र का संवाद है, ८.१०० सूक्त में नेम भार्गव और इन्द्र का संवाद है, १०.२८ सूक्त में इन्द्र और वसुकर की पत्नी का संवाद है, १०.५१-५३ में देवताओं और अग्नि में संवाद है, १०.८६ सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि का संवाद है। इन संवादों की पृष्ठभूमि में कुछ कथानक निहित हैं तथा इन कथानकों का विकास उत्तरवर्ती साहित्य में हुआ है।

ऋग्वेद के पश्चात् अन्य वेदों - सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी काव्यात्मक रूप के दर्शन होते हैं। यजुर्वेद के निज़ मन्त्र में वाचक लुप्लोपमा तथा यमक अलङ्कारों का सुन्दर विन्यास है -

सप्त तेऽग्ने समिधः सप्तजिह्वा सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।

सप्त होत्राः सप्तधा त्वां यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व धृतेन स्वाहा।।[20]

अथर्ववेद में आज़्यानात्मक काव्य तो प्रायः नहीं है, तथापि काव्य के तत्त्व यत्र-तत्र अवश्य प्राप्त होते है। इस वेद के पहले काण्ड के पहले सूक्त में ही वाणी के पति वाचस्पति से प्रार्थनायें की गई हैं। इसका पहला मन्त्र स्वयं में काव्यत्व से परिपूर्ण है-

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।।[21]

अथर्ववेद के अप्सरा सूक्त, राष्ट्र सूक्त, सूर्य सूक्त आदि काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। अथर्ववेद के अनुसार वेद उस परमात्मा के काव्य हैं। वे न तो कभी नष्ट होते हैं तथा न कभी पुराने होते हैं। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**[22]

वेदों की रचना के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक काव्यमयी रचनायें हैं। इनमें अनेक आज़्यान भी हैं, जो उस युग की उत्तम काव्य-रचना को प्रस्तुत करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' की मनु-मत्स्य कथा, पुरुरवा-उर्वशी कथा एवं अन्य विभिन्न कथोपकथन इसके उदाहरण हैं। शतपथ ब्राह्मण के १.२.५.१६ में नारी सौन्दर्य के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है, जिसको कि उत्तरवर्ती संस्कृत कवि भी अपनी रचनाओं में मान्यता देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विभिन्न यज्ञों - अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ आदि में इस प्रकार की क्रियाओं और अभिनयों का वर्णन है, जिनसे प्रमाणित होता है कि उस युग में उत्तम काव्यों की सृष्टि हुई थी।

उपनिषदों में यद्यपि भारतीय दर्शन के विविध पक्षों का उपदेश मिलता है, तथापि उनमें काव्य के तत्त्व न हों, ऐसा नहीं है। कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद् आदि में काव्यत्व के उत्तम उदाहरण हैं। निज़ मन्त्रों में रूपक अलङ्कार का मनोहारी सन्निवेश है -

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयज़्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौज़्य विद्धि।।[23]

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव वा।।[24]

वेदों में काव्यत्व का विकास हुआ था, इस तथ्य को उत्तरवर्ती मुनियों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। भरतमुनि के अनुसार नाट्य के सभी तत्त्वों को चारों वेदों से ग्रहण किया गया था। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' की रचना की थी।

'जग्राह पाठयमृग्वेदात् सामज़्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानावर्णणादपि।।[25]

लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना का प्रारम्भ

लौकिक संस्कृत में काव्य की रचना के प्राचीनतम रूप 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्य साहित्य पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है तथा ये इन काव्यों के उपजीव्य काव्य बन गये हैं। उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों के लिये प्राचीन युग की तीन रचनायें मुख्य उपजीव्य बन गई थीं - रामायण, महाभारत, बृहत्कथा। इनमें 'रामायण' और 'महाभारत' तो मूल रूप से उपलब्ध हैं, परन्तु 'बृहत्कथा' जो कि पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी, मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके संस्कृत रूपान्तर ही वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं।

रामायण को संस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है तथा इसके रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि। वाल्मीकि का यह आदि काव्य उत्तरवर्ती कवियों के लिये प्रेरणा का महान् स्रोत रहा। दशरूपककार ने नाटककारों को यह सम्मति दी थी कि वे नाट्य की कथावस्तु के स्रोत को 'रामायण' और 'बृहत्कथा' से ग्रहण करें।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चे।।[26]

वाल्मीकि को काव्य लिखने की प्रेरणा किस प्रकार प्राप्त हुई, इसका भी अपना अद्भुत इतिहास है। वाल्मीकि के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि किसी अद्भुत, वीर, पराक्रमी, सदाचारी, संयमी, कान्तिमान पुरुष को नायक बना कर काव्य की रचना की जावे। उन्होंने इस सम्बन्ध में नारद जी से प्रश्न किया। नारद जी ने बताया कि इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरुष तो इक्ष्वाकुवंशी राम ही दृष्टिगोचर होते हैं।

नारद जी को विदा करके वाल्मीकि तमसा नदी पर स्नान के लिये गये। वहाँ उन्होंने विहार करते हुए क्रौञ्च पक्षियों के युगल को देखा। उसी समय एक व्याध ने नर क्रौञ्च का वध कर दिया। क्रौञ्च को रुधिर से संलिप्त, भूमि पर गिरा देख कर क्रौञ्ची विलाप करने लगी। इस भयानक दृश्य को देखकर वाल्मीकि के मुख से अनायास ही यह श्लोक निकल गया -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

यह श्लोक लौकिक संस्कृत काव्य की प्रथम रचना थी। इससे पूर्व छन्दोबद्ध रचनायें केवल वैदिक संस्कृत में हुआ करती थीं। तमसा नदी से लौटकर भी वाल्मीकि की चेतना उसी शोक से व्याप्त रही और विस्मय से विमुग्ध वे सोचते रहे कि उनके मुख से यह कौन सी वाणी प्रस्फुटित हुई है। उसी समय ब्रह्मा जी वहाँ उपस्थित हुये। शोक और श्लोक के चमत्कार से समाधिस्थ वाल्मीकि से उन्होंने कहा – 'मेरी ही प्रेरणा से तुम्हारे हृदय से इस श्लोक का प्रस्फुटन हुआ है। तुम इसी छन्द में श्रीराम के इस चरित्र का गान करो, जिसका वर्णन नारद ने आज किया है।' तब वाल्मीकि ने योगशक्ति से समाधिस्थ होकर राम के चरित्र का साक्षात्कार किया तथा रामायण की रचना की।

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी समालोचकों ने यह प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त श्लोक लौकिक संस्कृत का प्रथम छन्दोमय काव्य है। आनन्दवर्धन का कथन है कि काव्य में अभिव्यक्त रसरूप अर्थ ही काव्य की आत्मा है, जैसा कि आदि कवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया था।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।[27]

स्वयं रामायण के रचयिता ने इस श्लोक की व्याज़्या ब्रह्मा के मुख से इस प्रकार कराई कि वाल्मीकि का यह शोक, श्लोक में परिणत हुआ।[28]

उद्देश्य, स्वरूप तथा विषय की दृष्टि से रामायण में काव्य के सभी तत्त्व निहित हैं। इसमें वर्णनों की प्रचुरता है और कल्पनाओं की ऊँची उड़ाने हैं। समुद्र, ऋतु, आकाश, सूर्योदय, सूर्यास्त, वन, पर्वत, युद्ध आदि के कल्पनामय चित्रण सहृदयों को अभिभूत करने में समर्थ हैं। सभी रसों की इसमें यथास्थान निष्पत्ति होती है। समालोचकों ने रामायण के श्लोकों को काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे कि रामायण का एक श्लोक ध्वनिकार ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरण के रूप में ध्वन्यालोक में प्रस्तुत किया है –

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।[29]

काव्य की रचना के प्रारम्भिक युग में महाभारत का महत्त्व है। यद्यपि यह काव्य होने के साथ ही इतिहास और धर्मशास्त्र भी है, तथापि इसमें काव्य के सभी तत्त्व निहित हैं। उत्तरवर्ती कवियों के लिये इस काव्य ने उपजीव्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था स्वयं महाभारतकार ने भी इसका संकेत दिया था।[30] महाभारत में धर्मशास्त्र का इतिहास की प्रधानता होते हुये भी समालोचकों ने इसको काव्य माना। ध्वन्यालोक में महाभारत के अन्तर्गत भगवद्गीता प्रकरण के निम्न श्लोक को आनन्दवर्धन ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के वाक्यप्रकाशता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूताति सा निशा पश्यतो मुनेः।।[31]

यहाँ वाक्यप्रकाशता को स्पष्ट करते हुये आनन्दवर्धन ने लिखा है– **'अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वम्। अतत्त्वपराङ्मुखत्वं व मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।।'**[32] अर्थात् इस वाक्य से निशा का रात्रि अर्थ और जागरण का जागना अर्थ विवक्षित नहीं है। तो क्या विवक्षित है? मुनि तत्त्वज्ञान की ओर अवहित रहते हैं तथा अतत्त्व की ओर से पराङ्मुख रहते हैं, यह अर्थ प्रतिपादित होता है। इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि की व्यञ्जकता है।

'महाभारत' के काव्यत्व के अन्य भी अनेक उदाहरण काव्यशास्त्रियों ने दिये हैं। विरोधी रसों को अङ्गाङ्गी भाव से प्रस्तुत करने से उनमें दोष नहीं रहता, इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने महाभारत के एक श्लोक को प्रस्तुत किया है–

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।[33]

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' एक महाकाव्य है। इसे उपजीव्य काव्य माना गया है। स्वयं महर्षि व्यास का कथन है कि संसार में जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे उनके काव्य के लिये यह मूल आश्रय होगा।[34] इस तरह महर्षि व्यास ने स्वयं इसे काव्य की संज्ञा प्रदान की है। महाभारत में तत्कालीन काव्य की परिभाषा का उल्लेख मिलता है।[35]

इसके अतिरिक्त महर्षि व्यास ने महाभारत में काव्य के सौन्दर्यधायक समस्त तत्त्वों का उल्लेख किया है। यद्यपि यह कथानक की दृष्टि से काव्य को ही ध्यान में रखकर नहीं रचा गया क्योंकि यह महाभारत-युद्ध पर ही केन्द्रित है, तथापि इसमें संस्कृत काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण सिद्धान्त रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदि का उल्लेख मिलता है। रामायण, महाभारत तथा अन्य लक्षण ग्रन्थों के सज़्यक् अध्ययन से यह आभास होता है कि इन ग्रन्थों के रचनाकारों (महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास आदि) के काव्य की विशेषताओं का प्रभाव बाद के आचार्यों जैसे - भरत, भामह, मज़्मट, आनन्दवर्धन आदि पर स्पष्ट रूप से पड़ा। कुछ विद्वानों ने महाभारत को इतिहास कहा है तो कुछ विद्वानों ने इसे काव्य और शास्त्र दोनों माना है।[36] आचार्य मज़्मट कृत 'काव्य प्रकाश' में वर्णित काव्य लक्षणों के आधार पर महाभारत में काव्यशास्त्र की विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

काव्य प्रयोजन

संसार में किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अत: कवि की कृति (काव्य-रचना) का भी कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। इस सन्दर्भ में आचार्य मज़्मट का कथन है -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासज़्मिततयोपदेशयुजे।।[37]

इस श्लोक के अनुसार काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिये होता है, जैसे - कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों से यश प्राप्त किया। धन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है जैसे - बाण तथा धावक ने अपने आश्रयदाता श्रीहर्ष पर काव्य रचना कर अतुल सज़्पत्ति प्राप्त की। व्यवहार ज्ञान कराने हेतु भी काव्य रचना की जाती है। काव्य के अनुशीलन से किसी भी युग के समाज का आचरण, व्यवहार ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अमङ्गल निवारण (शिवेतरक्षति) के लिये भी काव्य निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा किसी भी देवता की स्तुति करता है जिसे देवता की कृपा होने से अमङ्गल नष्ट हो जाता है। इन प्रयोजनों में सद्य: परमानन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुज़्य प्रयोजन है। कान्ता के समान उपदेश दान भी काव्य के मुज़्य प्रयोजनों में अन्यतम है। इस विवरण के आधार पर महाभारत का सज़्यक् अध्ययन करने पर इस काव्य का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि महाभारतकार ने स्वयं की यश प्राप्ति हेतु

महाभारत की रचना नहीं की है किन्तु पात्रों के यशस्वी होने का प्रकारान्तर से उल्लेख किया है। आचार्य मज़्मट केवल कवि तथा श्रोता के सन्दर्भ में यश को स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर आचार्य रूद्रट काव्य के पात्रों (नायक, नायिका आदि) के यशस्वी होने की बात कहते हैं। अत: ऐसे अनेक काव्य उपलब्ध होते हैं जो पात्र के नाम से यश प्राप्ति हेतु रचे गये, यथा – मैथिलीशरण गुप्त कृत उर्मिला, कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदि। महर्षि व्यास ने महाभारत में कहीं भी (धन) अर्थ की प्राप्ति हेतु काव्य रचना करने की बात नहीं कही है। उन्होंने स्पष्ट रूप से इस महाकाव्य को रचने का प्रमुख प्रयोजन 'लोक व्यवहार की सिद्धि' बताया है।[38] महर्षि व्यास ने अपने इस ग्रन्थ के लिए कहा है कि इस ग्रन्थ रत्न में शुभ कर्म करने वाले देवता, देवर्षि, निर्मल ब्रह्मर्षि, यक्ष और महानागों का उल्लेख है तथा इस ग्रन्थ के प्रमुख विषय स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण है। उन्हीं का इसमें सङ्कीर्तन किया गया है।[39] अत: इस वर्णन से मज़्मट का यह कथन शिवेतरक्षतये भी सिद्ध हो जाता है क्योंकि महाभारतकार ने देवों की स्तुति का उल्लेख कर अमङ्गल को दूर करने की चर्चा की है। इस सन्दर्भ में महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में इस ग्रन्थ के पठन तथा श्रवण की महिमा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार महाभारत की कथा को सुनकर हृदयङ्गम कर लेने से पुष्कर-स्नान का फल मिल जाता है।[40] इसी प्रकार इस महाकाव्य का अध्ययन अन्त:करण को शुद्ध करने वाला है तथा श्रद्धा के साथ इसका एक भी श्लोक पढ़ने मात्र से मनुष्य के सब पाप मिट जाते हैं।[41] अत: इस कथन से स्पष्ट होता है कि महाभारत काव्य की रचना का एक उद्देश्य मनुष्यों के पापों को नष्ट करना भी है। महर्षि व्यास ने महाभारत में वेदादि वाक्यों तथा महर्षियों के उपदेशों का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है जिन्हें मज़्मट के अनुसार कान्ता सम्मित उपदेश कहा जा सकता है। अत: इस प्रकार समस्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यद्यपि काव्य प्रयोजन का नामोल्लेख महाभारत में अक्षरश: नहीं मिलता तथापि महाभारतकार ने इस महाकाव्य की रचना के प्रयोजन को स्पष्ट करने का प्रयास अनेक स्थानों पर किया है।

काव्य हेतु

काव्य की रचना करने वाले लोग विरले होते हैं क्योंकि काव्य एक ऐसी वस्तु है जो सर्वदा नहीं बना करती अपितु कदाचित् ही प्रादुर्भूत हुआ करती है। सभी शब्दार्थ-रचनाकार काव्य-रचना नहीं किया करते अपितु वही काव्य-रचना कर पाता है जिसमें प्रतिभा होती है। यह

कवि प्रतिभा सर्वत्र नहीं पायी जाती है। महर्षि वाल्मीकि तत्त्वों के द्रष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत आन्तरिक प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हे आदि कवि या महाकवि की महनीय संज्ञा नहीं प्राप्त हुई। इस सन्दर्भ में आचार्य मज़्मट ने काव्य हेतु को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, यथा –

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्यावेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाऽज़्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[42]

इस श्लोक के अनुसार काव्य के उद्भव में न तो केवल 'शक्ति' का हाथ है, न केवल 'निपुणता' का और न केवल 'अज़्यास' का, अपितु शक्ति–निपुणता–अज़्यास के अङ्गागिभावरूप से अथवा उपकार्योपकारकभाव रूप से परस्पर सामंजस्य का हाथ है। मज़्मट के अनुसार 'शक्ति' कवित्व का बीजभूत एक संस्कार विशेष है जिसके बिना काव्य रचना नहीं हो सकती और यदि कोई हठात् काव्य रच भी ले तो वह काव्य नहीं अपितु काव्याभास ही रह जाएगा।[43] अतः मज़्मट तथा इनके पूर्ववर्ती कवियों के अनुसार काव्य की रचना हेतु कवि में प्रतिभा अर्थात् शक्ति होना अनिवार्य है तथा कवित्व के आधार स्तज़्भ दो माने गये हैं – दर्शन और वर्णन। इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। दर्शन का सज़्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सज़्बन्ध शब्दार्थ की समुचित उपस्थिति से है। इस आधार पर प्राचीन कवि महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास भी महान प्रतिभा से सज़्पन्न हुये हैं जिन्होंने महाकाव्यों की रचना कर डाली। इस सन्दर्भ में महर्षि व्यास की रचना 'महाभारत' कवि की प्रतिभा का सजीव तथा उत्कृष्ट उदाहरण प्रतीत होती है। महर्षि व्यास महान् दार्शनिक, साहित्यकार तथा अलौकिक प्रतिभा से सज़्पन्न थे। दर्शन और वर्णन ये दोनो ं कवि के मुज़्य पाथेय होते हैं, अतः इस आधार पर महर्षि व्यास को तथा अन्य प्राचीन ऋषियों को मंत्र दृष्टा कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह उक्ति भी प्रसिद्ध है – **ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः**।[44] इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त पादाचार्य के काव्य विद्या गुरू आचार्य भट्टतौत का कथन है कि जो 'कवि' है वह 'ऋषि' है। कवि को ऋषि इसलिये कहा जाता है क्योंकि कि वह 'द्रष्टा' हुआ करता है। कवि के 'द्रष्टा' होने का तात्पर्य है उसमें एक ऐसी 'प्रज़्या' या प्रतिभा या प्रज्ञा के होने का जो समस्त जीवन–तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है।[45]

इस समस्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महर्षि व्यास में काव्य–रचना के समस्त गुण विद्यमान थे जिस आधार पर उन्होंने इस महाकाव्य की रचना कर डाली। निपुणता के सन्दर्भ में

महाभारत में अनेक स्थानों पर ऐसे उदाहरण दिखायी पड़ते हैं जो कवि अर्थात् महर्षि व्यास की निपुणता के परिचायक प्रतीत होते हैं। निपुणता को स्पष्ट करने हेतु इसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है – 1. लोकव्यवहारगत निपुणता 2. शास्त्रगत निपुणता 3. काव्यगत निपुणता।

लोक व्यवहारगत निपुणता के सन्दर्भ में महाभारत में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आये हैं जिनसे महर्षि व्यास की अद्भुत काव्य प्रतिभा का बोध होता है। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में शुकदेव को वैराग्य का उपदेश देते हुए नारदमुनि का कथन है कि जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने ही शरीर में उत्पन्न हुए तंतुओं द्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपने ही से उत्पन्न सज़्ग्रन्थ के बन्धनों द्वारा अपने आपको बांधते जा रहे हो।[46] यहां महर्षि व्यास ने लोक में सामान्य रूप से रेशम के कीड़े की विशेषता को ग्रहण कर उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिये गये बोध्य गीता विषयक उपदेश में लोकव्यवहारगत निपुणता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसके अनुसार भीष्म का कथन है कि जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणी से बैर न करके याचनावृत्ति से अपना निर्वाह करते हैं उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर सुख से जीवन व्यतीत करते हैं।[47] इस वर्णन में लोकव्यवहार की दृष्टि से पपीहे की विशेषता का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में महाकवि कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम में विदाई के अवसर पर सामाजिक लोक व्यवहार का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार कण्व तथा अन्य आश्रमवासी शकुन्तला को कुछ दूर तक छोड़ने आते हैं।[48] अत: इस विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन कवियों का अनुसरण करते हुए बाद के कवियों ने भी लोक व्यवहारगत काव्य की रचना की है।

आचार्य मज़्मट ने शास्त्रादिगत निपुणता के सन्दर्भ में छन्द व्याकरण निरूक्त कोश, चौंसठ कलाएं, पुरूषार्थ चतुष्ट्य, गज–तुरगादि प्राणिविद्या तथा धनुर्वेदादि विद्याओं के ग्रन्थों तथा अनुसंधानों, काव्य के चिन्तन, मनन के साथ साथ इतिहासादि के निरीक्षण और विवेचन को स्वीकार किया है। यदि इस आधार पर महाभारत का अध्ययन किया जाये तो पग–पग पर शास्त्रादिगत निपुणता से सज़्बन्धित प्रसङ्गों का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में महाभारत में स्वयं व्यास का ब्रह्मा के प्रति कथन है कि इस महाकाव्य में वेदों का गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रों का सार सङ्कलित किया गया है। इसमें केवल वेदों का ही नहीं उनके तथा उपनिषदों का भी विस्तृत उल्लेख है। साथ ही इस ग्रन्थ में इतिहास और पुराणों का मन्थन करके उनका प्रशस्त

रूप प्रकट किया गया है।[49] इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा अपातकाल में राजा के धर्म तथा उत्तम ब्राह्मण के विषय में युधिष्ठिर के समक्ष चर्चा की गयी है, जिसके अनुसार, जो बुद्धिमान होकर शास्त्र को ठीक-ठीक न समझते हुए मोह में आबद्ध होकर बड़े जोश के साथ शास्त्र का प्रवचन करता है उसके उस कथन का लोक समाज में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वेदशास्त्रों के द्वारा अनुमोदित, तर्कयुक्त बुद्धि के द्वारा जो बात कही जाती है, उसी से शास्त्र की प्रशंसा होती है।[50] इस कथन से स्पष्ट होता है कि महाभारत काल में वेद-वेदा आदि शास्त्रों का प्रयोग समाज में प्रचलित था। महर्षि व्यास ने महाभारत की रचना करने हेतु वेद-उपनिषद आदि के साथ-साथ इतिहास, पुराण को भी विशेष रूप से अध्ययन किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि बिना इन सभी ग्रन्थों के अध्ययन किये काव्य रचना नहीं की जा सकती। इस सन्दर्भ में स्वयं महर्षि व्यास का कथन है कि इतिहास और पुराणों की सहायता से ही वेदों के अर्थ का विस्तार तथा समर्थन करना चाहिए।[51] इससे महर्षि व्यास की काव्यगत निपुणता का बोध होता है।

महर्षि व्यास ने महाभारत में नाना प्रकार के शास्त्रों का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में राजा जनक तथा महर्षि वशिष्ठ के मध्य दर्शनशास्त्र के प्रसङ्ग में प्रकृति-पुरूष तथा क्षर-अक्षर का उल्लेख मिलता है।[52]

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा गणतंत्र राज्य के वर्णन के सन्दर्भ में 'गणतंत्र शास्त्र' का विस्तृत उल्लेख युधिष्ठिर के समक्ष किया गया है।[53] महाभारत के आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को राजनीतिशास्त्र का उपदेश दिया गया है।[54] इस वर्णन के अनुसार दर्शनशास्त्र, गणतंत्रशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का उल्लेख महाभारत में मिलता है। इसके अतिरिक्त भी महाभारतकार ने गणितशास्त्र, वनस्पति शास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का अद्भुत उल्लेख किया है।

महाभारत में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सञ्बन्धी पुरूषार्थ चतुष्ट्य का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में महात्मा वैशञ्पायन का जनमेजय के प्रति कथन है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है जो इसमें नहीं, वह कहीं नहीं है।[55] अतः इससे स्पष्ट होता है कि काव्य रचना के हेतु के रूप में महर्षि व्यास ने अपने इस महाकाव्य में पुरूषार्थ चतुष्ट्य का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार महाभारत के शान्ति पर्व में यास्क कृत निरूक्त का भी उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार अपने नाम की व्याज़्या करते हुए श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति कथन है कि ''यास्क मुनि ने 'शिपिविष्ट' नाम से मेरी स्तुति की थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें निरूक्तशास्त्र की पुनः प्राप्ति हुयी थी।[56]

महर्षि व्यास की काव्यगत निपुणता के सन्दर्भ में अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। इस सन्दर्भ में महाभारत के आदि पर्व में स्वयं महर्षि व्यास द्वारा कहा गया है कि महाभारत देवों और मनुष्यों के सिद्धान्तों से स्वीकृत शुभ शब्दों से अलंकृत है तथा वैदिक-लौकिक-प्राकृत सङ्केतों से सुशोभित है। अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा आदि नाना प्रकार के छन्द भी इसमें प्रयुक्त हुये हैं अतः यह ग्रन्थ विद्वानों को प्रिय है तथा इसका एक-एक पद वाक्य तथा पर्व विचित्र शब्द-विन्यास और रमणीयार्थ से परिपूर्ण है जो वेदार्थ से भूषित है।[57] अतः इस विवरण से स्पष्ट होता है कि महर्षि व्यास ने इस महाकाव्य के निर्माण में अपनी अद्भुत प्रतिभा तथा निपुणता का परिचय दिया है।

आचार्य मज़्मट ने काव्य रचना हेतु शक्ति, निपुणता के साथ-साथ अज़्यास को भी अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। यहां अज़्यास से तात्पर्य है वेदों, पुराणों आदि ग्रन्थों में वर्णित शब्द, अर्थ, भाव आदि का प्रयोग करना। अर्थात् वैदिक युग के बाद के कवियों द्वारा अपनी काव्य रचना में बार-बार वैदिक शब्दार्थ तथा भाव आदि का प्रयोग किया गया है। इससे काव्य की रचना करने के लिए कवि निरन्तर प्राचीन ग्रन्थों का मनन (अन्वेक्षण) करता रहता है जोकि काव्य रचना हेतु अनिवार्य माना गया है।

'शास्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काव्यशास्त्र काव्य का नियमन करने वाला है। काव्य को कैसा होना चाहिए, कैसा नहीं होना चाहिए, कौन-सा-काव्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल है और कौन सा सफल नहीं है? इत्यादि अनेक बातों की कसौटी है-'काव्यशास्त्र'। काव्यशास्त्र ही काव्य की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का नियामक तथा अनेक कवियों-महाकवियों के काव्यों में तारतज़्य का प्रतिपादक है। इसी से उत्तम-मध्यम आदि वर्गीकरण भी बनते हैं। काव्य है-शब्द एवं अर्थ का सहभाव। सहभाव का तात्पर्य है-समान स्थिति, अर्थात् या तो शब्द एवं अर्थ दोनों की प्रधानता अथवा दोनों की अप्रधानता। जो भी हो भारतीय दर्शन के प्रभाव से अछूते न रह सकने के कारण आत्मा एवं शरीर की कल्पना के प्रभाव से उत्कर्षक तथा

अपकर्षक सभी प्रकार के तत्त्वों में गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि तथा अपकर्षक तत्त्व के रूप में दोष आदि की कल्पना की गयी है। आत्मतत्त्व अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि एवं रस आदि माने गये हैं, जिनके कारण भारतीय काव्यशास्त्र अनेक सञ्प्रदायों में विभक्त होता है। किन्तु एक सिद्धान्त दूसरे का बाधक होता है इस नियम के अनुसार पूर्व की अपेक्षा पर सिद्धान्त दूसरे का बाधक होता है। इस नियम के अनुसार पूर्व की अपेक्षा पर सिद्धान्त बलवत्तर होते है – यह विकासवादी सिद्धान्तों की परञ्परा है। अत: आधुनिक काल में रस ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित है।

रस

भारतीय काव्यशास्त्र में आरञ्भ से ही रस पर किसी न किसी रूप में विचार होता रहा है। गुण का रस के साथ सञ्बन्ध भी विभिन्न रूपों में प्रतिपादित हुआ है। कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ के माध्यम से रस पर आश्रित माना है, कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ का धर्म मानकर रस को ही गुण विशेष का अङ्ग बना दिया है तथा अन्य आचार्यों ने गुण को रस का धर्म मानकर उसे रस पर अनिवार्यत: आश्रित माना है। काव्य शास्त्र में रस का विशेष महत्व होता है। अनादिकाल से 'रस' को प्रमुख माना गया है। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय उपनिषद में स्पष्ट कहा गया है –**'रसौ वै स:।'** नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने 'रस' को ही नाट्य का आधारभूत तत्त्व माना है।[58] इसी प्रकार ध्वन्यालोक में काव्य की आत्मा ध्वनि को बताया गया है,[59] जिसमें रस, अलङ्कार तथा वस्तु तीनों को माना गया है तथा रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से मानी गयी है।[60] लोक में रति, शोक आदि स्थायी भाव को कार्य, कारण और सहचारियों को काव्य मार्ग में क्रमश: अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी भाव कहा जाता है। रसों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव को समझना आवश्यक है।

आचार्य भरत की गुण–धारणा के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि उनके दस गुण शब्द एवं अर्थ पर आश्रित है। उनके कुछ गुणों को केवल शब्दगत, कुछ को केवल अर्थगत तथा कुछ को शब्दार्थ युगलगत माना जा सकता है। इस प्रकार भरत के गुण शब्दार्थ के धर्म है, किन्तु वे प्रकारान्तर से रस पर आश्रित माने जा सकते हैं। भरत ने नाट्य–प्रयोग का मूल तत्त्व रस को माना है। रस के अभाव में उसकी सत्ता नहीं। **'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ: प्रवर्तते।'**[61] यथा –

स्थायी भाव – स्थायी भाव उसे कहते हैं जो (रति, शोक आदि) भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी तरह के भाव से विच्छिन्न नहीं हो पाता तथा दूसरे सभी प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्म रूप बना लेता है।[62] स्थायी भाव रसों के आधार पर नौ माने गये हैं, यथा – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद। कुछ विद्वानों ने शान्त रस को नवां रस नहीं माना है जैसे – आचार्य मज़्मट तथा कुछ ने शान्त रस को नवां रस स्वीकार किया है, जैसे –भरतमुनि।[63]

विभाव – विभाव शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाव्यत इति' का अर्थ है कि जिसका ज्ञान हो सके, उसे 'विभाव' कहते हैं। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है वह विभाव है। यह विभाव आलज़्बन तथा उद्दीपन भेद से दो प्रकार का होता है। जिसका आलज़्बन करके रस की उत्पत्ति होती है वे आलज़्बन विभाव कहलाते हैं। प्रत्येक रस के विभाव भिन्न–भिन्न होते हैं। अनुभाव – भरतमुनि के अनुसार, जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय द्वारा रत्यादि स्थायी भाव की अन्तर अभिव्यक्ति रूप अर्थ का बाह्य रूप में अनुभव कराता है, उसे 'अनुभाव' कहते हैं। ये रसानुभूति के बाद में होते हैं तथा रसानुभूति के कार्य होते हैं इसलिए अनुभाव कहलाते हैं। व्यभिचारी भाव – जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते, डूबते, उतराते नजर आते हैं वे व्यभिचारी भाव होते हैं। आचार्य मज़्मट ने रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में कहा है–

उक्तं हि भरतेन–विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।[64]

रस के नौ भेद होते हैं, किन्तु मज़्मट ने शान्त रस को न स्वीकार करते हुए केवल आठ ही भेद माने हैं, यथा – शृङ्गार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत।[65] महाकवि महर्षि व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' एक अतिविशिष्ट महाकाव्य है। इसमें जीवन के समस्त पक्षों के चित्रण होने से मानव जीवन की सभी सुख–दुःखमय परिस्थितियों का वर्णन है। इसमें प्रारज़्भ से अन्त तक नौ रसों का उल्लेख मिलता है। प्रमुख रूप से इसमें शान्त रस व्याप्त है तथा अन्य अङ्गी रस के रूप में वीर, करूण, भयानक आदि रसों का उल्लेख मिलता है।

1. अङ्गी रस – भरतमुनि ने शान्त रस को परिभाषित करते हुए कहा है कि – अथशान्तो नाम शमस्यायि भावात्मको मोक्षप्रवर्तकः।[66] जिसका स्थायी भाव शम है तथा जो मोक्ष का प्रवर्तक है, यह तत्त्व ज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका यम–नियम,

अध्यात्म-ज्ञान, ध्यान-धारणा, उपासना, दया, क्षमा आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए। इसमें निर्वेद स्मृति, धृति सभी आश्रमों की पवित्रता, स्तज़्भ, रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं। महाभारत का प्रधान रस शान्त रस है। इस सन्दर्भ में अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। महाभारत के आदि पर्व में महर्षि वसिष्ठ द्वारा ऋषि पराशर के समक्ष पितरों द्वारा और्व के क्रोध के निवारण की चर्चा की गयी है।[67] इस अध्याय में क्रोध को शान्त कर व्यास ऋषि ने शान्त रस का ही उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। शान्त रस के परिचायक के रूप में महाभारत में अनेक स्थानों पर धार्मिक यज्ञ-अनुष्ठानों आदि का उल्लेख किया गया है क्योंकि धार्मिक कार्य मन के शान्त होने पर तथा सर्वजन कल्याण हेतु किया जाता है। अत: महाभारत में नाना प्रकार के यज्ञों जैसे- राजसूय यज्ञ,[68] अश्वमेघ यज्ञ आदि का उल्लेख मिलता है।

इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में पञ्चशिख द्वारा मोक्ष तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।[69] जिसमें शान्त रस प्रतीत होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में इन्द्र तथा बलि के संवाद में काल तथा प्रारब्ध की महिमा का वर्णन है। जिसके अनुसार, मनुष्य काल के पाश से जकड़ा हुआ है तथा उसे सुख-दु:ख, काम, क्रोध, अज़्युदय-पराजय आदि सब कुछ काल से ही प्राप्त होता है।[70] यहां स्पष्ट रूप से वैराग्य का बोध होता है। महाभारत के पात्रों जैसे - श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, विदुर, भीष्म, नारद, व्यास आदि में शम की ही प्रधानता है। सामान्यतया महाभारतीय जीवन दर्शन में शान्त रस का ही परिपाक है। इसमें आज़्यानों तथा उपाज़्यानों के उदाहरण द्वारा मानव जीवन को दु:खमय बनाने वाली प्रवृत्तियों को त्याग देने का सर्वत्र उपदेश दिया गया है। मनुष्य को कभी तृष्णा, मोह, अहङ्कार, भोग-विलास आदि से मुक्ति नहीं मिलती। अत: महाभारत में ऐसे अनेक उदाहरण पात्रों के स्वभाव के अनुरूप स्पष्ट दिखायी देते हैं, जैसे - दुर्योधन (तृष्णा से युक्त), धृतराष्ट्र (पुत्र मोह से युक्त), विचित्रवीर्य (भोग-विलास से युक्त) आदि।

महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए अमृत वचन रूपी गीता का उल्लेख किया है जोकि शान्त रस का ही परिचायक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में अर्जुन के नाना प्रश्नों के उत्तर श्रीकृष्ण ने दिये यथा - संसार क्या है ? आत्मा-परमात्मा क्या है? यदि इसमें काल-महिमा, आत्मा का अमरत्व तथा सज़्पूर्ण विश्व को परमात्मा का रूप बताना और अन्त में श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का दर्शन - ये सभी कुछ शान्त रस का सर्वोत्तम उदाहरण

प्रतीत होते हैं।[71] इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने त्याग को परम शान्ति का उपाय बताते हुए अर्जुन से कहा है –

श्रेयो हि ज्ञानमज़्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्ये।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरज्।।[72]

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत में प्रमुख रूप से शान्त रस व्याप्त है। महाभारत के स्त्री पर्व में शान्त रस अत्यधिक भरा हुआ है। इस पर्व में व्यास ऋषि द्वारा पुत्र शोक से संतप्त हुए धृतराष्ट्र के प्रति कथन है कि जब जीव–जगत् अनित्य है, सनातन परमपद नित्य है और इस जीवन का अन्त मृत्यु में ही है, तब तुम इसके लिये शोक क्यों करते हो ?[73] इसी प्रकार विदुर द्वारा संसार रूपी वन का उल्लेख धृतराष्ट्र के समक्ष किया गया है जिसके अनुसार विद्वान पुरूष इस संसार चक्र की गति को जानते हैं, इसीलिये वे वैराग्य रूपी शस्त्र से इसके सारे बन्धनों को काट देते हैं।[74] इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्ति पर्व में बन्धु–बान्धवों के युद्ध में मारे जाने पर युधिष्ठिर को संसार से विरक्ति हो जाने का उल्लेख मिलता है।

जिसमें भीमसेन, अर्जुन आदि के समझाने पर भी वे राज्य शासन को तैयार नहीं होते हैं।[75] इस सन्दर्भ में आश्रय युधिष्ठिर हैं। उन्हें असार संसार से निर्वेद हुआ है। युद्ध की विभीषिका, युद्ध में बन्धु–बान्धवों का निधन, उत्तरादि स्त्रियों का करूण रूदन तथा अन्य जीवित स्वजनों का शोक उद्दीपन विभाव है। इसमें ईश्वर भक्ति, ज्ञान, आलज़्बन है तथा वन गमन, साधु वृत्ति को धारण करना आदि अनुभाव है और धृति, मति, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। अत: इस समस्त विवरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत में प्रमुख रूप से शान्त रस विद्यमान है। आनन्द वर्धन ने भी महाभारत में शान्त रस को अङ्गीरस के रूप में स्वीकार किया है।[76] रस गङ्गाधर के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ ने भी महाभारत में शान्त रस के अङ्गीत्व को स्वीकार किया है।[77] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाभारत को एक 'आर्ष महाकाव्य' कहते हुए उसका अङ्गीरस शान्त को बतलाया है।[78]

अङ्गरस – जीवन के समस्त पक्षों का चित्रण होने के कारण महाभारत में सभी रसों का परिपाक होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें वीर रस, करूण रस, अद्भुत रस आदि की विशेषताएँ अङ्ग रस के रूप में विद्यमान है। महाभारत में शान्त रस के पश्चात् वीर रस का प्राधान्य है। जबकि कुछ विद्वानों ने महाभारत को मूलत: वीरकाव्य कहा है।[79] महाभारत के प्रमुख

पात्र जैसे - भीष्म, द्रोण, कृष्ण, अर्जुन, भीम, कर्ण, दुर्योधन, अभिमन्यु आदि अलौकिक पराक्रम से युक्त हैं। इनके विषय में 'न भूतो न भविष्यति' कहा जाता है और जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। महाभारत के कर्ण पर्व में भीमसेन तथा अश्वथामा के युद्ध का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार संजय का धृतराष्ट्र के प्रति कथन है कि 'भयङ्कर पराक्रम दिखाने वाले ये दोनों योद्धा अद्भुत शौर्यशाली हैं। भीम का बल भयङ्कर तथा अस्त्र ज्ञान अद्भुत है।[80] महाभारत के आदि पर्व में भीम, दुर्योधन और अर्जुन के द्वारा अस्त्र कौशल के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है।[81] इसी प्रकार महाभारत में पात्रों के सन्दर्भ में उनमें निहित उत्साह, पराक्रम, शौर्य आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है जिससे वीर रस परिलक्षित होता है।

महाभारत में **श्रृङ्गार र**स का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। महाभारतकार ने प्रकृति के उद्दीपन कार्य के द्वारा नायक-नायिका के रूप-सौन्दर्य का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में पलाश, तिलक, आम, चज़्पा आदि फूल तथा फलों से युक्त वनों की शोभा, जलाशयों आदि की अद्भुत मनोहर दशा का उल्लेख माद्री तथा राजा पाण्डु के प्रेम के वर्णन में मिलता है।[82] इसी प्रकार नल-दमयन्ती उपाज़्यान में नल तथा दमयन्ती के रूप-सौन्दर्य तथा गुणों का उल्लेख मिलता है।[83]

महाभारत के आदि पर्व में राजा संवरण भी सूर्यपुत्री का अनिंद्य सौन्दर्य देखकर काम विह्वल हो गये ऐसा वर्णन मिलता है।[84] महाभारत में नारी सौन्दर्य के दोनों पक्षों, आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य दोनों का चित्रण है। इस सन्दर्भ में द्रौपदी के विषय में ब्राह्मण का पाण्डवों के प्रति कथन है कि वह जितनी तन से सुन्दर है उतनी ही मनस्विनी और तेजस्विनी भी है।[85] इस विवरण से स्पष्ट होता है कि महाभारत में कथानक के प्रवाह में श्रृङ्गार रस का भी सुन्दर तथा सजीव वर्णन किया गया है। महाभारत में अद्भुत रस का भी उल्लेख मिलता है। इसमें आदि से अन्त तक अलौकिक शक्ति तथा गुण सज़्पन्न पात्र और उनके अद्भुत कर्म वर्णित है। जिससे मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में द्रोणाचार्य द्वारा वीटा तथा अंगूठी निकालने पर पाण्डवादि के आश्चर्यचकित रह जाने का उल्लेख मिलता है।[86] यहां द्रोण द्वारा अभिमंत्रित सीकों से वीटा आदि निकालने का अद्भुत कार्य आलज़्बन, पाण्डवादि आश्रय और कुमारों के आश्चर्य से नेत्र खिलना, आश्चर्यचकित होना, प्रशंसा करना तथा परिचय पूछना आदि

अनुभाव हैं तथा हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भावों से पुष्ट विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में परिणत है।

इसी प्रकार भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण के विराट रूप के दर्शन होने पर अर्जुन के आश्चर्यचकित रहने का उल्लेख मिलता है।[87] यहां श्रीकृष्ण का विराट अद्भुत रूप आलम्बन और अर्जुन आश्रय है। अर्जुन उस विराट रूप को देखकर विस्मित हो गये। उनके रोएं खड़े होना, हाथ जोड़कर प्रणाम करना, स्तुति करना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि संचारी भाव से पुष्ट विस्मय-स्थायी भाव रस रूप में परिणत है।

महर्षि व्यास ने महाभारत में करूण रस की सुन्दर मार्मिक अभिव्यंजना व्यक्त की है। इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से करूण रस की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में स्त्री पर्व में शोक का ही प्राधान्य मिलता है। इसमें महाभारत के युद्ध में वीरों की मृत्यु के कारण उनकी पत्नियों का करूण-रूदन है तथा वहां शोकाकुल गान्धारी के हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति है।[88] इसी प्रकार आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र का मृत बान्धवों के शोक से दु:खी होकर विलाप करने का उल्लेख मिलता हे तथा वन में कुन्ती, धृतराष्ट्र आदि के अग्नि में जलकर मर जाने पर युधिष्ठिर आदि के शोक की हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है।[89] इसी प्रकार अनेक वृतान्त महाभारत में मिलते हैं जिनसे करूण रस की अभिव्यक्ति होती है।

महाभारत में रौद्र रस का उल्लेख पात्रों के क्रोध की प्रचण्डता के सन्दर्भ में मिलता है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इस सन्दर्भ में महाभारत के सभा पर्व में दुर्योधन द्वारा द्रौपदी का अपमान किये जाने पर भीम के क्रोध की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। जिसके अनुसार क्रोध के कारण भीम की आंखें लाल हो गयीं तथा उसने दुर्योधन के विषय में भरी सभा में यह वचन बोला कि ''यदि मैं तेरी इस जंघा को अपनी गदा से न तोड़ डालूं तो मुझको अपने पूर्वजों के साथ उन्हीं के समान पुण्य लोकों की प्राप्ति न हो।[90] यहां आलम्बन दुर्योधन तथा आश्रय भीम है। क्रोध से आंखें लाल होना, अपनी प्रतिज्ञा सभा को सुनाना आदि अनुभवों से स्थायी भाव क्रोध की अभिव्यक्ति है। यहां उग्रता, आवेग आदि से परिपुष्ट रौद्र रस है।

महाभारत में वीर पात्रों के कार्य न केवल विस्मित करने वाले हैं, अपितु भयोत्पादक भी हैं। अत: महाभारत में भयानक रस का भी उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व में अर्जुन द्वारा सेना पर आक्रमण करने से उनकी सेना तथा वाहनों में भय की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।

जिसके अनुसार, अर्जुन के द्वारा देवदत्त नामक शंख वादन से घोर शब्द सज़्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो गया जिससे संशप्तक वीरों की सेना लोहे की प्रतिमा के समान चेतना रहित होकर युद्धभूमि में खड़ी रही। उनके घोड़े विकल होकर आंखें बहुत अधिक खोलकर देखने लगे, उनके चारों पैर सिकुड़ गये तथा वे मूत्र और रूधिर त्यागने लगे।[91] यहां अर्जुन का शंखनाद आलज़्बन तथा आश्रय संशप्तक की सेना है। घोर शब्द सुनकर सेना का स्तब्ध रह जाना, चेतनाहीन हो जाना आदि अनुभाव है तथा घोड़ों का मूत्र तथा रक्त त्यागना, चारों पैर सिकोड़ना आदि संचारी भाव है। इस तरह यहां भयानक रस की परिपुष्टि हो रही है।

महाभारत में युद्ध स्थलों पर प्राय: वीभत्स रस का बाहुल्य देखने को मिलता है। अप्रिय घिनौने पदार्थों के दर्शन तथा अप्रिय गन्ध, रस, स्पर्श आदि वस्तुओं के अनुभव करने पर वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध के उपरान्त रणभूमि के वर्णन में वीभत्स रस की पुष्टि होती है।[92] जिसमें मांसभक्षी जीव-जन्तुओं द्वारा रणभूमि में मृतकों के शरीर को क्षत-विक्षत करने तथा रूधिर पीने और चर्बी काटने तथा मृतकों के शरीरों को घसीटने आदि के वर्णन में वीभत्स रस अभिव्यक्त होता है।

यद्यपि महाभारत में शान्त रस प्रधान है फिर भी यत्र-तत्र हास्य रस के कुछ एक अंश मिल जाते हैं। किसी व्यक्ति के विकृत वेष, अलङ्कार, चंचलता, हाव-भाव आदि को देखकर हास नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है जिससे हास्य रस की पुष्टि होती है।

इस सन्दर्भ में विराट पर्व में वर्णन मिलता है जिसके अनुसार कौरव सेना को देख विराट पुत्र उत्तर के भागने पर बृहन्नला वेषधारी अर्जुन भी रथ से कूद पड़े तथा राजकुमार को पकड़ने के लिए अपनी लज़्बी चोटी हिलाते और लाल रङ्ग की साड़ी तथा दुपट्टे को लहराते हुए उसके पीछे-पीछे दौड़े। उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुन को उस रूप में देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाके मारकर हंसने लगे तथा उन्हें शीघ्र गति में दौड़ते हुए देख कौरव भी हंसने लगे।[93] यहाँ अर्जुन की विचित्र वेशभूषा तथा आधा स्त्री और आधा पुरूष का वेश, चोटी का हिलाना, साड़ी-दुपट्टे का लहराना आदि क्रियाएँ आलज़्बन हैं तथा आश्रय सैनिकगण हैं। इसप्रकार यहाँ हास्यरस की पुष्टि हो रही है। इस समस्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि

महाभारत में नाना प्रकार के रसों का उल्लेख हुआ है। अत: रसों से युक्त यह उत्तम काव्य माना जा सकता है।

गुण व अलङ्कार

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण, रीति तथा अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। गुणों के विवेचन का श्रेय भरत मुनि को प्राप्त है। यद्यपि भरतमुनि ने गुणों का विवेचन अवश्य किया है, लेकिन उनकी स्पष्ट परिभाषाएं नहीं दी हैं।[94] गुण विवेचन में सर्वाधिक महत्वर्पूण स्थान आचार्य वामन का है। उनका कथन है कि काव्य शोभा के उत्पादक धर्मों को गुण कहते हैं।[95] वामन के अनुसार, गुण कारण है, रीति कार्य है अर्थात् माधुर्यादि गुणों के कारण ही रीति वैशिष्ट्य प्राप्त करती है।[96] तथा काव्य की आत्मा रीति है।[97] अत: गुण काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं, वे काव्य के नित्य धर्म हैं और शब्दार्थ के आश्रित रहते हैं। गुणों की संज़्या भरत मुनि के अनुसार दस हैं, यथा – श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज आदि। परन्तु कुछ विद्वानों जैसे – आनन्दवर्धन, मज़्मट, विश्वनाथ आदि ने प्रमुख रूप से तीन गुण माने हैं – माधुर्य, ओज और प्रसाद।[98] अत: काव्यकारों के अनुसार माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों को निज़्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है –

(क) **माधुर्य गुण** – चित्त का द्रुतिरूप आल्हाद ही माधुर्य गुण कहलाता है।[99] यह गुण शान्त और करूण रस में अतिशय चमत्कारक होता है।

(ख) **ओज गुण** – चित्त की विस्तार रूप दीप्ति को ओज कहते हैं। यह गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस में अधिक प्रभावी होता है।

(ग) **प्रसाद गुण** – प्रसाद गुण चित्त के विकास का हेतु है। यह सर्वत्र प्रयुक्त होता है।[100] महाभारत में महर्षि व्यास ने गुणों का सुन्दर तथा अद्भुत प्रयोग किया है।

इस सन्दर्भ में महाभारत के आदि पर्व में सूर्य पुत्री तपती के सौन्दर्य को देखकर काम मोहित हुए राजा संवरण की दशा का उल्लेख किया गया है, जिसमें शृङ्गार रस से युक्त वचनों में माधुर्य गुण परिलक्षित होता है, यथा – राजा संवरण का तपती के प्रति कथन है । अत: स्पर्श वर्णों का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयोग होने से माधुर्य गुण की व्यञ्जना हो रही है। इस तरह माधुर्य गुण के अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं।

महाभारत एक महायुद्ध पर केन्द्रित कथानक है अत: इसमें वीरों के ओजपूर्ण वाक्य मिलना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में अभिमन्यु के वध के समाचार को सुनकर अर्जुन के वीरोचित वचनों में ओज गुण मिलता है, जिसके अनुसार अर्जुन का श्रीकृष्ण के प्रति कथन है कि–

ब्राह्मेणास्त्रेण चास्त्राणि हन्यमानानि संयुगे।

मया द्रष्टासि सर्वेषां सैन्धवस्याभिरक्षिणाङ्।।

शरवेगसमुत्कृत्तै राज्ञां केशव मूर्धभिः।

आस्तीर्यमाणां पृथिवीं द्रष्टासिश्वोमयाबुधि।।[101]

इस श्लोक में ट वर्ग के वर्ण णकार की आवृत्ति हुई है अत: यहां ओज गुण अभिव्यञ्जित हो रहा है। महाभारत में प्रसाद गुण सर्वत्र व्याप्त है। यह गुण सभी रसों में पाया जाता है। इस सन्दर्भ में महाभारत के सभा पर्व में द्रौपदी के वन जाने का वृतान्त मिलता है जिसमें जाती हुई द्रौपदी को देखकर कुन्ती शोकाकुल वाणी में कहती है –

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।

स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा।।[102]

यहाँ करूण रस का उल्लेख हुआ है तथा श्लोक पढ़ते ही अर्थ की प्राप्ति हो रही है। अत: यह प्रसाद गुण से युक्त है।

माधुर्य, ओज और प्रसाद व्यंजक वर्णों की योजना को ही क्रमश: उपनागरिका, परूषा और कोमलावृत्ति कहा जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार, माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त वृत्ति 'उपनागरिका' ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति 'परुषा', तथा शेष वर्णों से युक्त वृत्ति 'कोमला' कहलाती है। अत: स्पष्ट शब्दों में माधुर्य गुण, उपनागरिका वृत्ति से युक्त वैदर्भी रीति मानी गयी है, ओज गुण, परूषा वृत्ति से युक्त गौड़ी रीति मानी गयी है तथा प्रसाद गुण, कोमल वृत्ति से युक्त पाञ्चाली रीति मानी गयी है। इस दृष्टि से महाभारत में माधुर्य गुण से युक्त श्रृङ्गार रस में वैदर्भी रीति, ओज गुण से युक्त वीर रस में गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण से युक्त कहीं–कहीं रसों में पाञ्चाली रीति भी पायी जाती है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में गुण तथा रीति काव्य के अनुपम सौन्दर्याधायक तत्त्व उपस्थित हैं। अलङ्कारों को भी काव्य के

सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रमुखतया अलङ्कारों के दो रूप माने गये हैं, यथा –

(1) शब्दालङ्कार – वे अलङ्कार जो शब्द विशेष पर आश्रित होते हैं, शब्दालङ्कार कहलाते हैं, यथा– अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कार।

(2) अर्थालङ्कार – वे अलङ्कार जो शब्द विशेष पर आश्रित न होकर अर्थ विशेष पर आश्रित होते हैं, यथा – उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार। महाभारत में महाकवि व्यास ने नाना प्रकार के अलङ्कारों का सुन्दर तथा अद्भुत प्रयोग किया है। इसमें शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के प्रकारों के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं यथा –

(1) अनुप्रास अलङ्कार – 'अनुप्रास' शब्द अनु+प्र+अस्+घञ् के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – समान ध्वनियों या वर्णों की आवृत्ति। काव्य प्रकाश में अनुप्रास अलङ्कार की परिभाषा निज़वत् मिलती है – वर्ण साज्यमनुप्रास:[103] अर्थात् ''वर्णों की समानता अनुप्रास है।''

महर्षि व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' नामक महाकाव्य में शब्द सौन्दर्य अनायास ही दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में पग–पग पर अनुप्रास के सुन्दर प्रयोग दिखायी देते हैं। प्राय: प्रत्येक श्लोक में किसी न किसी शब्द या वर्ण का अनुप्रास परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में नलोपाज़्यान पर्व में वन में विलाप तथा विचरण करती हुई दमयन्ती की चर्चा करते हुए वृहश्रवामुनि का कथन है –

सुज्रू : सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना।।[104]

इस श्लोक में 'स' वर्ण की आवृत्ति अनेक बार हुई है अत: यहां अनुप्रास अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

(2) यमक अलङ्कार – वह शब्दालङ्कार जिसमें सार्थक या परस्पर भिन्न अर्थ वाले स्वरव्यञ्जन समूह की एक ही क्रम से आवृत्ति होती है।[105]

महर्षि व्यास ने गीता में विशेष रूप से यमक अलङ्कार का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में महाभारत के विराट पर्व में भीम द्वारा कीचक वध के प्रसङ्ग में वैशज़ायन का कथन है कि इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीम पराक्रम:।[106] यहां भीम शब्द की आवृत्ति हुई है। यहां एक भीम

का अर्थ पाण्डु पुत्र भीमसेन है तथा दूसरे भीम का अर्थ 'भीषण' है। यहां भीम शब्द की आवृत्ति भिन्न अर्थ में हुई है अत: यहां यमक अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

अत: इस समस्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महाभारत में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कार प्रयुक्त हुये हैं। इसी प्रकार महाभारत में अर्थों में चारूता लाने हेतु अर्थालङ्कार का भी प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। अत: उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक स्वाभावोक्ति आदि अलङ्कार अनेक स्थानों पर अनायास ही दिखायी पड़ते हैं।

उपमा अलङ्कार – उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर भी उनके साधर्ज्य का वर्णन उपमा कहलाता है।[107] महर्षि व्यास ने उपमा अलङ्कार का अत्यधिक प्रयोग महाभारत में किया है। महर्षि व्यास एक प्रकृति प्रेमी कवि प्रतीत होते हैं क्योंकि प्रकृति में जो कुछ रमणीय, भव्य, कठोर, विस्तीर्ण हैं, सभी को उन्होंने अपनी कल्पना शक्ति से समेटकर कथानक के श्लोकों में निबद्ध कर दिया है। इस ग्रन्थ में उपमा वाचक शब्दों जैसे – इव, तुल्य, सम आदि का प्रयोग मिलता है। महर्षि व्यास ने इन उपमानों का प्रयोग भिन्न–भिन्न साधारण धर्मों को ध्यान में रखकर किया है, जैसे – गम्भीरता के लिये समुद्र का, क्षमा के लिये पृथिवी का, विस्तार के लिये आकाश अथवा सागर का, तेजस्विता के लिए सूर्य आदि का उल्लेख। इस सन्दर्भ में महाभारत के वन पर्व में नल के स्वरूप के वर्णन में नल को इन्द्र के समान श्रेष्ठ, तेज में सूर्य के समान तथा दमयन्ती को लक्ष्मी देवी के समान रूपमती बताया गया है। इसी प्रकार आदि पर्व में कर्ण के पराक्रम की चर्चा में कर्ण को सिंह के समान बलशाली तथा गज के समान पराक्रमी बताया गया है।[108] अत: इस समस्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महाभारत में उपमा अलङ्कार का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इस सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य में उपमा अलङ्कार का अत्यधिक प्रयोग करने के कारण महाकवि कालिदास के लिये यह उक्ति लोक प्रसिद्ध है –उपमा कालिदासस्य[109] कालिदास कृत उपमा का एक अनुपम उदाहरण निम्नलिखित है –

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुबहुमता भव

सुतं त्वमपि समाजं सेव पुरूमवाप्नुहि।।[110]

उत्प्रेक्षा अलङ्कार – प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है।[111] महाभारत में अनेक स्थानों पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इस सन्दर्भ में विराट पर्व में सुदेष्णा द्वारा अतीव सुन्दर रूप वाली द्रौपदी के प्रति कथन है कि –

'देखो मेरे भवन में ये जो वृक्ष खड़े हैं वे भी तुझें देखकर मानो झुक रहे हैं फिर कौन पुरूष ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो।'[112] यहां उत्प्रेक्षा अलङ्कार 'मानो' शब्द से स्पष्ट हो रहा है।

रूपक अलङ्कार - उपमेय और उपमान का जो अभेद-अभेदारोप है, उसे 'रूपक' अलङ्कार कहते हैं।[113] महाभारत में कहीं-कहीं रूपक अलङ्कार के उदाहरण भी मिलते हैं। इस सन्दर्भ में आदि पर्व में उग्रश्रवा द्वारा कथन है कि 'दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्ष है तथा कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा और दु:शासन समृद्ध फल-पुष्प है और राजा धृतराष्ट्र इसके मूल हैं।[114] यहां दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि पात्रों में वृक्ष के भागों का भेदरहित आरोप किया गया है। अत: यहां रूपक अलङ्कार प्रतीत हो रहा है।

स्वभावोक्ति अलङ्कार - वह अलङ्कार जिसमें (पदार्थों जैसे कि) बालक आदि की प्रकृति सिद्ध क्रिया अथवा उनके रूप का वर्णन होता है, उसे स्वभावोक्ति अलङ्कार कहते हैं।[115] कवि, लोक के विभिन्न जीवों के स्वभाव, लक्षण आदि को देखकर अपने काव्य को स्वाभाविक रूप से वर्णन करते हैं, जिसे काव्य में महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सन्दर्भ में महर्षि व्यास ने महाभारत में व्यर्थ के आडज़्बर न करके स्वाभाविक रूप से वर्णन किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने प्रकृति के जीवों, पशु-पक्षियों की स्वाभाविक क्रियाओं और चेष्टाओं का सूक्ष्म निरीक्षण होगा। इस सन्दर्भ में महाभारत के आदि पर्व में राजा दुष्यन्त द्वारा शिकार करने के वृतान्त का उल्लेख मिलता है जिसमें वन्य पशुओं की स्वाभाविक भयसूचक चेष्टाओं का वर्णन किया गया है।[116] इनके अलङ्कारों के अतिरिक्त भी अन्य अलङ्कार महाभारत में मिलते हैं। इस समस्त विवरण के आधार पर यह प्रतीत होता है कि महाभारत में काव्य शास्त्र के समस्त तत्त्वों का उल्लेज़ महाकवि महर्षि व्यास ने किया है। अत: इसी कारण यह ग्रन्थ 'महाकाव्य' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

ध्वनि

ध्वनि-सज़्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के आरज़्भ में ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हुए उसके स्पष्टीकरण के क्रम में यह कहा है कि काव्य तत्त्व-वेत्ताओं ने प्राचीन काल से ही अविच्छिन्न रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। उन्होंने समान्नातपूर्व: के द्वारा यह इङ्गित किया है कि वे इसके सर्वप्रथम

उद्भावक नहीं है, क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ध्वनि के विभिन्न पक्षों की व्याज़्या या उद्भावना की है।[117]

ध्वनि क्या है? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि-काव्य कहलाता है। अर्थ मुज़्यतः दो प्रकार के होते हैं- १. वाच्य और २. प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलङ्कार आदि का समावेश होता है, और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का, प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए काव्य में वस्तुस्थिति को देखने की जरूरत है।

किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है, जो उसके अंगों से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है, काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि -

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[118]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलङ्कार और रीति, इन तीन सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हो चुका था। विभिन्न आचार्यों ने काव्य के इन तीन तत्त्वों में से किसी एक को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु आनन्दवर्धन ने समर्थ युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया कि ये सभी तत्त्व काव्य के अङ्गभूत हैं। केवल ध्वनि को ही सर्वव्यापक होने के कारण काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ध्वनि का मूल प्रतीयमान अर्थ है, जो कि महाकवियों की वाणी में कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रूप में काव्य में विभिन्न अङ्गों-गुण, अलङ्कार आदि से भिन्न होकर शोभायमान होता है।[119] यही अर्थ आदिकवि वाल्मीकि की वाणी में काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ था जबकि उनका क्रौञ्च युगल के वियोग से उत्पन्न शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया था। **'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।'**[120]

ध्वनिकार के मत से यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है-रस, अलङ्कार और वस्तु।[121] इसी आधार पर ध्वनिकार ने ध्वनि के भी तीन भेद किये - रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि

और वस्तुध्वनि। इन तीनों में उन्होंने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया। महाकवियों की रचनाओं से विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत करके ध्वनिकार ने इस प्रतीयमान अर्थ के द्वारा काव्य के चारुत्व का प्रतिपादन किया था।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए भी और उसको काव्य में सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए भी ध्वनिकार ने अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति आदि तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की। काव्य में उनका भी उचित स्थान निर्धारित किया गया। परन्तु ध्वनिकार का मत था कि ये सभी तत्त्व काव्य में ध्वनि के उत्कर्षक के रूप में रहते हैं। उन्होंने काव्य में ध्वनि को केन्द्रबिन्दु माना और गुण, अलङ्कार आदि का विधान इनके उपकारक के रूप में किया।

आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनिकार के नाम से स्मरण किया जाता है और उनको ध्वनि के प्रतिष्ठाता का प्रशंसनीय पद प्राप्त है। परन्तु प्राचीन प्रमाणों से यह भी पुष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी समालोचकों ने ध्वनि को काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया था।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि विद्वज्जन ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर चुके हैं।[122] इस कथन में 'बुधैः' पद के बहुवचन से यह स्पष्ट है कि यह प्रतिपादन किसी एक ही विद्वान् ने नहीं किया था, अपितु अनेक विद्वानों ने किया था। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या में यह कहा है कि यह प्रतिपादन परम्परा से चला आ रहा था, यद्यपि किसी पुस्तक विशेष में इसको नहीं लिखा गया था।[123]

'ध्वन्यालोक' की अन्य कारिकाओं तथा उनकी वृत्ति से भी ध्वनि की यह प्राचीनता लक्षित होती है। एक स्थान पर ध्वनिकार लिखते हैं कि यदि ध्वनि का लक्षण पहले आचार्यों ने कर दिया है, तो इससे हमारे पक्ष की सिद्धि ही होगी।[124] ध्वनिकार का यह भी कथन है कि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य के निबन्धन को रस आदि की योजना के तात्पर्य से कहा था।[125] यह रसध्वनि ही है, जो कि काव्य निर्माण की कला की आत्मा है। ध्वनिकार का यह भी कथन है कि रीतिवादी आचार्यों को इस ध्वनि रूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था, परन्तु वे इस तत्त्व की समुचित रूप से व्याख्या नहीं कर सके और उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित कर दिया।[126]

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित हों, ऐसा नहीं है। महान् कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि भी इससे परिचित थे, क्योंकि

उनकी कृतियों में ध्वनि तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने पहले उसका उन्मीलन नहीं किया था।[127]

ध्वनि के आधार प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलङ्कारवादी भी परिचित थे। जिन भामह आचार्यों ने अलङ्कारों को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व माना था, उन्होंने भी अनेक अलङ्कारों में- पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया था। इसी आधार पर अलङ्कारवादियों ने ध्वनि को अलङ्कारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था। परन्तु इससे वे मुज्य समस्या का समाधान नहीं कर पाये थे।[128] उद्भट ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत्, प्रेय, ओजस्वी आदि अलङ्कारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।

समालोचकों में ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पूर्व भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी, यह तथ्य इस बात से प्रकट होता है कि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख करके इनका खण्डन किया है। 'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका में ही ध्वनिविरोधी तीन - मतों अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का एवं इनके विभिन्न पक्षों का ध्वनिकार ने उल्लेख किया है और उसके पश्चात् प्रबल युक्तियों से इनका खण्डन किया है।

ध्वनिविरोधियों के खण्डन के प्रसंग में ध्वनिकार ने किसी प्रबल ध्वनिविरोधी का एक श्लोक उद्धृत किया है।[129] अभिनवगुप्त के अनुसार इसका नाम मनोरथ था। '**अन्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाज्ञा कविना।**'[130] प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित है। 'राजतरङ्गिणी' के श्लोक ४.४९७ के अनुसार मनोरथ को राजा जयापीड का मन्त्री बताया गया है। इसके पश्चात् श्लोक ४.६७१ में यह बताया गया है कि मनोरथ ने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितादित्य का उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। अत: मनोरथ का समय ८०० ई. के लगभग रहा होगा। मनोरथ के श्लोक में ध्वनि का विरोध होने और ध्वनिविरोधियों का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से काफी पहले ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा होने लगी होगी।

यद्यपि यह निश्चित सा है कि ध्वनि के सिद्धान्त का प्रचलन आनन्दवर्धन से पूर्व ही हो गया था तथापि यह भी यथार्थ है कि इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने और निस्सन्दिग्धता से प्रतिपादित करने का कार्य आनन्दवर्धन ने ही किया था। ध्वनिकार ने पहले तो कारिकाओं में

ध्वनि का अति संक्षिप्त परिचय दिया और इसके पश्चात् वृत्ति और उदाहरणों के द्वारा इसके स्वरूप की विस्तृत व्याज़्या की। यह भी ध्वनिकार के लेखन से स्पष्ट है कि ध्वनि के मार्ग का निर्माण उन्होंने किया नहीं था, अपितु इसको दिखाया भर था तथा ध्वनि के तत्त्व की केवल व्याज़्या की थी। परन्तु उनकी यह व्याज़्या इतनी स्पष्ट एवं युक्तिसंगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार एवं ध्वन्याचार्य का प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ।

ध्वनि सज़्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं - १. ध्वनिकाव्य, २. गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ३. चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार अधिक रहता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे '**गुणीभूतीव्यङ्ग्य काव्य**' कहते हैं। चित्रकाव्य में शब्द तथा अर्थ के अलङ्कारों से ही चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है।

रीति

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति से सज़्बद्ध प्रधानत: तीन मान्यताएँ प्रचलित हैं। काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं के विकास के आदिकाल में रीति के निर्धारण का दृष्टिकोण भौगोलिक था। काव्य की देशगत पद्धतियों की रीति के निर्धारण का दृष्टिकोण भौगोलिक था। काव्य की देशगत पद्धतियों को ही रीति के रूप में समझा गया। आगे चलकर देश के साथ स्थापित काव्य परज़्परा की पद्धति समाप्त होने लगी और रीति का स्वरूप विषयगत वैशिष्ट्य के आधार पर निर्धारित होने लगा। सिद्धान्तों के उत्तरोत्तर विकास क्रम में कुन्तक की रीति सज़्बन्धी मान्यता ने विषयगत आधार छोड़कर कवि के स्वभाव से भी इसका सज़्बन्ध जोड़ लिया। वामन ने रीति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। इन सभी मान्यताओं के अन्तर्गत रीति और गुण के परस्पर सज़्बन्धों के विषय में सदैव किसी न किसी रूप में विचार किया जाता रहा है। प्रस्तुत अध्याय में रीति का गुण से क्या सज़्बन्ध है और काव्य में उनका एक-दूसरे की दृष्टि से क्या महत्त्व है - इन सब बातों पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में स्पष्ट रूप से रीतियों का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। काव्य की स्थानीय शैलियों का सङ्केत उन्होंने अवश्य किया है और इसके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह है 'प्रकृति'। उनके अनुसार भिन्न-भिन्न देशों के वेष, भाषा और आचार

आदि की वार्ता का प्रकटन करने वाले काव्यतत्व 'प्रकृति' कहे जाते हैं। भाषा की वार्ता काव्य शैली से ही सञ्बद्ध है। नाट्यप्रयोग के आधार पर आचार्य भरत ने चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है –(१) आवन्ती (२) दक्षिणात्या (३) पांचाली (४) औड्मागधी।

'चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।

आवन्ती दक्षिणात्या च पांचाली चौड्मागधी।।'[131]

निष्कर्षतः महाभारत में अनेक उदाहरण मिलते है जिसमें वेदों के अध्ययन का महर्षि व्यास द्वारा किया गया अज़्यास स्पष्ट होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में वेद पाठ हेतु प्रेरित करने के उद्देश्य से महर्षि नारद का महर्षि व्यास के प्रति कथन है कि वेद पढ़कर उसका अज़्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययन का दूषण है।[132] यहां स्पष्ट रूप से वेदों के अज़्यास की बात कही गयी है। इसी प्रसङ्ग में पुनः भीष्म का युधिष्ठिर के प्रति यह कथन मिलता है कि महर्षि व्यास तथा उनके पुत्र शुकदेव दोनों ही वेदों का अज़्यास करने लगे।[133] इसी पर्व में भीष्म द्वारा सांज़्य योग के अनुसार साधन तथा फल का वर्णन युधिष्ठिर के प्रति किया गया है जिसमें वेदों के विचित्र तथा नाना प्रकार के वचनों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें ध्यान रखना आवश्यक है।[134]

इन समस्त विवरण के आधार पर यह प्रतीत होता है कि महाभारत में काव्यशास्त्र के समस्त तत्त्वों का उल्लेख महाकवि महर्षि व्यास ने किया है। अतः इसी कारण यह ग्रन्थ 'महाकाव्य' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

सन्दर्भ

1 राजशेखर, काव्यमीमांसा, 3 की वृत्ति

2 काव्यप्रकाश, 1.1

3 मञ्मट, काव्यप्रकाश, 1,2 वृत्ति

4 अथर्ववेद, 10.8.32

5 ऋग्वेद, 5.57.9,

6 राजशेखर, काव्यमीमांसा, 2 की वृत्ति।

7 राजशेखर, काव्यमीमांसा 2, पृ. 8

8 काव्यमीमांसा, गंगासागर राय, 2, पृ. 3

9 वही, 2, पृ. 3

10 वही 2, पृ. 8

11 वही 2, पृ. 8

12 राजशेखर, काव्यमीमांसा 2, पृ. 11

13 ऋग्वेद 3.31.3

14 ऋग्वेद, 1.124.7

15 ऋग्वेद, 1.92.4

16 ऋग्वेद, 1.164.20

17 मज़्मट, काव्यप्रकाश, 10.100

18 ऋग्वेद, 10.34.1

19 ऋग्वेद, 10.34.3

20 यजुर्वेद, 17.79

21 अथर्ववेद, 1.1.1

22 अथर्ववेद, 17.8.32

23 मुण्डकोपनिषद्, 2.2.3

24 कठोपनिषद्, 1.3.3

25 भरत, नाट्यशास्त्र, 1.17

26 धनञ्जय, दशरुपक, 1.68

27 आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 1.5

28 रामायण, बालकाण्ड, 2.40

29 ध्वन्यालोक, 2.1 की वृत्ति में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण

30 महाभारत, आदिपर्व, 2.385, 2.389

31 अभिनव, ध्वन्यालोक, 3,3

32 वही, 3 की वृत्ति।

33 मज़्मट, काव्यप्रकाश, 7.65 का उदाहरण

34 सर्वेषां कविमुज़्यानामुपजीव्यो भविष्यति। - महा. भा. आदि. पर्व. 1.92

35 अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्य मानुषैः।
छन्दोवृत्तेश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियज़्।। - महा. भा. आदि पर्व. 1.28

36 महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यच्छायान्वयिनि . सूचितः। ध्वन्या. 4.5 (वृत्ति) पृ. 551

37 काव्यप्रकाश, 1.2

38 वाक्यजाति विशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः।। - महा. भा. आदि. पर्व. 1.69

39 देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः।।
भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।

स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च।। - महा. भा. आदि पर्व. 1.255-256

40 द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छतिवाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन।। - महा. भा. स्वर्गा पर्व. 5.67

41 भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः।
श्रद्धानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः।। - महा. भा. आदि. पर्व. 1.254

42 काव्यप्रकाश, 1.3

43 शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः।
यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपसहनीयं स्यात्।। - काव्यप्रकाश, पृ. 8

44 काव्यप्रकाश :एक अध्ययन, पृ. 65

45 ना नृषिः कविरित्युक्तमृषौ किलदर्शनात्।
विचित्रभाव धर्माशतत्वप्रज्या च दर्शनम् स तत्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः। - का. प्र. पृ. 14

46 संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तु भिरात्मजैः।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे।। - महा. भा. शान्ति पर्व 329.28

47 सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः।। - महा. भा. शान्ति पर्व 178.11

48 गौतमी - जाते, परिहीयते गमनवेला। - अभि. शाकु. 4, पृ. 328

49 ब्राह्मन वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
साङ्गोपाङ्गनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।।
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्। - महा. भा. आदि. पर्व. 1.62-63

50 अमर्षाच्छास्त्रसज्मोहादविज्ञानाच्च भारत।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनज्।।
आगतागमया बुद्धया वचनेन प्रशस्यते। - महा. भा. शान्ति पर्व 142. 20-21-1/2

51 इतिहासपुराणाज्यां वेदं समुपबृहयेत्।।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति। - महा. भा. आदि पर्व 1.267

52 अलिङ्गात प्रकृतिलिङ्गै रूपालज्यतिसात्मजैः।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्वं तत्वात् सनातनज्।। - महा. भा. शांति पर्व 305. 26-39

53 धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः।। - वही. 107.17

54 कौरव्य पर्युपासीथाः स्थित्वा द्वैविध्यमात्मनः।
तुष्टपुष्टबलः शत्रुरात्मवानिति च स्मरेत्।। - महा. भा. आश्रम. पर्व. 7.2

55 धर्मेचार्थे च कामे च मोक्षे च भरतवर्षम।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्।। - महा. भा. स्वर्गा पर्व 5.50

56 स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरूदारधीः।

मत्प्रसादादधो नष्टं निरूक्तमाभिजग्मिवान्।। - महा. भा. शान्ति. पर्व 342.73

57 अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्य मानुषैः।
छन्दोवृतैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम।। - महा. भा. आदि पर्व. 1.28

58 नाट्यशास्त्र, 6

59 ध्वन्यालोक, पृ. 30

60 नाट्यशास्त्र, 6

61 भरत, नाट्यशास्त्र, पृ. 62

62 दीक्षित, सरला, महाभारत का काव्य सौन्दर्य, पृ. 7

63 नाट्यशास्त्र, 6

64 काव्यप्रकाश, पृ. 66

65 शृङ्गार हास्य-करूण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
वीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः।। - का. प्र. 4.29

66 नाट्यशास्त्र, पृ. 356

67 एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरूजञ्।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः।। - महा. भा. आदि पर्व 178.7

68 महा. भा. सभा पर्व. अध्याय - 35

69 महा. भा. शान्ति पर्व. अध्याय - 219

70 अयं स पुरूषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः।।
बद्धवा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा।
लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ।
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते। – महा. भा. शान्ति. पर्व. 227.82–83

71 गीता- अध्याय 1, से 18 तक

72 गीता अध्याय 1, 12.12

73 अध्रूवे जीव लोके च स्थाने वा शाश्वते सति।
जीविते मरणान्ते च कस्माच्छोचसि भारत।। - महा. भा. स्त्री पर्व. 8.15

74 एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधाः।
येन संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधाः।। - वही 6.14

75 साधु गज़्यहं मार्ग न जातु त्वत्कृते पुनः।
गच्छेयं तदगमिष्यामि हित्वा ग्राज़्य सुखान्युत।।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत्कारण तत्ववित्।। - महा. भा. शान्ति पर्व 9.2-34

76 ध्वन्या. चतुर्थ उद्योग पृ. 1336

77 रसगङ्गाधर, पृ. 135

78 साहित्यदर्पण, पृ. 147

79 संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 105

80 अहो शौर्येण सज़्पन्नावुभौ चोग्रपराक्रमौ।
अहो भीमबलो भीम एतस्य च कृतास्त्रता।। - महा. भा. कर्ण पर्व. 15.30

81 ही वीर कुरूराजेति ही भीम इति जल्पताज्।
पुरूषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः।। - महा. भा. आदि. पर्व. 134.2

82 पलाशैस्तिलकैश्चूतेश्चज़्पकैः पारिभद्रकैः।
अन्यैश्च बहुभिवृक्षै फलपुष्पसमृद्धिभिः।।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना सज़्चोदितः।। - महा. भा. आदि पर्व. 124.3-10

83 कन्दर्पं इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयज्।
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्।। - महा. भा. वन. पर्व. 53.28-30

84 तया वद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन।। - महा. भा. आदि पर्व. 170.31

85 वेदीमध्यात्समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा।
दर्शनीयानवयाङ्गी सुकुमारी मनस्विनी।। वही 183.7 1/2 - 8 1/2

86 तदवेक्ष्यकुमारास्ते विस्मयोत्फुल्लोचनाः।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन्।।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे।। - महा. भा. आदि पर्व 130.30-34-1/2

87 अनेक वक्त्र नयनमनेकाद्भुत दर्शनज्।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधज्।।
प्रणज़्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत्।। - महा. भा. भीष्म. पर्व. 35. 10-14

88 पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषा मे निध्हतेश्वराः।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीरिव माधव।। - महा. भा. स्त्री. पर्व 16.18

89 एतच्छ्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाज्।।
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान्।
अन्वशोचन्त ते सर्वे गान्धारी च तपस्विनीज्।। - महा. भा. आश्रम. पर्व. 37.39-44-1/2

90 भीमसेनस्तामालोक्ये नेत्रे उत्फाल्य लोहिते।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयवन्निव।।
वृक्षस्येव विनिश्चेरूः कोटरेज़्यः प्रदह्यतः। - महा. भा. सभा. पर्व 71.13-15

91 स देवदत्तमादाय शंङ्खं हेमपरिष्कृतज्।
दध्मौ वेगेन महता घोषेणापूरयन् दिशः।।
वाहास्तेषां विवृत्ताक्षाः स्तब्धकर्णशिरोधराः।
विष्टब्धचरण मूत्रं रूधिरं च प्रसुस्रुवुः।। - महा. भा. द्रोण. पर्व. 18.8-10

92 अतीव हृष्टाः श्रृगालवायसा बकाः सुपर्णावृकास्तरक्षवः।

वयांस्यसृक्यपान्यथ रक्षसां गणाः पिशाचसंघासश्चसुदारूणा रणे।।

सुनन्दिताः प्राणभृतां क्षयङ्करा: समानभक्षाः श्वश्रृगालपक्षिणः।। - वही 50. 9-13

93 एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात्।

तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः।।

सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथारूपमवेक्ष्यतज्।

तं शीघ्रमभिधावन्तं सज्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन्।। - महा. भा. विरा. पर्व. 38.30-32

94 एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।

गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः।। - काव्यानुशा. अ. - 4, पृ. 292

95 काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। - काव्यानुशा. अ. - 4, पृ. 293

96 विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। - वही.

97 रीतिरात्मा काव्यस्य। - वही

98 माधुर्यौजः प्रसादास्त्रयो गुणाः। - वही 4.1

99 द्रुतिहेतुर्माधुर्यं श्रृङ्गारे।। - वही 4.2

100 दीप्तिहेतुरोजो वीरवीभत्स रौद्रेषु क्रमेणाधिकज्। -वही 4.5

101 महा. भा. द्रोण पर्व. 76. 14-15

102 महा. भा. सभा. पर्व. 79.4

103 का. प्र. उल्लास 9 पृ. 308

104 महा. भा. वन. पर्व. 64.66

105 अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकज्...।। - का. प्र. पृ. 313

106 महाभारत, विराटपर्व, 22.49

107 साधर्म्यमुपमा भेदे। — का. प्र. नवम् उल्लास पृ. 335

108 सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः।। - महा. भा. आदि. पर्व. 135.4

109 अभिज्ञान शाकुन्तलम भूमिका पृ. 64

110 वही, 4.7

111 सज्भावनाथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।। का. प्र. दशम् उल्लास पृ. 35

112 वृक्षांश्चवस्थितान् पश्ययइमे मम वेश्मनि।

तेऽपि त्वां सं नमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः।। - महा. भा. विरा. पर्व. 9.24

113 तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। - काव्यप्रकाश, दशम उल्लास पृ. 357

114 दुर्योधनोमन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।

दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।। - महा. भा. आदि. पर्व. 1.110

115 स्वभावोक्ति स्तु डिञ्मादेः स्वक्रियारूपवर्णनज्।। - काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ. 398

116 तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः।

संकोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः।।

शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु।

वन्याः गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून्।। - महा. भा. आदि. पर्व. 69.29-31

117 आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 1,1

118 वही, 1/4

119 ध्वन्यालोक, 1.4

120 वही, 1.5

121 वही, 1.4 की वृत्ति।

122 ध्वन्यालोक, 1.1 की वृत्ति।

123 वही, 1.1 पर लोचन टीका।

124 ध्वन्यालोक, 1.19

125 वही, 3.37 की वृत्ति।

126 वही, 3.47

127 वही 1.1 की वृत्ति।

128 ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति और उस पर अभिनवगुप्त की टीका।

129 ध्वन्यालोक 1.9 की वृत्ति।

130 वही, 9 पर अभिनवगुप्त की टीका

131 भरत, नाट्यशास्त्र, 13/37

132 अनाज्ञायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलज्।। - महा. भा. शान्ति पर्व 328.20

133 तयोरज्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः। - वही 328.24

134 वेदवादांस्तथा चित्रनृतूनां पर्ययांस्तथा। - वही 301, 46

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अग्निपुराण आनन्दाश्रम, पूना, 1900 (अंग्रेजी अनु.) एम.एन. दत्त कलकत्ता, 1903
2. अथर्ववेद (सं.) आर. रॉय तथा डब्ल्यू. डी. ह्वटने, बर्लिन, 1856; सायणभाष्य सहित (सं.) एस.पी.पंडित, बम्बई, 1895–98;(अंग्रेजी अनु.) ब्लूमफील्डर, एम., सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द–42, ऑक्सफोर्ड, 1987
3. अर्थशास्त्र (सं. व अंग्रेजी अनु.) आर.पी. कांगले, भाग 1–2 (द्वितीय सं.) बम्बई, 1969
4. आदिपुराण (सं.) पी.एल. जैन, वाराणसी, 1963
5. आश्वलायन श्रौतसूत्र, आर.विद्यारत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1864–74
6. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आर.गारबे द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1882
7. ईशोपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1930
8. ऐतरेय ब्राह्मण सायण–भाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1931 (अं.अनु.) ए. वी. कीथ, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, जिल्द–25, कैम्ब्रिज, 1920
9. ऋग्वेद (सं.)वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933, जिल्द–1–4, सायणभाष्य सहित (सं.) लक्ष्मणस्वरूप जिल्द 1–4, वाराणसी, 1939, (अं. अनु.) आर.टी. एच. ग्रिफिथ, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, 1976
10. कठोपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1930
11. काठक संहिता (संपादक) वान श्रेडर, लिफिंग, 1900
12. कामंदकीय नीतिसार (सं.) टी गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1912
13. कात्यायन श्रौतसूत्र, ए वेबर द्वारा संपादित, लन्दन, 1855
14. कूर्मपुराण बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, कलकत्ता, 1890
15. छान्दोग्योपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1930
16. तैत्तरीयोपनिषद्शांकर भाष्य सहित, पंचम संस्करण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1929
17. तैत्तरीय आरण्यक सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, 1897–1989
18. तैत्तरीय ब्राह्मण (सं.) एच.एन. आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, 1989, (अं.अनु.) ए.वी. कीथ, हार्वड, ओरियन्टल सीरीज, जिल्द– 18, कैम्ब्रिज
19. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्य डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1963
20. नारदस्मृति (सं.) जे. जॉली, कलकत्ता, 1882, (अं.अनु.) सैक्रेड बक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द–33, आक्सफोर्ड, 1889
21. पद्मपुराण, आनन्दाश्रम संस्करण, पूना, 1958

22. पाराशरस्मृति माधव टीका सहित (सं.) वी.एस. स्लामपुरकर, बम्बई संस्कृत सीरीज, 1893–1919, (अंग्रेजी अनु.) के. भट्टाचार्य कलकत्ता, 1887
23. बृहदारण्यकोपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1930
24. ब्राह्मणपुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं.) बम्बई, 1931
25. ब्रह्मपुराण ,आनन्दाश्रम संस्करण, 1895
26. भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1933
27. भविष्यपुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं.) बम्बई, 1950
28. भागवत पुराण, कुम्भकोणम् संस्करण, 1916
29. भागवतपुराण (गीता प्रेस सं.) गोरखपुर 1953,(अं.अनु.) एम.एन. दत्त, कलकत्ता, 1951
30. महाभारत नीलकंठ की टीका सहित (सं.) आर. किंजवाडेकर, पूणा, 1929–33, बी.ओ.आर.आई. संस्करण (सं.) वी.एस. सुकठंकर तथा अन्य, पूना, 1927–66, अनु. एम.एन.दत्ता, कलकत्ता, 1865–19.5, गीताप्रेस सं., (हि.अनु.सहित) गोरखपुर, 1968
31. मत्स्य पुराण, (संपादक) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1876
32. मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1946
33. मिताक्षरा टीका सहित, (सं.) जे.आर. घारपुरे, बम्बई, 1914, (हि.अनु.) नमेशचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी, 1977
34. मैत्रायणी उपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1954
35. याज्ञवल्क्यस्मृति (सं. व अं. अनं.) वी.एन. मांडलिक, बम्बई, 1880
36. लिंगपुराण (सं. जे. विद्यासागर, कलकत्ता, 1885, वैशेषिकचन्द्रानन्दवृत्ति, गायकावाड़ ओरयिन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1961
37. वायुपुराण वेंकटेश्वर प्रेस सं., बम्बई, 1933
38. वायु पुराण, (संपादक) एच.एन. आप्टे, 1905
39. बृहस्पति–स्मृति (सं.) के.वी. आर. आयंगर, बड़ौद, 1941, (अं.अनु. जे. जॉली, सैक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट, जिल्द–33 आक्सफोर्ड, 1889
40. विष्णु–पुराण, (संपादक) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1882
41. विष्णु–पुराण, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर सं. 2009
42. शतपथ ब्राह्मण (सं.) ए.वेबर, लंदन, 1885 सायणभाष्य सहित, (अं.अनु.) जूलियस इंगलिश, सैक्रेड, बुक्स ऑफ ईस्ट, जिल्द–44 (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, 1976
43. शान्तिपर्व बी.ओ.आर.आई. सं. पूना, 1974, गीता प्रेस सं. (हि.अनु. सहित) गोरखपुर
44. श्वेताश्वेतर उपनिषद्, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1939
45. सांख्यायन श्रौतसूत्र, हिलेब्रान्त द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1882

सहायक ग्रन्थ

46. अलंकारानुशीलन, राजवंश सहाय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1975
47. अलंकार शास्त्र का इतिहास, कृष्ण कुमार, रतिराम शास्त्री (सम्पादक), 1998
48. अलंकार शास्त्र की परम्परा, राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1975
49. अलंकार सर्वस्व, (व्याख्याकार) त्रिलोकीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1961
50. ऑन द मीनिंग ऑफ महाभारत, डॉ. वी.एस. सुकथनकर, एसियाटिक सोसायटी, ऑफ बम्बई, 1957
51. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर कृ ए. मैकडॉनल, लंदन, 1963
52. काव्यप्रकाश, मम्मट, आचार्य विश्वेश्वर, (सम्पादक) नरेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1998
53. कविराज, गोपीनाथ भारतीय संस्कृति और साधना, पटना, 1962
54. कवीश्वर, जीडब्ल्यू, द इथिक्स ऑफ द गीता, दिल्ली, 1971
55. काणे, पी.वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र जिल्द–1–5, पूना, 1962–75 तथा हिन्दी अनुवाद, भाग–1–5, लखनऊ, 1963–73
56. काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, शोभा कान्तमिश्र, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
57. काव्यमीमांसा, राजशेखर, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1916
58. काव्यादर्श, दण्डी, प्रभा टीका, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1978
59. कीथ, ए.वी. रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्, हार्वर्ड, 1925
60. क्रील, ए.बी., धर्म इन हिन्दू इथिक्स, कलकत्ता, 1977
61. गीता रहस्य, तिलक प्रथम संस्करण पूणे, 1915
62. गीता दर्पण, स्वामी श्रीराम सुखदास जी, गीता प्रेस, गोरखपुर
63. गीता मूल विष्णुसहस्रनाम सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर
64. निरुक्त, उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966
65. दि महाभारत : एनालिसिस एण्ड इन्डेक्स, राइस आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934
66. दि महाभारत : ए क्रिटिसिज्म, सी.वी. वैद्य कैम्ब्रिज एण्ड कम्पनी, बाम्बे, 1905
67. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, दधीति टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1953
68. पंचरत्न गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
69. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, शांतिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1968

70. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, रामजी उपाध्याय, देव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
71. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, डा. आलतेकर, द्वितीय संस्करण, 1959
72. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, डॉ. गजानन शर्मा रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979
73. प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रथम संस्करण, 1960
74. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास , चन्द्रबली त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाश, वाराणसी, 1967
75. भाषा विज्ञान डॉ. भोलानाथ तिवारी किताब महल, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, 1951
76. भारतीय दर्शन महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र प्रकाशक डॉ. सच्चिदानंद पाठक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978
77. महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्या (अनुवादक–पुष्पा जैन) लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
78. महाभारत के प्रमुख पात्रो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ. उमा श्रीवास्तव (अप्रकाशित) शोध प्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय, 1973
79. महाभारत की समालोचना, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1942
80. महाभारत मीमांसा, अनुवादक पं. माधवराव सप्रे, बालकृष्ण प्रकाशन, पांडुरंग ठंकार पूना, 1920
81. महाभारत मीमांसा, पं. देवीदत्त शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, 1982
82. महाभारत में धर्म, शकुन्तला तिवारी, पाटल प्रकाशन, आगरा, 1960
83. महाभारत में राज्य व्यवस्था, प्रेम कुमारी दीक्षित, अर्चना प्रकाशन, लखनऊ, 1972
84. महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनाएं, डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र, भारत मनीषा प्रेस, वाराणसी, 1972
85. महाभारत का काव्य सौन्दर्य सरला दीक्षित, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1994
86. महाभारत हिन्दी टीका सहित 1 से 6 भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर
87. महाभारतकालीन भारतीय संस्कृति डॉ. सुजाता सिन्हा, डॉ. उर्मिला सिंह, डॉ. हेमा वर्मा, विश्व भारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007
88. मैक्समूलर, दि उपनिषद्स, दो भाग (अनुवाद), आक्सफोर्ड, 1879
89. विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष, गीता प्रेस, गोरखपुर
90. वैदिक माइथालौजी, मैकडानेल, ए.ए., 1958
91. वैदिक इंडेक्स, दो भाग, मैकडानेल और कीथ, 1958

92. वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1968
93. वैदिक साहित्य का इतिहास, राममूर्ति शर्मा, एस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1972
94. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, महोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, बिहार, प्रथम संस्करण, 1960
95. शंकरानन्द, स्वामी, ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्टॉरिक इंडस, कलकत्ता, 1943–44
96. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, सुशील कुमार डे, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1977
97. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1968
98. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1968
99. संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग–3, बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, वाराणसी, 1968
100. संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ, जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा, प्रथम संस्करण, 1969
101. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पाण्डे व व्यास, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1973
102. सरस्वती कण्ठाभरण, भोज, जीवानन्द की टीका, जीवानन्द विद्या सागर, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, 1984
103. संस्कृत वाङ्मय में पर्यावरण डॉ. शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली के 80] वित्तीय सहयोग द्वारा प्रकाशित
104. संस्कृत वाङ्मये विज्ञानम् श्रीकृष्ण सेमवाल, दिल्ली संस्कृत अकादमी संस्कृत भवनम्, राजकीय सह शिक्षा, विद्यालय परिसर, वजीरपुर गांव, अशोक विहार , दिल्ली–110052
105. संक्षिप्त महाभारत प्रथम खण्ड एवं द्वितीय खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर
106. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, कलकत्ता, 1929
107. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1967
108. सुखमय भट्टाचार्य, महाभारतकालीन समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
109. हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएंट संस्कृत लिट्रेचर, मैक्समूलर, इलाहाबाद, 1912
110. हिन्दू राज्यशास्त्र , अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, प्रथम संस्करण, संवत्, 1998
111. हिन्दी महाकाव्यों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व, डॉ. ललिता प्रसाद सक्सेना, निर्मल प्रकाशन संस्थान, जयपुर, 1973

112. हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय भारतीय लोक संस्कृत शोध संस्थान वाराणसी, 1974
113. श्रीमद् भागवद्गीता महापुराण हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर
114. श्रीमद् भगवद्गीता तत्त्व विवेचन, गीता प्रेस, गोरखपुर

कोष ग्रन्थ

115. संस्कृत वाङमय कोश, डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद् 36–ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता, 1958
116. हलायुधकोष (अभिधान रत्नमाला सहित) सम्पादक , जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1879
117. दि स्टूडेन्ट्स इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, वी.एस. आप्टे, तृतीय संस्करण, 1997
118. अमरकोष निर्णय सागर, 1944
119. शब्दकल्पद्रुम, स्यार राजा राधाकान्त देव, चौखम्भा, 1956
120. वैदिक कोष, पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं श्री अनिल कुमार उपाध्याय, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1586
121. संस्कृत–प्राकृत–हिन्दी एवं अंग्रेजी शब्द–कोष, उदयचन्द जैन, न्यू भारतीय कॉरपोरेशन, दिल्ली, 2005
122. संस्कृत–हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 1958
123. हिन्दी–संस्कृत कोश, डॉ. रामस्वरूप 'रसिकेश' चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1989

पत्रिकायें

- गुरूकुल पत्रिका वर्ष 14, अंक 6, जनवरी 1962
- अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन , ब्रह्मविद्या
- कल्याण, मानवतांक, गीता प्रेस, गोरखपुर
- स्वरमङ्गला (त्रैमासिक), राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
- सागरिका, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)
- भारती मासिक, भारती भवनम्, बी-15, न्यूकॉलोनी, जयपुर 302001 (राजस्थान)
- प्राचीज्योति, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
- सारस्वती सुषमा, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
- संस्कृत सञ्मेलनम् (त्रैमासिक), मुरारका संस्कृत महाविद्यालय, पटना
- सूर्योदय (मासिक), सञ्मादक डॉ. कपिलदेव पाण्डे, भारतधर्म महामण्डल, वाराणसी
- गीर्वाणसुधा, सञ्मादक श्री एम. बेलनकर, देववाणी मन्दिर इन्द्रा निवास, मुञ्बई
- संस्कृत-मञ्जरी, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली
- मागधम्, एच.डी. जैन कॉलेज, मगध विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)